

विक्रमादित्य कथाएँ

विक्रमादित्य कथाएँ, २०१२

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

संपादक

Jhike frokjh

egkjktk foØekfnR; 'kks'ki hB] mTt&

स्वराज संस्थान संचालनालय
संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन

विक्रमादित्य कथाएँ

विक्रमादित्य कथाएँ, २०१२

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

प्रथम संस्करण—२०१२

विक्रम संवत् २०६८

संपादक

Jhike frokjh

मूल्य : १०० /—

आवरण एवं आकल्पन

e/; i n'sk ek/; e] Hkki ky

प्रकाशक

egkjktk foØekfnR; 'kks'ki hB] mTt&

स्वराज संस्थान संचालनालय

संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन

१, उदयन मार्ग, कोठी रोड, उज्जैन

enpd %

i pk; rhjkt enz kky;] mTt&

१, औद्योगिक क्षेत्र, नागझिरी, देवास रोड, उज्जैन

vuøef.kdk

i ɔjæ

dFkl fjRl kxj

विषमशीलो नामाष्टदशो लम्बकः (मूल)

विषमशील नामक अठारहवाँ लम्बक

cgRdFkle ˆtjh

विषमशील नाम दशमो लम्बकः (मूल)

विषमशील नामक दसवाँ लम्बक

i fjf'k"V&1

कथासरित्सागर

मदनमञ्चुका नाम षष्ठो लम्बकः (मूल)

मदनमञ्चुका नामक छठा लम्बक

i fjf'k"V&2

कथासरित्सागर

रत्नप्रभानाम सप्तमलम्बकः— चतुर्थस्तरङ्गः (मूल)

रत्नप्रभा नामक सप्तम लम्बक में चौथी तरंग

i"BI ǃ;k

i

15

92

158

179

196

202

207

219

i fjf'k"V&3

बृहत्कथामञ्जरी

मदनमञ्चुका नाम सप्तमलम्बके विक्रमसिंहाख्यायिका (चतुर्थी) (मूल) 229

मदनमञ्चुका नामक सातवें लम्बक में चौथी विक्रमसिंह आख्यायिका 232

i fjf'k"V&4

बृहत्कथामञ्जरी

चतुर्दशलम्बके रत्नप्रभायाम्—मदनमालाख्यायिका (मूल) 234

रत्नप्रभा नामक चौदहवें लम्बक में मदनमाला आख्यायिका 236

i fjf'k"V&5

कथा में लम्बकों का तुलनाक्रम

238



महाराजा विक्रमादित्य भारतीय अस्मिता के प्रतीक हैं। विदेशी शकों से उन्होंने भारतभूमि को मुक्ति दिलाकर नया संवत् प्रचलित किया था, जो आज विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध है। वे वीर, साहसी, विवेकी, न्यायशील, विद्वान् और ऐसे आदर्श शासक थे कि बाद के कितने ही राजा उनके नाम को अपनी उपाधि बनाकर गौरव का अनुभव करते रहे।

ऐसे गौरवशाली विक्रमादित्य सम्बन्धी कितनी ही कहानियाँ लिखित तथा वाचिक रूप में देश-विदेश में प्रचलित हैं। उनका प्रचलन ईसा की पहली सदी से ही हो गया था। उस समय की प्राकृत बृहत्कथा के उपलब्ध संस्कृत रूपांतरों में विद्यमान विक्रमादित्य सम्बन्धी सर्वप्राचीन ज्ञात कथाएँ हैं। इन प्रचलित कथाओं का हिन्दी में अनुवाद कर प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है foØekfnR; dFkk, j पुस्तक जिज्ञासुओं के लिए प्रेरणा देने का कार्य करेगी।

(लक्ष्मीकांत शर्मा)

मंत्री

संस्कृति, जनसम्पर्क, उच्च शिक्षा,
तकनीकी शिक्षा एवं प्रशिक्षण
धार्मिक न्यास और धर्मस्व
मध्यप्रदेश

पूर्वरङ्ग

उज्जैन के संवत् प्रवर्तक लोकप्रिय राजा विक्रमादित्य की प्रसिद्धि चिरकाल से है। इस बात से प्रायः पूरा विद्वज्जगत् सहमत है कि विक्रमादित्य के बाद प्रायः एक शताब्दी के भीतर गुणादय ने बृहत्कथा की रचना कर ली थी। प्राकृत भाषा में रची गई यह मूल कथा तो अब प्राप्त नहीं होती परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के उसके संस्कृत रूपान्तर प्राप्त होते हैं। उनमें विक्रमादित्य सम्बन्धी कथाओं का एक पूरा विषमशील लम्बक प्राप्त होता है। उन कथाओं के अतिरिक्त उसमें वेतालपंचविंशति की वे मूल कथाएँ भी प्राप्त होती हैं जो परवर्ती प्रसिद्ध वेतालकथाओं की आधार कथाएँ हैं। अतः विक्रमादित्य सम्बन्धी ये सर्वप्राचीन ज्ञात कथाएँ हैं। बृहत्कथा के रचनाकार गुणादय के आश्रयदाता सातवाहन राजा हाल द्वारा सम्पादित गाहासत्तसई में विक्रमादित्य की प्रशंसा (5/64) की एक गाथा है। साथ ही उसमें विक्रमादित्य द्वारा विरचित गाथाएँ भी संकलित हैं। इससे स्पष्ट है कि उससे पूर्व विक्रमादित्य के प्रशस्तिकाव्य रचे जाने लगे थे और कविजगत् में विक्रमादित्य की रचनाएँ भी लोकप्रिय थीं। टीकाकार भुवनपाल के अनुसार उस प्रशस्तिकाव्य का रचनाकार स्वयं हाल था। परन्तु पीताम्बर के अनुसार वह अन्य था।

उज्जैन के विख्यात राजा विक्रमादित्य को ईसवी की पहली शताब्दी के सातवाहनों, आठवीं सदी के प्राप्त विभिन्न अभिलेखों, दसवीं शताब्दी के बाद के जैन साहित्य तथा लोक विख्यात अनुश्रुतियों ने जितना बार-बार स्मरण कर उनकी महत्ता स्थापित की, वह अनोखी है। कृत या मालव

नामक विक्रम सम्वत् की परम्परा आज तक लोक प्रचलित है। काव्यों के साथ ही सिंहासनद्वात्रिंशिका या वेतालपंचविंशतिका जैसी लोकप्रिय रचनाओं ने तो विक्रमादित्य के विवेकशील उदात्त चरित को जन-जन में स्थापित कर दिया। इक्कीस शताब्दी प्राचीन उज्जैन के उन राजा विक्रमादित्य के अब तो कई सिक्के और एक शिलालेख भी मिल गया है। इससे तत्सम्बन्धी पुरातात्विक पुष्टि भी होती है। ईसवी पूर्व के अँवलेश्वर शिलालेख में राजा विक्रमादित्य लिखा है। ईसवी पूर्व प्रथम शती की ब्राह्मी लिपि में सिक्कों पर 'राजा विक्रम' लिखा है। एक सिक्के पर (सि)रि विक्रम और 'उजनी' लिखा है। इससे स्पष्ट है कि यह राजा ईसवी पूर्व की उज्जयिनी का विक्रम था।

आन्ध्र के सातवाहन राजाओं का पहली शताब्दी में उज्जैन तक राज्य विस्तार हो गया था। यह सम्भव है कि उस समय विक्रमादित्य की गौरवगाथा से अभिभूत होकर उनकी चरित-कथाओं का भी सातवाहन हाल के समकालीन पैशाची प्राकृत के महाकवि गुणादय ने अपनी 'वड्ढकहा' में गूँथकर उन्हें अमर कर दिया। उधर हाल ने भी अपनी संकलित गाहासत्तसई में विक्रमादित्य या उनके दूत अनंगराज की गाथाओं का संकलन किया है। उधर 'कुन्तलेश्वरदौत्य' नामक रचना भी हुई थी जिसमें विक्रमादित्य, कालिदास और कुन्तलराज के सम्बन्धों को रेखांकित किया गया है। विक्रमादित्य सम्बन्धी लोककथाएँ तथा लोकनाट्य, काव्य आदि तो विभिन्न भाषाओं में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। इनमें से कुछ प्रकाशित और बहुधा अप्रकाशित हैं। विक्रमादित्य राजा विषमशील, शकारि, साहसांक आदि उपाधियों से भी सम्बन्धित होते रहे हैं। गाहासत्तसई (5/64) में विक्रमादित्य की उदारता और दानमहिमा रेखांकित हुई है।

हाल की इस गाहासत्तसई के समय ही इस राजा के आश्रित गुणादय महाकवि ने पैशाची प्राकृत में परवर्ती ललित साहित्य का उपजीव्य 'वड्ढकहा' की रचना की जो अब उपलब्ध नहीं है। परन्तु नौवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक हुए इसके तीन छोटे-बड़े संस्कृत रूपान्तर आज उपलब्ध हैं। उन तीन में से दो में विक्रमादित्य-कथा पायी जाती है। संवत् 989 (932 ई.) में हरिषेण रचित 'बृहत्कथाकोश' में पूर्वोक्त 'वड्ढकहा' की अनेक कथाएँ प्राप्त होती हैं। छठी सदी में भी वड्ढकहा का संस्कृत रूपांतर हुआ था। गंगराज

दुर्विनीत ने यह रूपान्तर किया था। यह अब नहीं मिलता। दूसरी सदी में तमिल में चित्तलै चित्तनार ने मणिमेखलै शिलप्पडिकारम् में बृहत्कथा का कथासार प्रस्तुत कर दिया था। इससे स्पष्ट है कि उस बृहत्कथा की कहानियाँ परम्परा में अत्यन्त लोकप्रिय थीं। ये इतनी लोकप्रिय थीं कि उनमें से विक्रमादित्य सम्बन्धी कहानियाँ तो जनकथा बनकर भारत और भारतेतर देशों की लोकभाषाओं में फैल गयीं। मालवी सहित भारतीय भाषाओं तथा लोकभाषाओं में विक्रमादित्य कथाओं की प्रचुरता उसका प्रमाण है।

बारहवें लम्बक की ऐसी ही एक कहानी शूद्रक और विक्रमादित्य सम्बन्धी है जिस पर 'विक्रान्त शूद्रक' नामक नाटक भी विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी में ही कभी लिखा गया था। वह नाटक तो अब उपलब्ध नहीं है परन्तु उसके उद्धरण अवश्य प्राप्त होते हैं। वैसी ही विक्रमादित्य सम्बन्धी लोककथा मध्यप्रदेश की मालवी लोकभाषा में प्राप्त होती है। इसमें एक सैनिक ब्राह्मण परिवार राजा के प्राण बचाने के लिए अपने प्राण दे देता है। सोमदेवभट्टकृत 'कथासरित्सागर' (बृहत्कथासारसंग्रह—ग्यारहवीं सदी) में यह कहानी प्राप्त होती है। यह बृहत्कथा का संस्कृत में संक्षेप है। इसमें प्रतिज्ञा की गयी है कि इस कथा में बृहत्कथा के मूल का थोड़ा भी अतिक्रमण नहीं किया गया है। विस्तृत मूल ग्रन्थ का इसमें संक्षेप कर दिया गया है और पेशावी प्राकृत के स्थान पर संस्कृत में कथा लिखी गयी है।

; FkkyarFkōf'lu eukxl; frØe%

xJFkfoLrjI fki ek=ahkk"kk p fhk | rAA 1-1-10

ग्यारहवीं सदी में ही काश्मीर के प्रसिद्ध कवि क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामंजरी की रचना की थी और इन दोनों से पूर्व बुधस्वामी ने बृहत्कथाश्लोकसंग्रह नौवीं सदी में रचा था। इस रचना में प्रायः साढ़े चार हजार श्लोक हैं। क्षेमेन्द्र की पुस्तक में प्रायः सात हजार श्लोक हैं और सोमदेव की पुस्तक में प्रायः बाईस हजार श्लोक हैं। तब भी कवि का कहना है कि यह मूल ग्रन्थ का संक्षेप है। कथासरित्सागर में विक्रमादित्य सम्बन्धी विवरण चार स्थानों पर प्राप्त होता है। सर्वप्रथम छठे लम्बक की प्रथम तरंग में उज्जयिनी (उज्जैन) के राजा विक्रमादित्य और उनके मन्त्री अमरगुप्त की चर्चा है। सातवें लम्बक की चौथी तरंग में पाटलिपुत्र के विक्रमादित्य की प्रतिष्ठान के राजा नरसिंह से पराजय और छल से उसे वश में करने की चर्चा है।

(iii)

अठारहवाँ पूरा लम्बक उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के उदात्त चरित, वीरता और विभिन्न राज्यों पर उनके अधिकार का विवरण देता है। इन्हें विषमशील भी कहा गया है। इन्होंने ही म्लेच्छों (शकों) को पराजित किया था। इनके सेनापति विक्रमशक्ति ने दक्षिण के विभिन्न राज्यों को जीतकर विक्रमादित्य के अधीन कर दिया था। यह विक्रमादित्य किसी से भी पराजित नहीं हुए। इनका प्रभाव सर्वत्र था। इनके पिता महेन्द्रादित्य और माता सौम्यदर्शना थी। इनका प्रतीहार भद्रायुध, मंत्री महामति, दूत अनंगदेव, सभाधूर्त मूलदेव जिसका मित्र शशि या शश, सहयोगी वेताल अग्निशिख तथा राजोपायन में प्राप्त अनेक राजकुमारियाँ उनकी रानियाँ थीं। सिंहल की मदनरेखा, मलयपुर की मलयवती, दो यक्षिणी कन्याएँ, भिल्ल राजा की कन्या मदनसुन्दरी, पातालराज की कन्या सुरुपा, गन्धर्वराज की कन्या तारावली, कटाह द्वीप के गुणसागर की पुत्री गुणवती, चन्द्रशेखर की पुत्री चन्द्रवती, कलिंगराज की पुत्री कलिंगसेना आदि दस रानियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इन्हें पाने में जो अद्भुत स्थितियाँ बनीं या राजा ने जो साहस किये उनकी भी विस्तार से चर्चा है। ऐसी ही घटनाओं के विस्तार परवर्ती 'नवसाहसांकचरित' या 'पृथ्वीराजरासो' में पाये जा सकते हैं। इन कथाओं में जो अद्भुत रस भरे चमत्कार हैं वैसे चमत्कारों का हिन्दी के आरम्भिक भूतनाथ, चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता संतति जैसे उपन्यासों में आभास पाया जा सकता है। उस समय भी राजा अपने राजाधिराज के पास अपनी कन्या का उपायन या डोला भेज देते थे। यह प्रथा मध्यकाल तक प्रचलित रही।

राजा विक्रमादित्य के अधीनस्थ राजा थे गौड़ शक्तिकुमार, कर्णाट जयध्वज, लाट विजयवर्मा, काश्मीरी सुनन्दन, सिन्धुराज गोपाल, भिल्ल विन्ध्यबल, पारसीक निर्मूक आदि। सुप्रसिद्ध हाथी वाले ये वीर उनकी सेना में सम्मिलित थे— जयवर्धन, रणभट, सिंहपराक्रम और वीर विक्रमनिधि। उसी प्रकार अपने श्रेष्ठ अश्वों सहित ये वीर भी उनकी सेना में सम्मिलित थे— जयकेतु, वल्लभशक्ति, बाहु, सुबाहु, कीर्तिवर्मा, समरसिंह आदि।

मालवा और आसपास के ओंकारपीठ (ओंकारेश्वर), खण्डवटक(खण्डवा), लोहनगर (लोहाना), ब्रह्मस्थलादि नगरों और शिप्रा, नवनदी, गन्धवती, वेणा, नर्मदादि मध्यप्रदेश की नदियों की भी चर्चा हुई है।

विक्रमादित्य की कथाओं में वर्णित भद्रायुध प्रतीहार की विशेष

(iv)

उपलब्धियों की चर्चा श्यामिलक के 'पादताडितक' भाग में पायी जाती है। इसी प्रकार राजा विक्रमादित्य के धूर्त सभासद मूलदेव की चर्चा शूद्रक के 'पद्मप्राभृतक' भाग सहित परवर्ती कई ग्रन्थों में प्राप्त होती है। इस मूलदेव के मित्र शशि का शूद्रक सहित अन्य परवर्ती ग्रन्थकारों ने शश नाम बताया है। ईसवी पूर्व के पात्रखण्डों और सिक्कों पर 'मूलदेव' लिखा मिलता है। ब्राह्मी लिपि के लेखवाले ये पात्र महेश्वर के पास कसरावद और सिक्के अयोध्या से मिले हैं। प्राचीन कथाओं में उसे 'राजा' कहा गया है। शश नाम के सिक्के और शिलालेख प्राप्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों राजा विक्रमादित्य के अधीनस्थ राजा रहे होंगे। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि ये कथापात्र काल्पनिक नहीं हैं।

आज का सुप्रसिद्ध विक्रमसम्बत् इन्हीं प्रतापी विक्रमादित्य के द्वारा प्रवर्तित और उनके ही नाम पर प्रचलित है। इस सम्बत् का कृत या मालव सम्बत् भी नाम रहा। 2069 वर्ष पूर्व इसका आरम्भ विदेशी शकों पर विजय के उपलक्ष्य में किया गया था। कथासरित्सागर में उन्हें म्लेच्छ कहा गया है और यह भी बताया गया है कि इन म्लेच्छों के आतंक से पृथ्वी को मुक्ति दिलाने के लिए ही शिवजी के आदेश से उनके माल्यवान् गण ने विक्रमादित्य विषमशील नाम से जन्म लिया था।

; {kj {k%i ' kkpknhi krkykdk' kxkufi A
ohj%dfj"; fr o' ksEyPNI ?kkUgfu"; frAA
Hkfo"; R; r , oSk foØekfnR; I Kd%A
rFkk fo"ke' khy' p ukEuk oSkE; rks fj "kAA 18 |1 |38-39

ये विक्रमादित्य तेज, बल और वीर्य से सम्पन्न थे।

ईसवी पूर्व की ब्राह्मी लिपि में 'राजा विक्रम' लिखे ताँबे के सिक्के उज्जैन के महिदपुर के 'अश्विनी शोध संस्थान' में सुलभ हैं। इन पर उज्जयिनी चिह्न बना है जो ईसवी के आरम्भ तक ही बनता रहा, उसके बाद नहीं। एक सिक्के पर उज्जैनी और श्री विक्रम लिखा है। इससे स्पष्ट है कि यह राजा उज्जयिनी का प्रसिद्ध विक्रमादित्य राजा ही था। इस प्रकार राजा विक्रमादित्य के उल्लेख सहित एक पाषाण लेख मंदसौर के निकट अँवलेश्वर से भी प्राप्त हुआ है। ईसवी पूर्व की ब्राह्मी लिपि में लिखे इस लेख में जलाशय बनवाने का उल्लेख है। पहले कहा जा चुका है कि विक्रम

संवत् का नाम कृत और मालव भी था। कतस या कतस उज्जयिनी लेख वाली सीलें भी उज्जैन से प्राप्त हुई हैं। 'मालवानां गणस्य जयः' या 'मालवानां जयः' मुद्राएँ भी पर्याप्त मात्रा में सुलभ और प्रकाशित हैं।

कथासरित्सागर के बारहवें लम्बक में (8-32 तरंग) वेतालपंचविंशतिका है। बाद में वेतालपच्चीसी नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में इसने पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की है। अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थों में नायक विक्रमादित्य है। परन्तु इस पुस्तक में इसका नायक विक्रमसेन बताया गया जो गोदावरी नदी के तटवर्ती राज्य के प्रतिष्ठान (पैठन) का राजा था। वेताल को बार-बार पेड़ पर से यही लाता है। परन्तु अन्त में बताया गया है कि यही विक्रमसेन पहले शिवजी के अंश रूप विक्रमादित्य रूप में म्लेच्छ रूप में अवतीर्ण असुरों को शांत करने के लिए जन्मे थे।

RoeknsfoØekfnR; %I "Vks Hk%Loká krkse; kA

EyPN: i korh. k%Lukel jk. kai z kar; AA

v | pkskenp%kneuk; e; k i q%A

Roaf=foØel suk[; ksgjh%I "Vks = Hkai fr%AA 12 |32 | 33-34

इससे स्पष्ट होता है कि विक्रमादित्य ही भविष्य में प्रतिष्ठान का राजा त्रिविक्रमसेन हुआ। विक्रमादित्य के समान यह भी दुष्टों के दमन में निरत था। परवर्ती काल में चन्द्रगुप्त द्वितीय सहित विभिन्न राजा दुर्जन तथा विदेशियों के दमन में निरत रहने के कारण ही विक्रम, विक्रमादित्य या नवसाहसांक उपाधियाँ धारण करते रहे। चन्द्रगुप्त ने देवी चन्द्रगुप्त नाटक के अनुसार शकों को पराजित किया था। अतः विक्रम उपाधि से उसने स्वयं को अलंकृत किया। परमार सिन्धुराज ने हूणों को पराजित करके 'नवसाहसांक' उपाधि धारण की। हेमचन्द्र (हेमू) ने मुगलों को हराकर विक्रमाजीत की उपाधि धारण की। और भी कितने ही विक्रमादित्य उपाधिधारी और नामधारी राजा इतिहास में ज्ञात अज्ञात रहे।

विक्रमादित्य भारतीय अस्मिता के प्रतीक बन गये। वे भारत के गौरव माने जाने लगे। इसीलिए महत्वाकांक्षी परवर्ती अनेक राजा विक्रम या विक्रमादित्य उपाधि धारण कर स्वयं को गौरवशाली महसूस करने लगे।

ये विक्रमादित्य भारतीय अनुश्रुतियों के प्रधान नायक बन गये। विदेशों तक उनकी प्रायः डेढ़ हजार वर्ष पूर्व ही ख्याति हो गयी थी। उन

सबका उत्स गुणादय की बृहत्कथा रहा। उसके संक्षेप रूप आज सुलभ हैं। मूल न जाने कितना बड़ा था। उसमें विक्रमादित्य की गुण गरिमा निश्चय और भी विशेष रही होगी। तभी तो विक्रमादित्य की ख्याति भारत के एक आदर्श राजा के रूप में हो गयी और तभी तो वे तब से अब तक भारत के जन-जन के प्रिय महानायक हैं। उनकी प्रशस्ति उस कथासरित्सागर में इस प्रकार प्राप्त होती है—

t; futrst% kf/krHkrx.k EyBNfofi unkoXUA
 t; no | lrl kxjl heeghekfuuhukFkAA
 t; foftrl dyi kfFkb fourf' kjkskfj rkrxpkKA
 t; fo"ke'khy foØeokfjfu/ksfoØekfnR; AA 18 |3 |103—4

हे विक्रमादित्य! हे विषमशील! जय हो! जय हो विक्रमवारिनिधि! म्लेच्छ—वन के दावानल जय हो! अपने तेज से साधे आपने सब भूतगण! हे देव! आपकी जय हो! सातों सागर की सीमा वाली पृथ्वी मानवती के स्वामी! विजित समस्त राजाओं की झुकी गर्दनों ने अतिभारी आपकी आज्ञाएँ धारण कर लीं। आपकी जय हो, जय हो!

कथासरित्सागर न केवल कथाओं की सरिताओं का गन्तव्य सागर है अपितु वह भारतीय लोक के बाह्य एवं आन्तरिक समग्र वातावरण का दर्पण है। उसमें वह सब है जो भारत में पाया जाता रहा और जिस वातावरण में हमारा अतीत साँसें लेता रहा। विक्रमादित्य कथाएँ भी उसी प्रवाह का एक भाग है। उसमें अभिजात और लोक का स्वाभाविक समन्वय है।

कथासरित्सागर के बारहवें लम्बक में वेतालपंचविंशतिका (वेतालपच्चीसी) है। महाभारत के यक्षप्रश्न की तर्ज पर कथात्मक पच्चीस प्रश्नों के उत्तर त्रिविक्रमसेन विवेकपूर्ण और तर्कसंगत तथा भारतीय परंपरा का मान रखते हुए देता है। ऐसा प्रतीत होता है ये पच्चीस केस हिस्ट्री हैं, पच्चीस फाइलें हैं और न्यायाधीश त्रिविक्रमसेन एक—एक को सुनकर उनके तत्काल फैसले सुनाता जाता है। वेतालपच्चीसी संस्कृत सहित विभिन्न भाषाओं में थोड़े—बहुत बदलते रूपों में लोकप्रसिद्ध है और जनता में भिन्न—भिन्न आकार प्रकार की प्रचलित हैं। अतः उनका पृथक् से तुलनात्मक अध्ययन होना अपेक्षित है। इसलिए यहाँ उसका संकलन नहीं करते हुए पृथक् से संकलन किया गया है।

उधर क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी के विक्रमादित्य सम्बन्धी प्रसंगों का संकलन अध्ययन भी अपेक्षित है। 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में बृहत्कथा की कुछ कथाएँ ही सुलभ हैं। उन सुलभ कथाओं में विक्रमादित्य—कथाएँ नहीं हैं। स्वभावतः इस संकलन में उस ग्रन्थ का समावेश आवश्यक नहीं रहा। यों तो पूरी पुस्तक में इसे कथासरित्सागर कहा गया परन्तु ग्रन्थ के अन्त में इसे 'बृहत्कथासारसंग्रह' कहा गया है।

ukukdFkēre; L; cgrdFkk; k%
 l kjL; l Ttueuk&cf/ki wkpUn%
 l kēu foi djHkj xq kfkHjke&
 jkekRetu fofgr% [kyql xgks; eAA

परन्तु 'कथासरित्सागर' नाम से ही इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि है। बृहत्कथा के रचयिता गुणादय के आश्रयदाता सातवाहन हाल की गाहासत्तसई (5/64) में विक्रमादित्य की दानमहिमा वर्णित है।

l okg.kl gjl rkl ; sk nlrsk rgdjayD[keA
 pyysk foDdekBkpfjvav.kfl fD[kvafRLI kAA

इससे स्पष्ट है कि ईसवी प्रथम शती में 'विक्रमादित्यचरित' लोकप्रिय हो चुका था।

विक्रमादित्य सम्बन्धी आधार सामग्री मूल रूप में सामने लाना इस पुस्तक का प्रयोजन है। आशा है यह प्रयास विक्रमादित्य सम्बन्धी जिज्ञासाशमन में उपयोगी प्रतीत होगा।

Hkxorhyky jkt i jkgr

कथासरित्सागरः

AA fo"ke' khyksukek"Vn' kksyEcd'AA

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना—
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम् ।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते ॥

AA i fkeLrj 3x'AA

चन्द्राननार्धदेहाय चन्द्रांशुसितभूतये ।
चन्द्रार्कानलनेत्राय चन्द्रार्धशिरसे नमः ॥1॥
करेण कुञ्चितग्रेण लीलयोन्नमितेन यः ।
भाति सिद्धीरिव ददत्स पायाद्वो गजाननः ॥2॥
ततोऽसितगिरौ तत्र कश्यपस्याश्रमे मुनेः ।
नरवाहनदत्तस्तान्मुनीनेवमभाषत ॥3॥
अन्यच्च देवीविरहे नीत्वाहं सानुरागया ।
वेगवत्या यदा न्यस्तो विद्याहस्तेऽभिरक्षितुम् ॥4॥
तदा शरीरत्यागैषी विरही परदेशगः ।
वनान्ते दृष्ट्वानस्मि भ्रमन्कण्ठं महामुनिम् ॥5॥
स मां पादानतं दृष्ट्वा प्रणिधानादवेत्य च ।
दुःखितं स्वाश्रमं नीत्वा सदयो मुनिरभ्यधात् ॥6॥
सोमवंशोद्भवो वीरो भूत्वा किं नाम् मुह्यसि ।
देवादेशे ध्रुवेऽनास्था का भार्यासंगमे तव ॥7॥

असम्भाव्या अपि नृणां भवन्तीह समागमाः ।
तथा हि विक्रमादित्यकथामाख्यामि ते शृणु ॥8॥
अस्त्यवन्तिषु विख्याता युगादौ विश्वकर्मणा ।
निर्मितोज्जयिनी नाम पुरारिवसतिः पुरी ॥9॥
सतीव या पराधृष्या पदिमनीवाश्रिता श्रिया ।
सतां धीरिव धर्माद्या पृथ्वीव बहुकौतुका ॥10॥
महेन्द्रादित्य इत्यासीद्राजा तस्यां जगज्जयी ।
मघवेवामरावत्यां विपक्षबलसूदनः ॥11॥
नानाशस्त्रायुधः शौर्ये रूपे तु कुसुमायुधः ।
योऽभून्मुक्तकरस्त्यागे बद्धमुष्टिकरस्त्वसौ ॥12॥
तस्य पृथ्वीपतेभार्या नाम्नाभूत्सौम्यदर्शना ।
शचीवेन्द्रस्य गौरीव शम्भोः श्रीरिव शार्ङ्गिणः ॥13॥
महामन्त्री च सुमतिर्नाम तस्याभवत्प्रभोः ।
वज्रायुधाभिधानश्च प्रतीहारः क्रमागतः ॥14॥
तैः समं स नृपः शासद्राज्यमाराधयन्हरम् ।
नानाव्रतधरः शश्वदभवत्पुत्रकाम्यया ॥15॥
अत्रान्तरे च गीर्वाणगणसंश्रितकन्दरे ।
अन्यदिग्जयसानन्दकौबेरीहाससुन्दरे ॥16॥
स्थितं कैलासशैलेन्द्रे पुरारिं पार्वतीयुतम् ।
उपाजग्मुः सुराः सेन्द्रा म्लेच्छोपद्रवदुःस्थिताः ॥17॥
प्रणामानन्तरासीनास्ते कृतस्तुतयोऽमराः ।
पृष्ठागमनकार्यास्ते देवमेवं व्यजिज्ञपन् ॥18॥
ये त्वया देव निहता असुरा ये च विष्णुना ।
ते जाता म्लेच्छरूपेण पुनरद्य महीतले ॥19॥
व्यापादयन्ति ते विघ्नान्घ्नन्ति यज्ञादिकाः क्रियाः ।
हरन्ति मुनिकन्याश्च पापाः किं किं न कुर्वते ॥20॥
भूलोकाद्देवलोकश्च शश्वदाप्यायते प्रभो ।
ब्राह्मणैर्हुतमग्नौ हि हविस्तृप्त्यै दिवौकसाम् ॥21॥
म्लेच्छाक्रान्ते च भूलोके निर्वषट्कारमङ्गले ।
यज्ञभागादिविच्छेदाद्देवलोकोऽवसीदति ॥22॥

तदुपायं कुरुष्वत्र तं कचिदवतारय ।
 प्रवीरं भूतले यस्तान्म्लेच्छानुत्सादयिष्यति ॥23 ॥
 इति देवैः स विज्ञप्तः पुरारातिरुवाच तान् ।
 यात यूयं न चिन्तात्र कार्या भवत निर्वृताः ॥24 ॥
 अचिरेण करिष्येऽहमत्रोपायमसंशयम् ।
 इत्युक्त्वा व्यसृजद्देवान्स्वधिष्यान्यम्बिकापतिः ॥25 ॥
 गतेषु तेषु चाहूय माल्यवत्संज्ञकं गणम् ।
 सपार्वतीको भगवानेवमादिशति स्म सः ॥26 ॥
 पुत्रावतर मानुष्ये जायस्व च महापुरि ।
 उज्जयिन्यां सुतः शूरो महेन्द्रादित्यभूपतेः ॥27 ॥
 स च राजा ममैवांशस्तद्भार्या चाम्बिकांशजा ।
 तयोर्गृहे समुत्पद्य कुरु कार्यं दिवोकसाम् ॥28 ॥
 म्लेच्छान्व्यापादयाशेषांस्त्रयीधर्मविघातिनः ।
 सप्तद्वीपेश्वरो राजा मत्प्रसादाच्च भाव्यसि ॥29 ॥
 यक्षराक्षसवेताला अपि स्थास्यन्ति ते वशे ।
 भुक्त्वा मानुषभोगांश्च पुनरस्मानुपैष्यसि ॥30 ॥
 इत्यादिष्टः पुरजिता माल्यवान्यसोऽब्रवीद्गणः ।
 अलङ्घ्या युष्मदाज्ञा मे भोगा मानुष्यके तु के ॥31 ॥
 यत्र बन्धुसुहृद्भृत्यविप्रयोगाः सुदुःसहाः ।
 धननाशजरारोगाद्युद्भवा यत्र च व्यथा ॥32 ॥
 इति तेन गणेनोक्तो धूर्जटिः प्रत्युवाच तम् ।
 गच्छ नैतानि दुःखानि भविष्यन्ति तवानघ ॥33 ॥
 मत्प्रसादेन सुखितः सर्वकालं भविष्यसि ।
 इत्युक्तः शंभुना सोऽभूद्दृश्यो माल्यवांस्ततः ॥34 ॥
 गत्वा चोज्जयिनीं तस्य महेन्द्रादित्यभूभुजः ।
 देव्या ऋतुजुषो गर्भे समभूत्स गणोत्तमः ॥35 ॥
 तत्कालं च निशाकान्तकलाकलितशेखरः ।
 देवो महेन्द्रादित्यं तं नृपं स्वप्ने समादिशत् ॥36 ॥
 तुष्टोऽस्मि तव तद्राजन्स ते पुत्रो भविष्यति ।
 आक्रमिष्यति सद्दीपां पृथिवीं विक्रमेण यः ॥37 ॥

यक्षरक्षःपिशाचादीन्पातालाकाशगानपि ।
 वीरः करिष्यति वशे म्लेच्छसंघान्हनिष्यति ॥38 ॥
 भविष्यत्यत एवैष विक्रमादित्यसंज्ञकः ।
 तथा विषमशीलश्च नाम्ना वैषम्यतोऽरिषु ॥39 ॥
 इत्युक्त्वान्तर्हिते देवे प्रबुध्य स महीपतिः ।
 प्रातः स्वसचिवेभ्यस्तं हृष्टः स्वप्नं न्यवेदयत् ॥40 ॥
 तेऽपि स्वप्ने हरादेशं पुत्रप्राप्तिफलं क्रमात् ।
 तस्मै शशंसुः सचिवा राज्ञे प्रमुदितास्तदा ॥41 ॥
 तावदेत्य फलं साक्षाद्राज्ञेऽन्तःपुरचेटिकाः ।
 अदर्शयदिदं देव्यै स्वप्ने शंभुरदादिति ॥42 ॥
 ततः स राजा मुमुदे सचिवैरभिनन्दितः ।
 सत्यं मम सुतो दत्तः शर्वणेति मुहुर्वदन् ॥43 ॥
 अथ राज्ञी सगर्भा सा जज्ञे तस्योर्जितद्युतिः ।
 प्राची प्रातरिवोदेष्यत्सहस्रकरमण्डला ॥44 ॥
 चकाशे सा च कुचयोः श्यामया चूचुकत्विषा ।
 गर्भस्थस्येव सम्राजः स्तन्यरक्षणमुद्रया ॥45 ॥
 स्वप्ने सप्तापि जलधीनुत्ततार च सा तदा ।
 प्रणम्यमाना निखिलैर्यक्षवेतालराक्षसैः ॥46 ॥
 प्राप्ते च समये पुत्रं सा सूते स्म महस्विनम् ।
 नभोऽर्कणेव बालेन येनाभास्यत वासकम् ॥47 ॥
 जाते च तस्मिन्निपतत्पुष्पवृष्टिप्रहासिनी ।
 द्यौरराजत गीर्वाणदुन्दुभिध्वनिनादिनी ॥48 ॥
 क्षीबेव भूताविष्टेव वातक्षोभावृतेव च ।
 तत्कालमुत्सवानन्दव्याकुला साभवत्पुरी ॥49 ॥
 तदा च तत्राविरतं वसु राजनि वर्षति ।
 सौगतव्यतिरेकेण नासीत्कश्चिदनीश्वरः ॥50 ॥
 नाम्ना तं विक्रमादित्यं हरोक्तेनाकरोत्पिता ।
 तथा विषमशीलं च महेन्द्रादित्यभूपतिः ॥51 ॥
 गतेष्वन्येषु दिवसेष्वत्र तस्य महीभुजः ।
 सुमतेर्मन्त्रिणः पुत्रो जज्ञे नाम्ना महामतिः ॥52 ॥

क्षत्तुर्वजायुधस्यापि पुत्रो भद्रायुधोऽजनि ।
 श्रीधरोऽजायत सुतो महीधरपुरोधसः ॥53॥
 तैस्त्रिभिर्मन्त्रितनयैः सह राजसुतोऽत्र सः ।
 ववृधे विक्रमादित्यस्तेजोवीर्यबलैरिव ॥54॥
 उपनीतस्य विद्यासु गुरवो हेतुमात्रताम् ।
 ययुस्तस्याप्रयासेन प्रादुरासन्स्वयं तु ताः ॥55॥
 ददृशे स प्रयुञ्जानो यां यां विद्यां कलां तथा ।
 सैव सैवासमोत्कर्षा तस्य तज्ज्ञैरबुध्यत ॥56॥
 दिव्यास्त्रयोधिनं तं च पश्यन्राजसुतं जनाः ।
 मन्दादरोऽभूद्रामादिधनुर्धरकथास्वपि ॥57॥
 आक्रान्तोपनतैर्दत्ताः कन्या रूपवतीर्नृपैः ।
 आजहार पिता तस्य तास्ताः श्रिय इवापराः ॥58॥
 ततश्च यौवनस्थं तं विलोक्य प्राज्यविक्रमम् ।
 अभिषिच्य सुतं राज्ये यथाविधि जनप्रियम् ॥59॥
 महेन्द्रादित्यनृपतिः सभार्यासचिवोऽपि सः ।
 वृद्धो वाराणसीं गत्वा शरणं शिश्रिये शिवम् ॥60॥
 सोऽपि तद्विक्रमादित्यो राज्यमासाद्य पैतृकम् ।
 नभो भास्वानिवारेभे राजा प्रतपितुं क्रमात् ॥61॥
 दृष्ट्वैव तेन कोदण्डे नमत्यारोपितं गुणम् ।
 तच्छिक्षयेवोच्छिरसोऽप्यानमन्सर्वतो नृपाः ॥62॥
 दिव्यानुभावो वेतालराक्षसप्रभृतीनपि ।
 साधयित्वानुशास्ति स्म सम्यगुन्मार्गवर्तिनः ॥63॥
 प्रसाधयन्त्यः ककुभः सेनास्तस्य महीतले ।
 निश्चेरुर्विक्रमादित्यस्यादित्यस्येव रश्मयः ॥64॥
 महावीरोऽप्यभूद्राजा स भीरुः परलोकतः ।
 शूरोऽपि चाचण्डकरः कुभर्ताप्यङ्गनाप्रियः ॥65॥
 स पिता पितृहीनानामबन्धूनां स बान्धवः ।
 अनाथानां च नाथः स प्रजानां कः स नाभवत् ॥66॥
 श्वेतद्वीपस्य दुग्धाब्धेः कैलासहिमशैलयोः ।
 निर्माणे तद्यशो नूनमुपमानभूद्विधेः ॥67॥

एकदा च तमास्थानगतं भद्रायुधो नृपम् ।
 प्रविश्य विक्रमादित्यं प्रतीहारो व्यजिज्ञपत् ॥68॥
 प्रेषितस्य ससैन्यस्य दक्षिणाशाविनिर्जये ।
 पार्श्वं विक्रमशक्तेर्यो देवेन प्रेषितोऽभवत् ॥69॥
 स दूतोऽनङ्गदेवोऽयमागतो द्वारि तिष्ठति ।
 सद्वितीयो मुखं चास्य हृष्टं वक्ति शुभं प्रभो ॥70॥
 प्रविशत्विति राज्ञोक्ते सद्वितीयं स तत्र तम् ।
 प्रावेशयत्प्रतीहारोऽनङ्गदेवं सगौरवम् ॥71॥
 प्रविष्टः सप्रणामं च जयशब्दमुदीर्य सः ।
 उपविष्टोऽग्रतो दूतस्तेनापृच्छयत् भूभुजा ॥72॥
 कच्चिद्विक्रमशक्तिः स सेनानी कुशली नृपः ।
 कच्चिद्व्याघ्रबलाद्याश्च नृपाः कुशलिनोऽपरे ॥73॥
 अन्येषां राजपुत्राणां प्रधानानां च तद्बले ।
 कच्चिच्छिवं गजाश्वस्य रथपादातकस्य च ॥74॥
 इति भूमिभृता पृष्टोऽनङ्गदेवो जगाद सः ।
 शिवं विक्रमशक्तेश्च सैन्यस्य सकलस्य च ॥75॥
 सापरान्तश्च देवेन निर्जितो दक्षिणापथः ।
 मध्यदेशः ससौराष्ट्रः सवङ्गाङ्गा च पूर्वदिक् ॥76॥
 सकश्मीरा च कौबेरी काष्ठा च करदीकृता ।
 तानि तान्यपि दुर्गाणि द्वीपानि विजितानि च ॥77॥
 म्लेच्छसंघाश्च निहताः शेषाश्च स्थापिता वशे ।
 ते ते विक्रमशक्तेश्च प्रविष्टाः कटकं नृपाः ॥78॥
 स च विक्रमशक्तिस्तै राजभिः सममागतः ।
 इतः प्रयाणकेष्वास्ते द्वित्रेष्वेव खलु प्रभो ॥79॥
 एवमाख्यातवन्तं तं तुष्टो वस्त्रैर्विभूषणैः ।
 ग्रामैश्च विक्रमादित्यो दूतं राजाभ्यपूरयत् ॥80॥
 अथ पप्रच्छ नृपतिः स तं दूतवरं पुनः ।
 अनङ्गदेव के देशा गतेनात्र विलोकिताः ॥81॥
 त्वया कुत्र च किं दृष्टं कौतुकं भद्र कथ्यताम् ।
 इत्युक्तो भूभृतानङ्गदेवो वक्तुं प्रचक्रमे ॥82॥

इतो देवाज्ञया देव गत्वाहं प्राप्तवान्क्रमात् ।
 पार्श्वे विक्रमशक्तेस्तं सेनासमुदयं तव ।।83 ।।
 मिलितानन्तनागेन्द्रसश्रीकहरिशोभितम् ।
 समुद्रमिव विस्तीर्णं सपक्षक्ष्माभृदाश्रितम् ।।84 ।।
 उपागतश्च तत्राहं तेन विक्रमशक्तिना ।
 प्रभुणा प्रेषित इति प्रणतेनातिसत्कृतः ।।85 ।।
 तावत्तिष्ठामि विजयस्वरूपं प्रविलोकयन् ।
 सिंहलेश्वरसम्बन्धी दूतस्तावदुपागमत् ।।86 ।।
 राज्ञो हृदयभूतस्तेऽनङ्गदेवः स्थितोऽन्तिके ।
 इति मे कथितं दूतैस्त्वत्पार्श्वप्रहितागतैः ।।87 ।।
 तदेतं त्वरयानङ्गदेवं प्रहिणु मेऽन्तिकम् ।
 कल्याणमस्य वक्ष्यामि राजकार्यं हि किञ्चन ।।88 ।।
 इति स्वप्रभुवाक्यं च स दूतः सिंहलागतः ।
 मत्संनिधाने वक्ति स्म तस्मै विक्रमशक्तये ।।89 ।।
 ततो विक्रमशक्तिर्मावदद्गच्छ सत्वरम् ।
 सिंहलेशान्तिकं पश्य त्वन्मुखे किं ब्रवीति सः ।।90 ।।
 अथाहं सिंहलाधीशदूतेन सह तेन तत् ।
 अगच्छं सिंहलद्वीपं वहनेनाश्विवर्त्मना ।।91 ।।
 राजधानीं च तत्राहमपश्यं हेमनिर्मिताम् ।
 विचित्ररत्नप्रासादां गीर्वाणनगरीमिव ।।92 ।।
 तस्यां च वीरसेनं तमद्राक्षं सिंहलेश्वरम् ।
 वृतं विनीतैः सचिवैः सुरैरिव शतक्रतुम् ।।93 ।।
 स मामुपेतमादृत्य पृष्ठा च कुशलं प्रभोः ।
 राजा विश्रमयामास सत्कारेणात्र भूयसा ।।94 ।।
 अन्येद्युरास्थानगतो मामाहूय स भूपतिः ।
 युष्मासु दर्शयन्भक्तिमवोचन्मन्त्रिसंनिधौ ।।95 ।।
 अस्ति मे दुहिता कन्या मर्त्यलोकैकसुन्दरी ।
 नाम्ना मदनलेखेति तां च राज्ञे ददामि वः ।।96 ।।
 तस्यानुरूपा भार्या सा स तस्याश्चोचितः पतिः ।
 एतदर्थं त्वमाहूतस्त्वत्त्वाम्यर्थं प्रतीप्सता ।।97 ।।

गच्छ च स्वामिने वक्तुं मद्दूतेन सहाग्रतः ।
 अहं तवैवानुपदं प्रहेष्याम्यत्र चात्मजाम् ।।98 ।।
 उक्त्वेत्यानाययामास स राजा तत्र तां सुताम् ।
 भूषिताभरणाभोगां रूपलावण्ययौवनैः ।।99 ।।
 उपवेश्य च तामङ्के दर्शयित्वा जगाद माम् ।
 त्वत्स्वामिने मया दत्ता कन्येयं गृह्यतामिति ।।100 ।।
 अहं च राजपुत्रीं तां दृष्ट्वा तद्रूपविस्मितः ।
 प्रतीप्सितैषा राजार्थं मयेति मुदितोऽब्रवम् ।।101 ।।
 अचिन्तयं च नाश्चर्यविधौ तृप्यत्यहो विधिः ।
 तदुत्तमामिमां चक्रे यत्कृत्वापि तिलोत्तमाम् ।।102 ।।
 ततोऽहं सत्कृतस्तेन राज्ञा प्रस्थितवांस्ततः ।
 द्वीपाद्धवलसेनेन तद्दूतेन सहामुना ।।103 ।।
 आरुह्य वहनं चावां ब्रजावो यावदम्बुधौ ।
 तावद्द्राग्दृष्टवन्तौ स्वस्तन्मध्ये पुलिनं महत् ।।104 ।।
 तन्मध्येऽद्भुतरूपे द्वे अपश्याव च कन्यके ।
 एकां प्रियंगुश्यामाङ्गीमन्यां चन्द्रामलद्युतिम् ।।105 ।।
 स्वस्ववर्णोचितोपात्तवस्त्राभरणशोभिते ।
 सरत्नकंकणक्वाणवितीर्णकरतालिके ।।106 ।।
 प्रनर्तयन्त्यौ पुरतः क्रीडाहरिणपोतकम् ।
 अपि जाम्बूनदमयं सजीवं रत्नचित्रितम् ।।107 ।।
 तद्दृष्ट्वान्योन्यमावाभ्यां विस्मिताभ्यामभण्यत ।
 अहो किमिदमाश्चर्यं स्वप्नो माया भ्रमो नु किम् ।।108 ।।
 क्वाब्धावकाण्डे पुलिनं क्वेदृश्यौ तत्र कन्यके ।
 क्व चेद्ग्रत्नचित्राङ्गो जीवन्हेममृगोऽनयोः ।।109 ।।
 इत्यादि वदतोरेव देव साश्चर्यमावयोः ।
 वायुः प्रावर्तताकस्माद्वातुमुद्वेल्लिताम्बुधिः ।।110 ।।
 तेनास्मद्वहनं वेल्लद्वीचिन्यस्तमभज्यत ।
 मकरैर्भक्ष्यमाणाश्च ममज्जुस्तद्गता जनाः ।।111 ।।
 आवां च ताभ्यां कन्याभ्यामेत्यैवालम्ब्य बाहुषु ।
 उल्लिप्य पुलिनं नीतावप्राप्तमकराननौ ।।112 ।।

ऊर्मिभिः पूर्यमाणे च तस्मिन्रोधसि विह्वलौ ।
 आश्वास्यावां गुहागर्भमिव ताभ्यां प्रवेशितौ ॥113॥
 ततो वीक्षावहे तावदिदव्यं नानाद्रुमं वनम् ।
 नाम्भोधिर्न तटं नापि मृगशावो न कन्यके ॥114॥
 चित्रं किमेतन्मायेयं नूनं कापीति वादिनौ ।
 क्षणं भ्रमन्तौ तत्रावामपश्याव महत्सरः ॥115॥
 स्वच्छगम्भीरविस्तीर्णमाशयं महतामिव ।
 तृष्णासन्तापशमनं निर्वाणमिव मूर्तिमत् ॥116॥
 तत्र च स्नातुमायातां साक्षादिव वनश्रियम् ।
 परिवारावृतां कांचिदपश्याव वराङ्गनाम् ॥117॥
 कर्णोरथावतीर्णा च तत्रोचितसरोरुहा ।
 स्नात्वा सरस्यनुध्यानमकरोत्सा पुरद्विषः ॥118॥
 तावदुद्गम्य सरसो विस्मयेन सहावयोः ।
 साक्षादुपागान्निकटं तस्या लिङ्गाकृतिः शिवः ॥119॥
 दिव्यरत्नमयं तं सा तैस्तैः स्वविभवोचितैः ।
 अभ्यर्च्य विविधैर्भोगैर्वीणामादत्त सुन्दरी ॥120॥
 आलम्ब्य दक्षिणं मार्गं स्वरतालपदैस्तथा ।
 अवधानेन सा सम्यग्गायन्ती तामवादयत् ॥121॥
 यथा तच्छ्रवणाकृष्टहृदया गगनागताः ।
 तत्र सिद्धादयोऽप्यासन्निःस्पन्दा लिखिता इव ॥122॥
 उपसंहृतगान्धर्वा ततः शम्भोर्विसर्जनम् ।
 साकरोत्स च तत्रैव देवः सरसि मग्नवान् ॥123॥
 अथोत्थाय समारुह्य वहनं सपरिच्छदा ।
 शनैर्गन्तुं प्रवृत्ताभूत्सा ततो हरिणेक्षणा ॥124॥
 केयमित्यसकृद्यत्नादावयोः पृच्छतोरपि ।
 नोत्तरं तत्परिजनः कोऽप्यदादनुगच्छतोः ॥125॥
 ततोऽस्य सिंहलद्वीपपतिदूतस्य तावकम् ।
 प्रभावं दर्शयिष्यंस्तामित्युच्चैरहमब्रवम् ॥126॥
 भोः शुभे विक्रमादित्यदेवाङ्घ्रिस्पर्शशापिता ।
 त्वं मया यद्यनाख्याय ममात्मानं गमिष्यसि ॥127॥

तच्छ्रुत्वा परिवारं सा निवार्येवावरुह्य च ।
 वहनान्मामुपागम्य गिरा मधुरयाभ्यधात् ॥128॥
 कच्चिच्छ्रीविक्रमादित्यदेवः कुशलवान्प्रभुः ।
 किं वा पृच्छामि विदितं सर्वं मेऽनङ्गदेव यत् ॥129॥
 प्रदर्श्य मायामानीतो मयैव हि भवानिह ।
 राज्ञोऽर्थे तस्य स हि मे मान्यस्त्राता महाभयात् ॥130॥
 तदेहि मद्गृहं तत्र सर्वं वक्ष्याम्यहं तव ।
 याहं यथा च राजा मे मान्यः कार्यं च तस्य यत् ॥131॥
 इत्युक्त्वा विनयेन मुक्तवहना पद्भ्यां व्रजन्ती पथि
 प्रह्वा सा नयति स्म तौ सुवदना स्वर्गोपमं स्वं पुरम् ।
 नानारत्नविचित्रहेमरचितं द्वारेषु नानायुधै-
 र्नानारूपधरैश्च वीरपुरुषैरध्यासितं सर्वतः ॥132॥
 तत्रावृते वरवधूभिरशेषदिव्यभोगौघसिद्धिभिरिवाकृतिशालिनीभिः ।
 स्नानानुलेपनसदम्बरभूषणैर्नो संमान्य विश्रमयति स्म च साम्प्रतं सा ॥133॥

AA bfr egkdfolJhl kenohkV/foj fprsdFkl fjRl kxjsfo"ke'khyyEcds
 i fkeLrj 3x%AA

AA f}rh; Lrj 3x%AA

इत्युक्त्वा विक्रमादित्यदेवायास्थानवर्तिने ।
अनङ्गदेवः पुनरप्येवं कथयति स्म सः ॥1॥
ततो भुक्तोत्तरं सा मां सखीमध्यस्थिताब्रवीत् ।
अनङ्गदेव सर्वं ते कथयाम्यधुना शृणु ॥2॥
एषाहं धनदभ्रातुर्मणिभद्रस्य गेहिनी ।
दुन्दुभेर्यक्षराजस्य सुता मदनमञ्जरी ॥3॥
साहं तीरेषु सरितां शैशेषूवनेषु च ।
मनोहरेषु व्यहरं भर्त्रा सह सुखं सदा ॥4॥
एकदा च गताभूवमुज्जयिन्यामहं किल ।
उद्यानं मकरन्दाख्यं विहर्तुं वल्लभान्विता ॥5॥
तत्र दैवादुषस्येकः खण्डकापालिकाधमः ।
विहारश्रमसंसुप्तप्रबुद्धां पश्यति स्म माम् ॥6॥
स कावशगः पापो भार्यात्वे होमकर्मणा ।
मन्त्रेण मां साधयितुं प्रावर्तिष्ट श्मशानगः ॥7॥
तदहं स्वप्रभावेण बुद्ध्वा भर्त्रे न्यवेदयम् ।
तेनाप्यावेदितं भ्रातुर्ज्यायसो धनदस्य तत् ॥8॥
धनाध्यक्षेण गत्वा च विज्ञप्तः कमलोद्भवः ।
स चापि भगवानेवं ब्रह्मा ध्यात्वा तमभ्यधात् ॥9॥
सत्यं स भातृजायां ते कपाली हर्तुमुद्यतः ।
यक्षसाधनमन्त्राणां शक्तिस्तेषां हि तादृशी ॥10॥
तया तु विक्रमादित्यो मन्त्रेणाकृष्यमाणया ।
आक्रन्दनीयो नृपतिः स रक्षिष्यति तां ततः ॥11॥
एतद्ब्रह्मवचोऽभ्येत्य मद्भर्त्रे धनदोऽब्रवीत् ।
मद्भर्ता मह्यमाह स्म कुमन्त्रचकितात्मने ॥12॥
तावच्च क्रमसिद्धेन मन्त्रेणाकृष्टवान्स माम् ।
होमं कुर्वञ्श्मशानस्थः खण्डकापालिकः स्वतः ॥13॥
अहं च मन्त्राकृष्टा तद्वित्रस्ता पितृकाननम् ।
प्रापमस्थिकपालाढ्यं भैरवं भूतसेवितम् ॥14॥
तत्रापश्यं च तं दुष्टकापालिकमहं तदा ।
हुताग्निमर्चितोत्तानशवाधिष्ठितमण्डलम् ॥15॥

स च कापालिकः प्राप्तां दृष्ट्वा मां दर्पमोहितः ।
अगात्कथंचिदाचान्तुं नदीं दैवाददूरगाम् ॥16॥
तत्क्षणं संस्मृतब्रह्मवचनाहमचिन्तयम् ।
किं नाक्रन्दामि राजानं स रात्रौ जात्विह भ्रमेत् ॥17॥
इत्येतच्चिन्तयित्वाच्चैस्तत्राक्रन्दितवत्यहम् ।
परित्रायस्व मां देव विक्रमादित्य भूपते ॥18॥
जगद्रक्षामणे पश्य बलात्कुलवधूं सतीम् ।
गृहिणीं मणिभद्रस्य धनाध्यक्षानुजन्मनः ॥19॥
दुन्दुभेस्तनयां यक्षीं नाम्ना मदनमञ्जरीम् ।
कापालिकोऽयं त्वद्राज्ये मां ध्वंसयितुमुद्यतः ॥20॥
इत्याक्रन्दितवत्येव ज्वलन्तमिव तेजसा ।
कृपाणपाणिमायान्तं तमद्राक्षमहं नृपम् ॥21॥
स च मामवदद्भद्रे मा भैषीर्निर्वृता भव ।
अहं कापालिकादस्माद्रक्षामि भवतीं शुभे ॥22॥
को हि राज्ये ममाधर्ममीदृशं कर्तुमीश्वरः ।
इत्युक्त्वाग्निशिखं नाम बेतालं स समाह्वयत् ॥23॥
स चाहूतो ज्वलन्नेत्रः पांशुरुर्ध्वशिरोरुहः ।
उपेत्यैवाब्रवीद्भूपं किं करोम्यादिशेति तम् ॥24॥
अथ राजाब्रवीदेष परदारापहारकृत् ।
पापः कापालिको हत्वा भवता भक्ष्यतामिति ॥25॥
ततः सोऽग्निशिखस्तस्मिञ्शवेऽर्चामण्डलस्थिते ।
प्रविश्याधावदुत्थाय प्रसारितभुजाननः ॥26॥
अग्रहीज्जङ्घयोः पश्चात्तं चाचान्तपरागतम् ।
कापालिकं स वेतालः पलायनपरायणम् ॥27॥
नभसि भ्रामयित्वा च क्षिप्रमास्फोट्य च क्षितौ ।
देहं मनोरथं चैव सममस्य व्यचूर्णयत् ॥28॥
हतं कापालिनं दृष्ट्वा भूतेष्वामिषगर्धिषु ।
आगाद्यमशिखो नाम वेतालस्तत्र दुर्मदः ॥29॥
एत्यैव तदगृह्णात्स कापालिककलेवरम् ।
ततः सोऽग्निशिखः पूर्वं वेतालस्तमभाषत ॥30॥

अरे श्रीविक्रमादित्यदेवस्यादेशतो मया ।
 कापालिकोऽयं निहतो दुराचार त्वमस्य कः ॥31॥
 एतच्छ्रुत्वा यमशिखः प्राह त्वं ब्रूहि तर्हि मे ।
 किंप्रभावः स राजेति ततः सोऽग्निशिखोऽब्रवीत् ॥32॥
 तत्प्रभावं न चेद्वेत्सि तदहं शृणु वच्मि ते ।
 इहाभूड्डाकिनेयाख्यः सुधीरः कितवः पुरि ॥33॥
 स जातु हृतसर्वस्वः कितवैर्द्यूतमायया ।
 अधिकावर्जितान्यार्थनिमित्तं तैरबध्यत ॥34॥
 अस्वत्वादददन्तं च तैरेव लगुडादिभिः ।
 ताड्यमानोऽवतस्थे च ग्रावभूतो मृतो यथा ॥35॥
 ततः स सभ्यैः सर्वैस्तैर्नीत्वा पापैः स चिक्षिपे ।
 महान्धकूपे सम्भाव्य जीवतोऽस्मात्प्रतिक्रियाम् ॥36॥
 स च तत्रातिगम्भीरे कितवो डाकिनेयकः ।
 कूपे भ्रष्टो ददर्शोऽग्रौ महान्तौ पुरुषावुभौ ॥37॥
 तौ च तं पतितं साम्ना दृष्ट्वा भीतमपृच्छताम् ।
 कस्त्वं कुतश्च कूपेऽस्मिन्पतितोऽस्युच्यतामिति ॥38॥
 अथाश्वस्य स्ववृत्तान्तं द्यूतकारो निवेद्य सः ।
 तावप्यपृच्छद्ब्रूतं मे कौ कुतश्च युवामिह ॥39॥
 तच्छ्रुत्वा तौ जगदतुः पुरुषाववटस्थितौ ।
 आवामस्याः पुरो भद्र श्मशाने ब्रह्मराक्षसौ ॥40॥
 अगृहणीव च तावावामिहैव पुरि कन्यके ।
 मुख्यमन्त्रिसुतामेकामन्यां मुख्यवणिक्सुताम् ॥41॥
 न च मोचयितुं कश्चित्ते शक्नोति स्म कन्यके ।
 मान्त्रिको दीप्तमन्त्रोऽपि पृथ्व्यामस्मत्सकाशतः ॥42॥
 बुद्ध्वाथ विक्रमादित्यदेवस्तत्पितृवत्सलः ।
 तत्रागाद्यत्र कन्ये ते पित्रोः सख्यात्सह स्थिते ॥43॥
 तं दृष्ट्वैव नृपं मुक्त्वा कन्यके ते पलायितुम् ।
 इच्छन्तावपि नैवावां ततो गन्तुमशक्नुवः ॥44॥
 आपश्याव दिशः सर्वा ज्वलन्तीस्तस्य तेजसा ।
 ततोऽबध्नात्स नृपतिर्दृष्ट्वा नौ स्वप्रभावतः ॥45॥

जातमृत्युभयो दीनो वीक्ष्य चैवं समादिशत् ।
 भोः पापावन्धकूपान्तर्वसतं वत्सरावधि ॥46॥
 मुक्ताभ्यां च ततः कार्यं भवद्भ्यां नेदृशं पुनः ।
 करिष्यतश्चेत्तदहं निग्रहीष्यानि वां ततः ॥47॥
 इत्यादिश्यान्धकूपेऽत्र तेनावां क्षपिताविमौ ।
 राज्ञा विषमशीलेन कृपया न विपादितौ ॥48॥
 अष्टभिर्दिवसैः कूपनिवासस्यास्य चावयोः ।
 अवधिः पूर्यते वर्षादितो मुच्यावहे ततः ॥49॥
 तद्भक्ष्यं किञ्चिदेतानि यद्यहानि ददासि तौ ।
 तदुद्धृत्यामुतः कूपात्त्वां क्षिपावो बहिः सखे ॥50॥
 अङ्गीकृत्य न चेद्वास्यस्यावाभ्यां भक्ष्यमुद्धृतः ।
 ततस्त्वां भक्षयिष्यावो निश्चितं निर्गतावितः ॥51॥
 इत्युक्त्वा ब्रह्मरक्षोभ्यां ताभ्यां स कितवस्ततः ।
 तथेति प्रतिपन्नार्थः कूपाद्बहिरुदस्यत ॥52॥
 स कूपादुदगतोपश्यंस्तदर्थप्राप्तिमन्यथा ।
 पणायितुं महामांसं श्मशानं प्राविशन्निशि ॥53॥
 तत्कालं तिष्ठता तत्र स दृष्टः कितवो मया ।
 गृह्णातु कश्चिद्विक्रीणे महामांसमिति ब्रुवन् ॥54॥
 अहं गृह्णामि किं मूल्यं मार्गसीत्युदिते मया ।
 रूपप्रभावौ स्वौ देहि मह्यमित्यब्रवीच्च सः ॥55॥
 वीर किं कुरुषे ताभ्यामित्युक्तश्च मया पुनः ।
 उक्त्वा कृत्स्नं स्ववृत्तान्तमेवं स कितवोऽभ्यधात् ॥56॥
 तत्त्वद्रूपप्रभावाभ्यां तानाकृष्य ददाम्यहम् ।
 कितवान्ब्रह्मरक्षोभ्यां भक्ष्यं सभ्ययुतानरीन् ॥57॥
 तच्छ्रुत्वा धैर्यतुष्टेन तस्मै द्यूतकृते मया ।
 दत्तौ रूपप्रभावौ स्वावाभाष्य दिनसप्तकम् ॥58॥
 ताभ्यामाकृष्य कूपे तान्क्रमात्क्षिप्त्वापकारिणः ।
 नयति स्म स सप्ताहाद्ब्रह्मरक्षसभक्ष्यताम् ॥59॥
 ततो मया स्वीकृतयोः स्वयो रूपप्रभावयोः ।
 सोऽब्रवीड्डाकिनेयो मां द्यूतकारो भयाकुलः ॥60॥

नाद्य दत्तं मया भक्ष्यमष्टमं तदहस्तयोः ।
 तन्मां निर्गत्य तौ ब्रह्मराक्षसौ भक्षयिष्यतः ॥61॥
 तदत्र किं मया कार्यं ब्रूहि मित्रं हि मे भवान् ।
 इत्युक्तवन्तं तमहं संस्तवप्रीतितोऽब्रुवम् ॥62॥
 यद्येवं तत्त्वया ताभ्यां राक्षसाभ्यां हि खादिताः ।
 कितवास्ते तवार्थं तौ राक्षसावदम्यहं पुनः ॥63॥
 तत्तौ दर्शय मे मित्रेत्युक्तवांस्तेन तत्क्षणम् ।
 नीतस्तत्कूपनिकटं कितवेन तथेत्यहम् ॥64॥
 अवाङ्मुखश्च यावत्तं कूपं पश्याम्यशङ्कितः ।
 तावत्तेनास्मि दत्वार्धचन्द्रं क्षिप्तस्तदन्तरे ॥65॥
 कूपान्तः पतितस्याथ रक्षोभ्यां भक्ष्यबुद्धितः ।
 गृहीतस्य समं ताभ्यां बाहुयुद्धमभून्मम ॥66॥
 यदातिवर्तितुं बाहुबलं नाशक्नुतां मम ।
 युद्धं त्यक्त्वा तदा कस्त्वमिति तौ मामपृच्छताम् ॥67॥
 ततो मया डाकिनेयवृत्तान्तात्प्रभृति स्वके ।
 वृत्तान्ते कथिते मैत्रीं कृत्वा मां वदतः स्म तौ ॥68॥
 अहो तववायोस्तेषां कितवानां च कीदृशी ।
 अवस्था विहिता तेन कितवेन दुरात्मना ॥69॥
 येषां न मैत्री न घृणा नोपकारः स्पृशेन्मनः ।
 तेषु च्छलैकविद्येषु विश्वासः कितवेषु कः ॥70॥
 साहसं नैरपेक्ष्यं च कितवानां निसर्गजम् ।
 ठिण्ठाकरालस्य कथा तथा च श्रूयतां त्वया ॥71॥
 अस्यामेवोज्जयिन्यां स द्यूतकारोऽभवत्पुरि ।
 पूर्वं ठिण्ठाकरालाख्यो विषमोऽन्वर्थनामकः ॥72॥
 तस्य हारयतो नित्यं द्यूते ये जयिनोऽपरे ।
 ते प्रत्यहं द्यूतकाराः कपर्दकशतं ददुः ॥73॥
 तेनापणात्स गोधूमचूर्णं क्रीत्वा दिनात्यये ।
 चकारापूपिकाः क्वापि मृदित्वा कर्परेऽम्भसा ॥74॥
 गत्वा श्मशाने पक्त्वा ताश्चित्ताग्नावेत्य चाग्रतः ।
 महाकालस्य तद्दीपघृताभ्यक्ता अभक्षयत् ॥75॥

तत्रैव च महाकालदेवागाराङ्गणे सदा ।
 उपधानीकृतभुजः स सुष्वाप क्षितौ निशि ॥76॥
 एकदा रजनौ तत्र महाकालनिकेतने ।
 मातृमण्डलयक्षादिप्रतिमास्तस्य पश्यतः ॥77॥
 स्फुरन्तीर्मन्त्रसान्निध्यान्मतिरेवमजायत ।
 न करोमि किमर्थार्थमुपायमिह युक्तितः ॥78॥
 सिद्धश्चेद्ब्रह्ममथवा न सिद्धः का क्षतिर्मम ।
 इत्यालोच्याब्रवीद्द्यूतायाक्षिपन्देवताः स ताः ॥79॥
 एत भोः सह युष्माभिर्दीव्यामीहाहमेव च ।
 सभ्यस्तथा पातयिता जितं सद्यश्च दीयते ॥80॥
 इत्युक्तास्तेन तास्तूष्णीं यत्तस्थुस्तदपातयत् ।
 ठिण्ठाकरालः स पणं कृत्वा चित्रा वराटिकाः ॥81॥
 अङ्गीकृतं पातनं स्यात्कितवेनानिषेधता ।
 इति द्यूते हि सर्वत्र स्थितिर्द्यूतकृतां सदा ॥82॥
 ततो जित्वा बहु स्वर्णं देवतास्ता जगाद सः ।
 जितं प्रयच्छत धनं मह्यमाभाषितं यथा ॥83॥
 इत्युच्यमानाः कितवेनासकृत्तेन ता यदा ।
 देवता नालपन्किंचित्ता वक्ति स्म स क्रुधा ॥84॥
 यदि स्थिताः स्थ तूष्णीं तत्क्रियते कितवस्य यत् ।
 अदत्तहारितार्थस्य शिलाभूतस्य तिष्ठतः ॥85॥
 यमदंष्ट्राग्रतीक्ष्णेन क्रकचेनाङ्गपाटनम् ।
 तदहं वः करिष्यामि नह्यपेक्षास्ति क्वापि मे ॥86॥
 इत्युक्त्वा यावदादाय क्रकचं सोऽभिधावति ।
 तावत्तस्मै ददुः स्वर्णं देवतास्ता यथाजितम् ॥87॥
 हारयित्वा च तत्प्रातर्नक्तमेत्य तथैव सः ।
 आचकर्ष हठद्यूतेनार्थं मातृगणात्पुनः ॥88॥
 एवं स कुरुते यावत्प्रत्यहं तावदेकदा ।
 जगाद देवी चामुण्डा मातृस्ताः खिन्नमानानसाः ॥89॥
 इतोऽहं निर्गतो द्यूतादित्याहूतो ब्रवीति यः ।
 स नाक्षेप्य इति द्यूते शैलीयं मातृदेवताः ॥90॥

तस्मादाह्वयमानं तं तदेवोक्त्वा निरस्यत ।
 इति चामुण्डयोक्तास्ता देव्यश्चेतसि तद्वचधुः ॥91॥
 निशि प्राप्तं कृताह्वानं कितवं तं च देवने ।
 निर्गताः स्म इतो द्यूतादित्यूचुः सर्वदेवताः ॥92॥
 एवं निराकृतष्टिण्डाकरालस्ताभिरेव सः ।
 तत्प्रभुं तं महाकालमेवाह्वयत देवितुम् ॥93॥
 सोऽपि लब्धावकाशं तं मत्वा हठदुरोदरे ।
 निर्गतोऽहमितो द्यूतादिति देवः किलाब्रवीत् ॥94॥
 अक्षीणदोषाद्विषमादिष्टानिष्टभयोऽज्जितात् ।
 दुर्जनाद्बत देवा अप्यशक्ता इव बिभ्यति ॥95॥
 तथा दुरोदराचारभग्नकैतवयुक्तिना ।
 तेन ठिण्डाकरालेन खिन्नेनैवमचिन्तयत ॥96॥
 अहो द्यूतस्थितिं देवैः शिक्षित्वास्मि निराकृतः ।
 तदेतमेव देवेशमिदानीं शरणं श्रये ॥97॥
 इत्याकलय्य हृदये परिगृह्यैव पादयोः ।
 स्तुवंष्टिण्डाकरालस्तं महाकालं व्यजिज्ञपत् ॥98॥
 देव्या द्यूतजितेष्विन्दुवृषकुञ्जरचर्मसु ।
 जानुन्यस्तकपोलं ते नौमि नग्नाङ्गगा(मा)सितम् ॥99॥
 यदिच्छामात्रतस्तास्ता विभूतीर्ददते सुराः ।
 यो निरीहो जटाभस्मकपालैकपरिग्रहः ॥100॥
 स सलोभोऽद्य जातस्त्वं मन्दपुण्ये कथं मयि ।
 यदल्पहेतोर्मामेवं हा वञ्चयितुमीहसे ॥101॥
 कल्पवृक्षोऽप्यधन्यानां नाशां पूरयति ध्रुवम् ।
 यदिबभर्षि न मां नाथ भृतविश्वोऽपि भैरव ॥102॥
 तत्प्रपन्नस्य मे कष्टव्यसनाविष्टचेतसः ।
 व्यतिक्रममपि स्थाणो भगवन्क्षन्तुमर्हसि ॥103॥
 ष्यक्षस्त्वं तादृगेवाहं भस्माङ्गे ते ममापि तत् ।
 त्वं कपाले यथा भुङ्क्षे तथैवाहं दयस्व मे ॥104॥
 युष्माभिः सममालप्य कथं नु कितवैरहम् ।
 सहालपिष्यामि पुनस्तन्मामापन्नमुद्धर ॥105॥

इत्यादि तावदस्तौषीत्कितवस्तं स भैरवम् ।
 तावत्स परितुष्यैवं देवः साक्षादुवाच तम् ॥106॥
 ठिण्डाकराल तुष्टोऽस्मि तव मा स्माधृतिं कृथाः ।
 अहं दास्यामि ते भोगानिहैवास्व ममान्तिके ॥107॥
 इति देवाज्ञया तत्र तस्थौ स कितवस्तदा ।
 तत्प्रसादादुपनतां भुञ्जानो भोगसम्पदम् ॥108॥
 एकदा च महाकालतीर्थेऽत्र स्नातुमागताः ।
 रात्रावप्सरसो दृष्ट्वा स देवो व्यादिदेश तम् ॥109॥
 आसां स्नातुं प्रवृत्तानां सर्वासां सुरयोषिताम् ।
 तटन्यस्तानि वासांसि लघु हृत्वा त्वमानय ॥110॥
 यावदेता न दास्यन्ति तुभ्यमेतां कलावतीम् ।
 अप्सरःकन्यकां तावदासां वस्त्राणि मा मुचः ॥111॥
 एवं स भैरवेणोक्तो गत्वामरमृगीदृशाम् ।
 ठिण्डाकरालः स्नान्तीनां तासां वस्त्राण्यपाहरत् ॥112॥
 मुञ्च मुञ्चाम्बराण्यस्मान्मा स्म कार्षीर्दिगम्बराः ।
 इति ब्रुवाणाश्च स ता व्याजहार हरौजसा ॥113॥
 कन्यां कलावतीमेतां यदि मह्यं प्रयच्छथ ।
 तदहं वो विमोक्ष्यामि वासांस्येतानि नान्यथा ॥114॥
 तच्छ्रुत्वा तं दुराधर्षं दृष्ट्वा स्मृत्वा च तादृशम् ।
 शक्रशापं कलावत्यास्ताश्चैतत्प्रतिपेदिरे ॥115॥
 ददुः कलावतीं तां च तस्मायुज्जितवाससे ।
 ठिण्डाकरालाय ततो विधिनालम्बुषासुताम् ॥116॥
 अथाप्सरःसु यातासु कलावत्या तया सह ।
 तस्थौ ठिण्डाकरालोऽसौ देवेच्छानिर्मितास्पदः ॥117॥
 कलावती च देवेन्द्रमुपस्थातुमगाद्विवा ।
 त्रिदिवं रजनौ तं च सदा पतिमुपाययौ ॥118॥
 त्वत्प्राप्तिहेतुना शक्रशापेन मम वल्लभ ।
 वरायितमिति प्रीत्या कदाचिद्ब्रुवती च सा ॥119॥
 तेन ठिण्डाकरालेन पत्या तच्छापकारणम् ।
 पृष्टा सती सुरवधूः कलावत्यब्रवीदिदम् ॥120॥

दृष्ट्वोद्याने सुराञ्जातु मर्त्यभोगाः स्तुता मया ।
 निन्दन्त्या दिविषद्भोगान्दृष्टिमात्रोपभोगदान् ॥121 ॥
 तद्बुद्ध्वा देवराजो मामशपद्गच्छ भोक्ष्यसे ।
 मर्त्येन परिणीता त्वं भोगांस्तान्मानुषानिति ॥122 ॥
 तेनायमावयोरजातः संयोगोऽन्योन्यसम्मतः ।
 श्वश्व नाकाच्चिरेणैष्याम्यहं मा भूच्च तेऽधृतिः ॥123 ॥
 रम्भा नवप्रयोगं हि नर्तिष्यति हरेः पुरः ।
 आ तत्समाप्तेरस्माभिः स्थातव्यं तत्र च प्रिय ॥124 ॥
 ततष्ठीण्डाकरालस्तां प्रेमदुर्ललितोऽभ्यधात् ।
 अहं द्रक्ष्यामि तन्नृत्यं गुप्तं तत्रैव मां नय ॥125 ॥
 एतच्छ्रुत्वा कलावत्या तया स जगदे पतिः ।
 युज्यते कथमेतन्मे कुप्येद्बुद्ध्वा हि देवराट् ॥126 ॥
 एवमुक्तोऽपि निर्बन्धं यदा तस्याश्वकार सः ।
 तदा कलावती स्नेहात्रेतुं तं प्रत्यपद्यत ॥127 ॥
 प्रातः प्रभावगूढं तं कृत्वा कर्णोत्पलान्तरे ।
 ठिण्डाकरालमनयत्सा महेन्द्रस्य मन्दिरम् ॥128 ॥
 सुरेभशोभितद्वारं नन्दनोद्यानसुन्दरम् ।
 दृष्ट्वा ठिण्डाकरालमनस्तद्देवमानी तुतोष सः ॥129 ॥
 ददर्श चात्र वृत्रारेरास्थाने त्रिदशाश्रिते ।
 प्रगीतस्वर्वधूसार्थं रम्भानृतोत्सवाद्भुतम् ॥130 ॥
 नारदादिप्रणीतानि सर्वातोद्यानि चाशृणोत् ।
 प्रसन्ने हि किमप्राप्यमस्तीह परमेश्वरे ॥131 ॥
 ततः प्रेक्षणकस्यान्ते तत्रोत्थाय प्रवृत्तवान् ।
 दिव्यश्छागाकृतिर्भण्डो नर्तितुं दिव्यभङ्गिभिः ॥132 ॥
 ठिण्डाकरालो दृष्ट्वा तं परिज्ञाय व्यचिन्तयत् ।
 अहो एतमहं पश्याम्युज्जयिन्यामजं पशुम् ॥133 ॥
 इहेन्द्रस्य पुरश्चायमीदृशो भण्डनर्तकः ।
 अतर्क्या दिव्यमायेयं विचित्रा बत काचन ॥134 ॥
 एवं ठिण्डाकरालस्य तस्य चिन्तयतो हृदि ।
 नृत्तान्ते छागभण्डस्य शक्रास्थानं न्यवर्तत ॥135 ॥

ततः कलावती हृष्टा सा कर्णोत्पलसंश्रितम् ।
 ठिण्डाकरालं स्वस्थानमानिनाय तथैव तम् ॥136 ॥
 ठिण्डाकरालश्चान्येद्युरुज्जयिन्यां तमागतम् ।
 दृष्ट्वा छागाकृतिं दर्पद्वैवभण्डमभाषत ॥137 ॥
 अरे ममाग्रतो नृत्य नृत्यसीन्द्राग्रतो यथा ।
 अन्यथा न क्षमिष्ये ते तन्नृतं भण्ड दर्शय ॥138 ॥
 तच्छ्रुत्वा विस्मितश्छागस्तूष्णीमेव बभूव सः ।
 कुतोऽयं मानुषोऽप्येवं मां जानातीति चिन्तयन् ॥139 ॥
 निर्बन्धेनोच्यमानो यन्नैव छागो ननर्त सः ।
 तत्स ठिण्डाकरालस्तं लगुडैर्मूर्ध्न्यताडयत् ॥140 ॥
 ततः स गत्वा शक्राय तथैव छागलोऽखिलम् ।
 स्रवद्रक्तेन शिरसा यथावृत्तं न्यवेदयत् ॥141 ॥
 इन्द्रोऽपि प्रणिधानेन बुबुधे तद्यथा दिवम् ।
 ठिण्डाकरालमानैषीद्रम्भानृत्ते कलावती ॥142 ॥
 यथा च छागनृतं तद्दृष्टं तेनापराधिना ।
 ततः कलावतीमेवमाहूयेन्द्रः शशाप सः ॥143 ॥
 नृत्तार्थमस्य छागस्य येनावस्था कृतेदृशी ।
 रागात्तं मानुषं गुप्तं यदिहानीतवत्यसि ॥144 ॥
 तद्गच्छ नरसिंहेन राज्ञा नागपुरे पुरे ।
 देवागारे कृते स्तम्भे भव त्वं सालभञ्जिका ॥145 ॥
 इत्युक्तवान्कलावत्या मात्रालम्बुषया तया ।
 शक्रोऽनुनाथितः कृच्छ्रादेवं शापान्तमादिशत् ॥146 ॥
 यदा बहवब्दनिष्पन्नं देववेश्म विनश्य तत् ।
 भविष्यति समं भूमेरस्याः शापक्षयस्तदा ॥147 ॥
 इतीन्द्रशापशापान्तावेवं साश्रुः शशंस सा ।
 तस्मै कलावती ठिण्डाकरालाय सवाच्य तम् ॥148 ॥
 दत्त्वा स्वाभरणं तस्मै तिरोभूय विवेश च ।
 गत्वा नागपुरे देवगृहस्तम्भाग्रपुत्रिकाम् ॥149 ॥
 ठिण्डाकरालोऽपि ततस्तद्वियोगविषाहतः ।
 न ददर्श न शुश्राव लुलोठ भुवि मूर्च्छितः ॥150 ॥

अहो रहस्यं मत्वापि मूढेनाविष्कृतं मया ।
 निसर्गचपलानां हि मादृशां संयमः कुतः ॥151 ॥
 तदिदानीमयं प्राप्तो वियोगो विषमो मया ।
 इत्यादिलब्धसंज्ञश्च कितवो विललाप सः ॥152 ॥
 क्षणाच्चाचिन्तयत्कालो वैकल्यस्यैष नैव मे ।
 गृहीतधैर्यः शापान्तहेतोस्तस्या न किं यते ॥153 ॥
 इत्यालोच्य विचार्याथ प्रब्राड्वेषं विधाय सः ।
 साक्षसूत्राजिनजटं धूर्तो नागपुरं ययौ ॥154 ॥
 तत्राटव्यां चतसृषु न्यधादिक्षु पुराद्बहि ।
 कान्तालंकारकलशान्निखाय चतुरो भुवि ॥155 ॥
 पञ्चमं च महारत्नसम्पूर्णं निचखान सः ।
 नगरान्तर्निशि स्वैरं देवाग्रापणभूतले ॥156 ॥
 एवं कृत्वा स तत्रासीन्नद्यास्तीरे कृतोत्तजः ।
 आश्रित्य कैतवतपः कृतकध्यानजप्यवान् ॥157 ॥
 कुर्वन्दिनस्य त्रिः स्नानं भुञ्जानो भैक्ष्यमम्बुभिः ।
 प्रक्षाल्य दृषदि प्राप स महातापसप्रथाम् ॥158 ॥
 क्रमाच्छ्रुतिपथायातो राज्ञा सोऽभ्यर्थितोऽपि यत् ।
 नागात्तदन्तिकं तत्स राजा तत्पार्श्वमाययौ ॥159 ॥
 स्थित्वा कथाभिश्च चिरं सायं तस्मिन्धियासति ।
 राज्ञ्यकस्माच्छिवा चक्रे शब्दं तत्र विदूरतः ॥160 ॥
 तच्छ्रुत्वा तापसच्छ्रद्धा कितवो हसति स्म सः ।
 किमेतदिति पृष्टश्च किमनेनेत्यभाषत ॥161 ॥
 निर्बन्धाच्च नृपे पृच्छत्युवाचैवं स मायिकः ।
 अटव्यां नगरस्यास्य पूर्वतो वेतसीतले ॥162 ॥
 रत्नाभरणपूर्णाऽस्ति कलशस्तद्गृहाण तम् ।
 इत्युक्तं मे रुतज्ञस्य नृपते शिवयैतया ॥163 ॥
 उक्तैवं कौतुकाविष्टं नीत्वा तं तत्र भूपतिम् ।
 स्वात्वा स भूमिमुद्धृत्य तस्मै तं कलशं ददौ ॥164 ॥
 ततः स लब्धाभरणः संजातप्रत्ययो नृपः ।
 ज्ञानिनं सत्यवाचं तं मेने निःस्पृहतापसम् ॥165 ॥

आनीय स्वाश्रमं तं च मुहुर्नत्वा च पादयोः ।
 स ययौ मन्दिरं नक्तं सामात्यस्तद्गुणान्स्तुवन् ॥166 ॥
 एवं क्रमात्तमायान्तं धूर्तो रुतमिषानृपम् ।
 सोऽन्यांस्त्रीन्रत्नकलशान्दिग्भ्योऽन्याभ्यो व्यलम्भयत् ॥167 ॥
 ततः स राजा पौराश्च मन्त्रिणोऽन्तःपुराणि च ।
 तत्तापसैकभक्तानि तन्मयान्येव जज्ञिरे ॥168 ॥
 एकदा नीयमानश्च देवागारेक्षणाय सः ।
 राज्ञा कृतापसोऽश्रौषीदापणे काकवाशितम् ॥169 ॥
 ततोऽब्रवीत्तं राजानं श्रुता काकस्य वाक्त्वया ।
 आपणेऽत्रैव देवाग्रे निखातो भुवि तिष्ठति ॥170 ॥
 सद्रत्नपूर्णः कलशः कस्मात्सोऽपि न गृह्यते ।
 इत्येतदुक्तं काकेन तदेहि स्वीकुरुष्व तत् ॥171 ॥
 इत्युक्त्वा तत्र नीत्वा तं भूमेरुद्धृत्य भूभृते ।
 सद्रत्नकलशं प्रादात्स तस्मै कूटापसः ॥172 ॥
 ततोऽतिपरितोषात्स स्वयं हस्तेऽवलम्ब्य तम् ।
 कपटज्ञानिनं राजा देवागारं प्रविष्टवान् ॥173 ॥
 तत्र स्तम्भे समाधूय परिव्राट् सालभञ्जिकाम् ।
 अनुप्रविष्टां प्रियया कलावत्या ददर्श ताम् ॥174 ॥
 कलावती च तत्सालभञ्जिकारूपधारिणी ।
 दुःखिता तं पतिं दृष्ट्वा प्रारंभे तत्र रोदितुम् ॥175 ॥
 तद्दृष्ट्वा सानुगो राजा सविस्मयविषादवान् ।
 ज्ञान्याभासमपृच्छत्तं किमिदं भगवन्निति ॥176 ॥
 ततो विषण्णविभ्रान्त इव धूर्तो जगाद सः ।
 एहि स्वभवनं तत्र वच्यवक्तव्यमप्यदः ॥177 ॥
 इत्युक्त्वा स नृपं नीत्वा राजधानीमुवाच तम् ।
 अस्थाने कुमुहूर्ते च देवागारमिदं त्वया ॥178 ॥
 यत्कृतं तत्तृतीयेऽह्नि भविष्यत्यहितं तव ।
 अतस्त्वद्दर्शनात्सैषा प्रारोदीत्स्तम्भपुत्रिका ॥179 ॥
 तच्छरीरेण चेत्कृत्य तव निर्लोठ्य तन्नृप ।
 अद्यैवैतद्भुतं देवकुलं भूमिसमं कुरु ॥180 ॥

सुस्थाने सुमुहूर्ते च कुर्वन्त्र सुरालयम् ।
अनिमित्तं सराष्ट्रस्यास्तु ते शिवम् ॥181॥
इत्युक्तस्तेन स नृपः समाज्ञाप्य भयात्प्रजाः ।
एकाहेनैव तद्देवगृहं भूमिसमं व्यधात् ॥182॥
स्थानान्तरे च प्रारंभे कर्तुं देवकुलं पुनः ।
अहो विश्वास्य वञ्च्यन्ते धूर्तैश्छद्मभिरीश्वराः ॥183॥
सिद्धकार्यस्ततस्त्यक्त्वा प्रब्राड्वेषं पलाय्य सः ।
ठिण्ठाकरालः कितवः प्रायादुज्जयिनीं ततः ॥184॥
कलावती च तद्बुद्ध्वा शापमुक्ताभ्युपेत्य तम् ।
मार्गं हृष्टा समाश्वास्य द्रष्टुमिन्द्रमगादिवम् ॥185॥
इन्द्रोऽपि विस्मितो बुद्ध्वा तन्मुखात्तस्य तत्पतेः ।
मायां तां द्यूतकारस्य जहास च तुतोष च ॥186॥
ततः प्रार्श्वस्थितः शक्रं तमुवाच बृहस्पतिः ।
विचित्रमायाः कितवा ईदृशा एव सर्वदा ॥187॥
पुराकल्पे तथा चाभून्नगरे कितवः क्वचित् ।
कुट्टिनीकपटो नाम कपटद्यूतकोविदः ॥188॥
परलोकगतं तं च धर्मराजः किलाब्रवीत् ।
कल्पं नरकवासस्ते कितवास्ति स्वपातकैः ॥189॥
एकं तु दिनमिन्द्रत्वमस्ति दानवशात्तव ।
दत्तं ब्रह्मविदे ह्येकं सुवर्णं जातुचित्तवया ॥190॥
तद्ब्रह्मि पूर्वं किं भुङ्क्षे नरकं किमुतेन्द्रताम् ।
तच्छ्रुत्वा कितवोऽवोचद्भुञ्जे प्रागिन्द्रतामिति ॥191॥
ततः स धर्मराजेन प्रेषितः कितवो दिवि ।
एकाहमिन्द्रमुत्थाप्य देवै राज्येऽभ्यषिच्यत ॥192॥
सम्प्राप्तदेवराज्यः सन्नानाय्य कितवान्सखीन् ।
सवेश्याश्च दिवं देवानादिदेशाधिपत्यतः ॥193॥
नीत्वास्मान्सर्वतीर्थेषु सर्वान्स्नपयत क्षणात् ।
दिव्येष्वपि च भौमेषु सप्तद्वीपगतेष्वपि ॥194॥
अनुप्रविश्य चाद्यैव भूपतीन्निखिलान्भुवि ।
प्रयच्छत महादानान्यस्मदर्थमनारतम् ॥195॥

इत्यादिष्टाः सुरास्तेन सर्वं चक्रुस्तदैव तत् ।
धूतपापः स तैः पुण्यैर्धूर्तः प्रापेन्द्रतां स्थिराम् ॥196॥
तद्वयस्याश्च वेश्याश्च ये तेनानायिता दिवम् ।
अमरत्वं ययुस्तेऽपि तत्प्रसादाद्धतांहसः ॥197॥
द्वितीयेऽह्नि स्थिरप्राप्तदेवराज्यं स्वबुद्धितः ।
कितवं धर्मराजाय चित्रगुप्तः शशंस तम् ॥198॥
ततः सुचरितं बुद्ध्वा धर्मराजो विसिस्मिये ।
अहोबत द्यूतकृता वञ्चिताः स्म इति ब्रुवन् ॥199॥
ईदृशाः कितवा वञ्चिन्नित्युक्त्वा विरते गुरौ ।
ठिण्ठाकरालं घामिन्द्रोऽनैषीत्प्रेष्य कलावतीम् ॥200॥
तत्र तद्बुद्धिधैर्याभ्यां तुष्टः सम्मान्य देवराट् ।
दत्त्वा कलावतीं चक्रे तं स पार्श्वस्थमात्मनः ॥201॥
ततः स देववद्धीरः कलावत्या समं सुखी ।
ठिण्ठाकरालो न्यवसच्छंकरानुग्रहादिवि ॥202॥
तदीदृग्द्यूतकाराणां मायासाहसयोर्गतिः ।
तदग्निशिख वेताल किं चित्रं कितवेन यत् ॥203॥
डाकिनेयेन निक्षिप्तः कूपेऽस्मिन्मायया भवान् ।
तत्त्वं निर्याहि मित्रावां निरेष्यावोऽवटादितः ॥204॥
इत्युक्तो ब्रह्मरक्षोभ्यां निर्गत्याहं ततोऽवटात् ।
रात्रावस्यां पुरि प्रापं क्षुधार्तः पथिकं द्विजम् ॥205॥
तं च गृह्णामि धावित्वा विप्रं यावज्जिघृत्सया ।
तावच्छ्रीविक्रमादित्यदेवमाक्रन्दति स्म सः ॥206॥
श्रुत्वैव च स निर्गत्य राजा ज्वलनसन्निभः ।
आः पाप मा वधीर्विप्रमित्यारात्प्रतिहत्य माम् ॥207॥
प्रावर्तत शिरश्छेतुमालेख्यपुरुषस्य यत् ।
तेन मे छेदमागच्छन्कण्ठोऽभूत्स्रुतशोणितः ॥208॥
ततोऽङ्घ्रलग्नस्तेनैव रक्षितोऽस्म्युज्झितद्विजः ।
एवंप्रभावो देवोऽसौ विक्रमादित्यभूपतिः ॥209॥
तदाज्ञया हतश्चायं खण्डकापालिको मया ।
तदेतं मम वेताल भक्ष्यं यमशिख त्यज ॥210॥

एवमग्निशिखेनोक्तोऽप्याक्षिपत्तत्स पाणिना ।
 दर्पाद्यमशिखः खण्डकापालिककलेवरम् ॥211॥
 ततः श्रीविक्रमादित्यः प्रकाश्यात्मानमत्र सः ।
 आलिख्य पुरुषं भूमौ पाणिं तस्यासिनाच्छिनत् ॥212॥
 तेन च्छिन्नो यमशिखस्यापतत्तस्य यत्करः ।
 तत्स तं कुणपं त्यक्त्वा पलाय्यैवागमद्गयात् ॥213॥
 अभक्षयच्चाग्निशिखः कुणपं तं कपालिनः ।
 अहं च निर्भयोऽद्राक्षं सर्वं राजौजसा तु तत् ॥214॥
 एवमाख्याय सा यक्षवधूर्मदनमञ्जरी ।
 त्वत्प्रभावं महाराज तत्र मामवदत्पुनः ॥215॥
 ततो वक्ति स्म मधुरं स राजानङ्गदेव माम् ।
 यक्षि कापालिकान्मुक्ता गच्छ भर्तृगृहानिति ॥216॥
 ततः प्रणम्य तमहं गृहं स्वमिदमागता ।
 चिन्तयन्त्युपकारस्य निष्कृतिं तस्य भूपतेः ॥217॥
 एवं प्राणाः कुलं भर्ता दत्ता मे प्रभुणा तव ।
 त्वदाख्याता च तस्यैषा संवदिष्यति मत्कथा ॥218॥
 अद्य ज्ञातं च यत्तस्य राज्ञस्त्रैलोक्यसुन्दरी ।
 प्रेषिता सिंहलेन्द्रेण तनया सा स्वयंवरा ॥219॥
 तां च हर्तुं कृता बुद्धिः सर्वैः सम्भूय राजभिः ।
 हत्वा विक्रमशक्तिं तं तत्सामन्तं समत्सरैः ॥220॥
 तस्माद्विक्रमशक्तेस्त्वं गत्वा तद्विदितं कुरु ।
 येन तेषामवहितः प्रतीकारे स तिष्ठति ॥221॥
 अहं च तत्करिष्यामि प्रयत्नं येन तानरीन् ।
 हत्वा स विक्रमादित्यदेवो विजयमाप्स्यति ॥222॥
 एतदर्थमिहानीतो मया त्वं निजमायया ।
 येन राज्ञः ससामन्तस्यैतत्सर्वं वदिष्यसि ॥223॥
 प्राभूतं च प्रहेष्यामि त्वत्प्रभोस्तस्य तादृशम् ।
 दद्यां तदुपकारस्य लेशतो येन निष्कृतिम् ॥224॥
 एवं वदति यावत्सा तावत्ते तत्र कन्यके ।
 आगते समृगे ये द्वे दृष्टे अस्माभिरम्बुधौ ॥225॥

एका चन्द्रावदाताङ्गी प्रियङ्गुश्यामलापरा ।
 सरित्पतेः कृतोपासे जाह्नवीयमुने इव ॥226॥
 निषण्णयोस्तयोस्तां च यक्षीं देवास्मि पृष्टवान् ।
 देवि के कन्यके एते सौवर्णोऽयं मृगश्च कः ॥227॥
 तच्छ्रुत्वा सा महाराज यक्षिणी मामभाषत ।
 अनङ्गदेव यदि ते कौतुकं वच्मि तच्छृणु ॥228॥
 विघ्नायाजग्मतुः पूर्वं प्रजासर्गे प्रजापतेः ।
 घोरौ घण्टनिघण्टाख्यौ दानवौ देवदुर्जयौ ॥229॥
 तयोर्विनाशकामश्च विधाता कन्यके इमे ।
 जगदुन्मादनोद्दामरूपशोभे विनिर्ममे ॥230॥
 दृष्ट्वैवात्यद्भुते चैते हरन्तौ तौ महासुरौ ।
 परस्परं युध्यमानौ जग्मतुर्द्वावपि क्षयम् ॥231॥
 ततो ब्रह्मा धनाध्यक्षायैते कन्ये समर्पयत् ।
 त्वया योग्याय कस्मैचिद्भर्त्रे देये इमे इति ॥232॥
 धनदोऽप्यर्पयदिमे मद्भर्त्रे स्वानुजन्मने ।
 मद्भर्ता चार्पयन्मह्यं तथैव वरकारणम् ॥233॥
 मया श्रीविक्रमादित्यश्चानयोश्चिन्तितो वरः ।
 देवावतारो ह्युचितः स एव पतिरेतयोः ॥234॥
 एवंप्रपे इमे कन्ये मृगस्याख्यायिकां शृणु ।
 जयन्तो नाम तनयो दयितोऽस्ति शचीपतेः ॥235॥
 स भ्राम्यमाणः स्वःस्त्रीभिव्योम्ना जातु शिशुर्भुवि ।
 राजपुत्रानधोऽद्राक्षीत्क्रीडतो मृगपोतकैः ॥236॥
 ततः स बालभावेन क्रीडामृगशिंशुं विना ।
 हेवाकी त्रिदिवं गत्वा प्रारोदीत्पितुरग्रतः ॥237॥
 तेन यस्य कृते शक्रोऽकारयद्विश्वकर्मणा ।
 सुधासेकार्पितप्राणं हेमरत्नमयं मृगम् ॥238॥
 अथ तेन स चिक्रीड जयन्तः सन्तुतोष च ।
 सोऽप्यत्र तस्थौ विहरन्नाके हरिणपोतकः ॥239॥
 कालेनेन्द्रजितान्वर्थनाम्ना रावणसूनुना ।
 सोऽपहृत्य मृगो निन्ये लङ्कां स्वनगरीं दिवः ॥240॥

गते च काले हतयोः सीताहरणमन्युना ।
 रामलक्ष्मणवीराभ्यां रावणेन्द्रजितोस्तयोः ॥241 ॥
 लङ्काराज्येऽभिषिक्तस्य राक्षसेन्द्रस्य मन्दिरे ।
 विभीषणस्य सोऽतिष्ठद्रत्नहेममृगोऽद्भुतः ॥242 ॥
 विभीषणश्च तं मह्यमुत्सवे जातुचिदगृहान् ।
 नीतायै भर्तृबान्धव्यान्मृगं सम्मानयन्नदात् ॥243 ॥
 सोऽयं मृगशिशुर्दिव्यो वर्ततेऽद्य गृहे मम ।
 मया च त्वत्प्रभोरेष कर्त्तव्योऽयमुपायनम् ॥244 ॥
 इति सा यावदाख्याति यक्षिणी मे कथाक्रमम् ।
 तावत्कमलिनीकान्तो रविरस्तमुपाययौ ॥245 ॥
 ततस्तया समादिष्टे धाम्नि सन्ध्याविधेः परम् ।
 सिंहलेश्वरदूतोऽयमहं च शयितावुभौ ॥246 ॥
 प्रातः प्रबुद्धौ पश्यावो यावदावामनीकिनीम् ।
 प्राप्तौ विक्रमशक्तेस्तां सामन्तस्य तव प्रभो ॥247 ॥
 ततो विचिन्त्य यक्षिण्यास्तत्प्रभावविजृम्भितम् ।
 पार्श्वं विक्रमशक्तेर्द्राग्गतावावां सविस्मयौ ॥248 ॥
 स च दृष्टैव सम्मान्य कुशलं परिपृच्छ्य च ।
 सिंहलेश्वरसन्देशं यावन्नौ प्रष्टुमिच्छति ॥249 ॥
 तावत्ते यक्षिणीप्रोक्तस्वरूपे दिव्यकन्यके ।
 मृगपोतश्च सम्प्राप्तास्तत्र यक्षचमूवृताः ॥250 ॥
 तान्दृष्ट्वा दुष्टभूतादिमायाशङ्की स संशयात् ।
 देव विक्रमशक्तिर्मां किमेतदिति पृष्टवान् ॥251 ॥
 ततः ससिंहलाधीशकार्यं तस्मायहं क्रमात् ।
 यक्षिणीकन्यकायुग्ममृगोदन्तमवर्णयम् ॥252 ॥
 यक्षीमुखाच्छ्रुतं तं च सर्वेषामैकमत्यतः ।
 राजद्विष्टोद्यमं राज्ञां तस्यावोचमहं ततः ॥253 ॥
 ततः स सम्मान्यावां च दिव्यकन्ये च ते उभे ।
 प्रहृष्टः सैन्यमकरोत्सामन्तः सज्जमाहवे ॥254 ॥
 क्षणाच्चाश्रावि देवात्र सैन्यतूर्यमहारवः ।
 क्षणाच्चादर्शि सम्लेच्छं प्रतिराजबलं महत् ॥255 ॥

अन्योन्यदर्शनक्रोधादभिधावितयोस्तयोः ।
 प्रावर्तत द्वयोर्युद्धमस्मत्सैन्यारिसैन्ययोः ॥256 ॥
 ततो यक्षीविसृष्टैस्तैर्यक्षैरस्मदिदृषद्बलम् ।
 अन्यैरस्मद्द्रटाविष्टैरन्यैः सख्यादहन्यत ॥257 ॥
 सैन्यरेणुगणाकीर्णं खड्गधारानिरन्तरम् ।
 सशूरगर्जितं घोरमुदभूद्रणदुर्दिनम् ॥258 ॥
 छेदोच्छलद्विद्विषतां निपतद्विश्व मूर्धभिः ।
 अशोभत जयश्रीर्नः क्रीडन्ती कन्दुकैरिव ॥259 ॥
 क्षणाच्च हतशेषास्ते राजानो भग्नसैनिकाः ।
 त्वत्सामन्तस्य कटकं प्रणताः शरणं श्रिताः ॥260 ॥
 ततो चितासु सद्धीपास्वाशासु चतसृष्वपि ।
 उत्सादितेषु म्लेच्छेषु सर्वभूमीश्वर त्वया ॥261 ॥
 निजेन भर्त्रा सहिता प्रकटीभूय यक्षिणी ।
 देव विक्रमशक्तिं तं मां चैवं वदति स्म सा ॥262 ॥
 मया यदेतद्विहितं सेवामात्रं भवत्प्रभोः ।
 तदावेद्यं पुनश्चैवं स विज्ञाप्यो गिरा मम ॥263 ॥
 त्वयैते परिणेतव्ये कन्यके देवनिर्मिते ।
 द्रष्टव्ये च प्रसादेन लालनीयोऽप्ययं मृगः ॥264 ॥
 मदीयं प्राभूतं ह्येतदित्युक्त्वा रत्नसंचयम् ।
 दत्त्वा यक्षी तिरोऽभूत्सा भर्त्रा सह सहानुगा ॥265 ॥
 अन्येद्युः परिवारेण विभवेन च भूयसा ।
 आगान्मदनलेखा सा सिंहलेश्वरकन्यका ॥266 ॥
 कृत्वा प्रत्युद्गमं साथ तेन विक्रमशक्तिना ।
 प्रावेश्यत स्वकटकं प्रणतेन प्रहर्षतः ॥267 ॥
 द्वितीयेऽह्नि गृहीत्वा तां ते चोभे दिव्यकन्यके ।
 हेमरत्नमृगं तं च त्रिजगन्नेत्रकौतुकम् ॥268 ॥
 सिद्धकार्यं इहागन्तुं देवपाददिदृक्षया ।
 ततो विक्रमशक्तिः स चलितो राजभिः सह ॥269 ॥
 स चेह निकटप्राप्तः सामन्तो देव वर्तते ।
 आवेदनाय देवस्य तेनावां प्रेषितो पुरः ॥270 ॥

तद्देव सिंहलेन्द्रस्य यक्षिण्याश्चानुरोधतः ।
 तत्कन्याहरिणान्देवः प्रत्युद्यातु नृपानपि ॥271 ॥
 इत्युक्तोऽनङ्गदेवेन विक्रमादित्यभूपतिः ।
 कृतं दुःसाध्यमपि तद्यक्षिणीरक्षणं स्मरन् ॥272 ॥
 नामन्यत तृणायपि श्रुत्वा तत्प्रत्युपक्रियाम् ।
 बहु कृत्वापि मन्यन्ते स्वल्पमेव महाशयाः ॥273 ॥
 हृष्टश्च सिंहलाधीशदूतयुक्तं पुनः स तम् ।
 अनङ्गदेवं हस्त्यश्वग्रामरत्नैरपूरयत् ॥274 ॥
 नीत्वा दिनं तदथ सिंहलराजपुष्यास्तस्यास्तयोः कमलजोद्धवकन्ययोश्च ।
 प्रत्युद्गमाय स महीपतिरुज्जयिन्याः सैन्यैर्गजाश्ववहनैः सममुच्चचाल ॥275 ॥
 सत्कुञ्जरोऽञ्जनगिरिर्जयवर्धनस्य मत्तद्विपो रणभटस्य च कालमेघः ।
 सङ्ग्रामसिद्धिरपि सिंहपराक्रमस्य वीरस्य विक्रमनिधे रिपुराक्षसश्च ॥276 ॥
 पवनजवो जयकेतोर्वल्लभशक्तेः समुद्रकल्लोलः ।
 अश्वौ बाहुसुबाहवोः शरवेगो गरुडवेश्च ॥277 ॥
 श्यामा कुवलयमाला कोक्काणी कीर्तिवर्मणस्तुरगी ।
 कर्का गङ्गालहरी सुसैन्धवी समरसिंहस्य ॥278 ॥
 इति हस्त्यश्वं राजसु तेष्वपि चलितेषु विभजतामभितः ।
 शुश्रुविरैऽत्र च राजनि चलिते दण्डाधिकारिणां वाचः ॥279 ॥
 भूमिः सैन्यमयी तदुत्थितमहाशब्दैकमय्यो दिशः
 संसर्पद्भवजिनीविमर्दविलसद्बुलीमयी द्यौरपि ।
 सर्वस्याद्भुततत्प्रभावमहिमव्याहारमय्यो गिर—
 स्तस्मिन्नाङ्गि पथि प्रयाति सकलद्वीपाधिनाथेऽभवन् ॥280 ॥

AA bfr egkdfOJhl kenØHKV/vofjfrsdFkl fjRI kxjsfo"ke'khyyEcds
 f}rh; Lrj 3x%AA

AA rrh; Lrj 3x%AA

ततः स विक्रमादित्यो जयसैन्यमवाप तत् ।
 अधिष्ठितं स्वसेनान्या तेन विक्रमशक्तिना ॥1 ॥
 अग्रागतेन तेनैव सोत्केन प्रणतात्मना ।
 सराजकेन सहितः स्वबलं स विवेश च ॥2 ॥
 गौडः शक्तिकुमारोऽयं कर्णाटोऽयं जयध्वजः ।
 लाटो विजयवर्मायं काश्मीरोऽयं सुनन्दनः ॥3 ॥
 गोपालः सिन्धुराजोऽयं भिल्लो विन्ध्यबलोऽप्ययम् ।
 निर्मूकः पारसीकोऽयं नृपः प्रणमति प्रभो ॥4 ॥
 इत्यास्थाने नृपान्सोऽत्र प्रतीहारनिवेदितान् ।
 सम्राट् सम्मानयामास सामन्तान्सैनिकानपि ॥5 ॥
 सिंहलेन्द्रसुतादिव्यकन्याहेममृगांश्च तान् ।
 यथार्हं सत्करोति स्म स सविक्रमशक्तिकान् ॥6 ॥
 तैः समं सबलोऽन्येद्युः प्रतस्थे च ततः कृती ।
 स राजा विक्रमादित्यः प्राप चोज्जयिनीं पुरीम् ॥7 ॥
 सम्मानितविसृष्टेषु स्वदेशानथ राजसु ।
 जगदानन्दिनि प्राप्ते वसन्तसमयोत्सवे ॥8 ॥
 लतासु पुष्पाभरणैर्मण्डनं कुर्वतीष्विव ।
 तन्वतीष्विव संगीतं भृङ्गयोषित्सु गुञ्जितैः ॥9 ॥
 नृत्यन्तीष्विव चाश्लिष्टमरुत्सु वनराजिषु ।
 पिकेषु कलशब्देषु मङ्गलानि पठत्स्विव ॥10 ॥
 सोऽत्र ता विक्रमादित्यः परिण्ये शुभेऽहनि ।
 सिंहलेश्वरकन्यां तां ते च द्वे दिव्यकन्यके ॥11 ॥
 सिंहलेश्वरकन्याया ज्येष्ठो भ्राता सहागतः ।
 सिंहवर्मा ददौ वेद्यां महान्तं रत्नसंचयम् ॥12 ॥
 तत्कालमेत्य च तयोर्यक्षिणी दिव्यकन्ययोः ।
 असंख्यान्तरराशीन्सा ददौ मदनमञ्जरी ॥13 ॥
 शक्ताहं गन्तुमानृण्यं देव त्वत्सुकृतस्य किम् ।
 किं तु दर्शयितुं भक्तिं नैतत्किंचित्कृतं मया ॥14 ॥

तत्प्रसादोऽनयोः कार्यः कन्ययोर्हरिणस्य च ।
 इत्युक्त्वा च तिरोऽभूत्सा यक्षी राज्ञाभिपूजिता ॥15॥
 ततः सम्प्राप्य भार्यास्ताः सद्वीपाः च महीं कृती ।
 शशास विक्रमादित्यो राजा राज्यमकण्टकम् ॥16॥
 सुखितश्चास्त विहरंस्तदा चोद्यानभूमिषु ।
 ग्रीष्मे जलेषु सरसां धारायन्त्रगृहेषु च ॥17॥
 वर्षास्वन्तःपुरेषूद्यन्मृदङ्गरवहारिषु ।
 शरदीन्दूदयापानहृद्यहर्म्यतलेष्वपि ॥18॥
 आस्तीर्णसुखशय्येषु कालागुरुसुगन्धिषु ।
 वासवेश्मसु हेमन्ते स नृपोऽन्तःपुरैर्वृतः ॥19॥
 तस्येदृशस्य राज्ञश्च नगरस्वामिसंज्ञकः ।
 बभूव ग्रामशतभुविचक्रकृज्जितविश्वकृत् ॥20॥
 स द्व्यहेन द्व्यहेनास्मै राज्ञे प्राभृतपुत्रिकाम् ।
 लिखित्वान्यान्याया रूपभङ्ग्या चित्रकरो ददौ ॥21॥
 एकदा चोत्सववशाद्विस्मृत्य लिखिता न सा ।
 तेन चित्रकृता दैवात्पुत्रिका नृपतेः कृते ॥22॥
 प्राप्ते च प्राभृतदिने स्मृत्वा यावत्समाकूलः ।
 आस्ते चित्रकरो हा किं ढौकयेयं प्रभोरिति ॥23॥
 तावद्दूरागतः कोऽपि पान्थोऽकस्मात्तमभ्यधात् ।
 स चास्य पुस्तिकां हस्ते न्यस्यैव क्वाप्यगाल्लघु ॥24॥
 कौतुकाच्च स यावत्तामुद्धाटयति चित्रकृत् ।
 तावद्दर्श तत्रान्तश्चित्रस्थां पुत्रिकां पटे ॥25॥
 दृष्टवैवाद्भुतरूपां तां नीत्वा नृपतये ददौ ।
 प्राभृतं प्रत्युतेदृङ्मे सिद्धमद्येति हर्षुलः ॥26॥
 नृपतिस्तां तु दृष्ट्वैव साश्चर्यः स जगाद् तम् ।
 न भद्र तव रेखेयं रेखेयं विश्वकर्मणः ॥27॥
 मानुषो हि कुतो वेत्ति लिखितुं रूपमीदृशम् ।
 तच्छ्रुत्वा चित्रकृद्राज्ञे यथावृत्तं शशंस सः ॥28॥
 ततः सोऽनन्यदृग्राजा तां पश्यन्पुत्रिकां सदा ।
 स्वप्ने द्वीपान्तरेऽद्राक्षीत्तद्रूपामेव कन्यकाम् ॥29॥

संगमं भजते यावत्सोत्कः सोत्सुकया तया ।
 तावत्प्रबोधितः सोऽभूद्यामिकेन निशाक्षये ॥30॥
 प्रबुद्धो भग्नतत्स्वप्न समागमसुखश्च सः ।
 यामिकं तं क्रुधा राजा नगर्या निरकालयत ॥31॥
 क्व पान्थः पुस्तिका क्वास्य क्व तस्यां चित्रपुत्रिका ।
 तस्या एव सजीवायाः स्वप्ने सन्दर्शनं क्व च ॥32॥
 तदेषा दैवघटना कन्या सास्तीति वक्ति मे ।
 न च जानामि तद्द्वीपं प्राप्नुयां तत्कथं नु ताम् ॥33॥
 इत्यादि चिन्तयन्सोऽथ सर्वत्रारतिमानृपः ।
 स्मरज्वरेण जज्वाल पर्याकुलपरिच्छदः ॥34॥
 ससन्तापश्च विजये क्षत्रा भद्रायुधेन सः ।
 शनैस्तत्कारणं पृष्टो जगादैवं महीपतिः ॥35॥
 शृणु तद्वचिं ते मित्र ज्ञातं तावददस्त्वया ।
 यच्चित्रपुत्रिका तेन दत्ता चित्रकरेण मे ॥36॥
 तां चिन्तयंश्च सुप्तोऽहं स्वप्ने जानामि वारिधिम् ।
 उत्तीर्य प्राप्य नगरं प्रविष्टोऽस्म्यतिसुन्दरम् ॥37॥
 तत्रापश्यमहं बह्वीः सायुधाः कन्यकाः पुरः ।
 ता मां दृष्ट्वा जहि जहीत्युच्चैः कलकलं व्यधुः ॥38॥
 ततः ससम्भ्रमा कापि जाने मामेत्य तापसी ।
 प्रवेश्यैव निजं गेहं संक्षेपादिदमब्रवीत् ॥39॥
 पुरुषद्वेषिणी पुत्र राजपुत्रीयमागता ।
 इतो मलयवत्याख्या विहरन्ती यदृच्छया ॥40॥
 दृष्टमात्रं च पुरुषं कन्याभिर्घायत्यसौ ।
 एताभिस्तेन रक्षार्थं मयेह त्वं प्रवेशितः ॥41॥
 इत्युक्त्वा तापसी सद्यः स्त्रीवेषं सा व्यधान्मम ।
 अवध्याः कन्यकास्तास्तु मत्वा सोढं मयापि तत् ॥42॥
 यावत्प्रविष्टामत्रैव सकन्यां तां नृपात्मजाम् ।
 पश्यामि तावच्चित्रस्था या मयादर्शि सैव सा ॥43॥
 अचिन्तयं च धन्योऽहं यच्चित्रलिखितामिमाम् ।
 दृष्ट्वा पुनश्च पश्यामि साक्षात्प्राणसमामिति ॥44॥

राजपुत्री च सा तावत्तापसीं तां सकन्यका ।
 दृष्टोऽस्माभिः प्रविष्टोऽत्र पुमान्कोऽपीत्यभाषत ॥45 ॥
 पुमान्कृतः प्राघुणिका स्थितैषा मे स्वसुः सुता ।
 इति तां तापसी सापि प्रत्यवोचत्प्रदर्श्य माम् ॥46 ॥
 ततः सा राजतनया स्त्रीरूपमपि वीक्ष्य माम् ।
 विस्मृत्य पुरुषद्वेषं सद्यः स्मरवशाभवत् ॥47 ॥
 आसीत्कण्टकिता किञ्चिच्चिन्तयन्तीव निश्चला ।
 लब्धच्छिद्रेण कामेन कीलितेव समं शरैः ॥48 ॥
 क्षणाच्च तापसीं तां सा व्याहरद्राजकन्यका ।
 तर्ह्यार्ये त्वत्स्वसृसुता ममापि प्राघुणी न किम् ॥49 ॥
 आयातु मद्गृहमियं प्रहेष्याम्यर्चितामिमाम् ।
 इत्युक्त्वादाय पाणौ मामनैषीत्सा स्वमन्दिरम् ॥50 ॥
 अहं च लब्धचित्तोऽस्या जाने तत्र तथेत्यगाम् ।
 अन्वमन्यत मां सापि विदग्धा वृद्धतापसी ॥51 ॥
 ततोऽहं स्थितवांसतत्र राजपुष्या तया सह ।
 क्रीडन्त्या कन्यकान्योन्यविवाहरादिविनोदनैः ॥52 ॥
 न च माममुचत्पार्ष्णाक्षं सा मद्गतेक्षणा ।
 यत्र नाहं न सा तस्यै काचनारोचत क्रिया ॥53 ॥
 अथ ताः कन्यकाः कृत्वा वधूं तां राजकन्यकाम् ।
 मां वरं चावयोर्याने विवाहं क्रीडया व्यधुः ॥54 ॥
 कृतोद्वाहौ ततश्चावां प्रविष्टौ वासकं निशि ।
 निःशङ्का तत्र मां सा च कण्ठे राजसुताग्रहीत् ॥55 ॥
 तत्कालं च मयात्मानं प्रकाश्यालिङ्गितैव सा ।
 सिद्धेष्टहृष्टा दृष्ट्वा मामासील्लज्जानता क्षणम् ॥56 ॥
 प्रवर्तयामि सुरते यावच्चैतां हृतत्रपाम् ।
 तावत्प्रबोधितोऽस्मीह यामिकेन दुरात्मना ॥57 ॥
 तद्द्राघुध नेदानीं चित्रे स्वप्ने च दृष्टया ।
 तया मलयवत्याहं विना जीवितुमुत्सहे ॥58 ॥
 इत्युक्तवन्तं राजानं सत्यस्वप्नमवेत्य सः ।
 भद्रायुधः प्रतीहारस्तमाश्वास्यैवमुक्तवान् ॥59 ॥

कृत्स्नं चेत्स्मर्यते सम्यक्तत्तदालिख्यतां पटे ।
 देवेन नगरं यावदुपायोऽत्र निरूप्यते ॥60 ॥
 इति भद्रायुधेनोक्तः स राजा लिखति स्म तत् ।
 पटे पुरवरं सर्वं तद्वृत्तान्तं च तत्क्षणम् ॥61 ॥
 तं चित्रपटमादाय प्रतीहारस्तदैव सः ।
 मठं नवं कारयित्वा तत्र भित्तावलम्बयत् ॥62 ॥
 मठे चात्राकरोद्दूरदेशादागतबन्दिनाम् ।
 सत्रे षड्रसमाहारं सवस्त्रयुगकाञ्चनम् ॥63 ॥
 यश्चित्रस्थमिदं वेत्ति पुरं कोऽपि स एति चेत् ।
 ममावेद्य इति प्रादादाज्ञां च मठवर्तिनाम् ॥64 ॥
 अत्रान्तरे ग्रीष्मवनं मल्लिकामोदिमारुतम् ।
 छायानिषण्णपथिकं दृष्ट्वा पुष्पितपाटलम् ॥65 ॥
 आजगामाम्बुदश्यामो गुरुगम्भीरगर्जितः ।
 केतकोद्दामदशनः प्रावृत्कालमदद्विपः ॥66 ॥
 तत्कालं तस्य पौरस्त्यपवनेद्ध इवाययौ ।
 वृद्धिं विरहदावाग्निर्विक्रमादित्यभूपतेः ॥67 ॥
 हिमं हारलते देहि सिञ्च चित्राङ्गि चन्दनैः ।
 पत्रलेखेऽब्जिनीपत्रशयनं शिशिरं कुरु ॥68 ॥
 कन्दर्पसेने कदलीदलैर्वितर मारुतम् ।
 इति तद्वारनारीणां तदा शुश्रुविरे गिरः ॥69 ॥
 क्रमाच्च विद्युद्विषमः शशामास्य घनागमः ।
 राज्ञः सविरहज्वालो न पुनर्मदनज्वरः ॥70 ॥
 पान्थाः पथि प्रवर्तन्तां दूरस्थानां प्रवृत्तयः ।
 प्रियाः प्रियाणां ग्रथ्यन्तां जायन्तां तत्समागमाः ॥71 ॥
 इत्यादिशन्तीव ततः कलहंसरवैः शरत् ।
 आगात्फुल्लाम्बुजमुखी सकाशकुसुमस्मिता ॥72 ॥
 तस्यां दूरागतो बन्दी तत्र क्षत्तुकृते मठे ।
 भोजनार्थी विवेशैको निशम्य ख्यातिमेकदा ॥73 ॥
 नाम्ना शम्बरसिद्धिः स मठेऽत्र कृतभोजनः ।
 आत्तवस्त्रयुगश्चित्रपटं भित्तौ ददर्श तम् ॥74 ॥

विभाव्य तत्र चित्रस्थं नगरं तत्स विस्मितः ।
 जगाद बन्दी केनेदमहो आलिखितं पुरम् ॥75॥
 यदेकेन मया दृष्टं लिखितं येन तेन च ।
 द्वितीयेनेति जानेऽहं नापरेणेति केनचित् ॥76॥
 एतच्छ्रुत्वा मठजनेनोक्तं भद्रायुधस्य तत् ।
 तत्तेन स्वयमेत्यासौ बन्दी निन्ये नृपान्तिकम् ॥77॥
 किं त्वया नगरं सत्यं तदृष्टमिति भूभृता ।
 तत्र शम्बरसिद्धिः स परिपृष्टोऽब्रवीदिदम् ॥78॥
 दृष्टं मया तन्मलयपुरं नाम महापुरम् ।
 भ्रमता भुवमुत्तीर्य वारिधिं द्वीपमध्यगम् ॥79॥
 तस्मिन्मलयसिंहाख्यो नगरेऽस्ति महीपतिः ।
 तस्यास्ति नाम्ना मलयवतीत्यनुपमा सुता ॥80॥
 पुरुषद्वेषिणी सा च स्वप्ने जातु कथंचन ।
 विहारनिर्गता कंचिन्महापुरुषमैक्षत ॥81॥
 तेनालोकितमात्रेण स भीत इव तत्क्षणम् ।
 निर्ययौ मनसस्तस्याः पुरुषद्वेषदुर्ग्रहः ॥82॥
 नीत्वाथ तं स्वभवनं स्वप्न एव विधाय च ।
 विवाहं तेन सहिता वासवेश्म विवेश सा ॥83॥
 तत्र तेन समं यावत्सेवते सुरतोत्सवम् ।
 तावद्वासस्थया दास्या सा निशान्ते प्रबोधिता ॥ 84 ॥
 ततो निर्वास्य कोपात्तां दासीं स्वप्नावलोकितम् ।
 तं स्मरन्ती प्रियतमं प्राज्वलद्विरहाग्निना ॥85॥
 अपश्यन्ती गतिं कांचित्स्मरेण विवशीकृता ।
 उत्थायोत्थाय शयने स्रस्ताङ्गी न्यपतत्परम् ॥86॥
 मूकेव भूताक्रान्तेव तमःसम्मोहितेव च ।
 नोत्तरं पृच्छतः किंचिद्ददौ परिजनस्य सा ॥87॥
 विज्ञाय पित्रा मात्रा च ततः पृष्ठातिकृच्छ्रतः ।
 शशांस स्वप्नवृत्तान्तं सा तमाप्तसखीमुखे ॥88॥
 ततः पित्रा कृताश्वासा प्रतिज्ञामकरोच्च सा ।
 विशाम्यग्निं तमाप्नोमि षड्भिर्मासैर्न चेदिति ॥89॥

पञ्च मासा गताश्चाद्य तस्याः को वेत्ति भावि किम् ।
 इतीदृक्त्र वृत्तान्तः पुरे परिगतो मया ॥90॥
 एवं तेन ससंवादमुक्ते शम्बरसिद्धिना ।
 जातार्थनिश्चये हृष्टे राज्ञि भद्रायुधोऽभ्यधात् ॥91॥
 सिद्धं कार्यं स देशो हि त्वद्वशः सनृपः प्रभो ।
 तत्तत्र गम्यतां यावन्मासः षष्ठो न यात्यतः ॥92॥
 इति तेनोदिते क्षत्रा तदाख्यातार्थविस्तरम् ।
 कृत्वा शम्बरसिद्धिं तमग्रे भूरिधनार्चितम् ॥93॥
 रविरश्मिषु सम्पातं पाण्डिमानं धनेषु च ।
 सरित्तोयेषु कार्श्यं च निरस्येव निजं नृपः ॥94॥
 निरातङ्कः स सम्पद्य तदैव दयितां प्रति ।
 प्रतस्थे विक्रमादित्यः सैन्येन लघुना वृतः ॥95॥
 गत्वा क्रमेण तीर्णाब्धिर्यावत्प्राप्तः पुरं स तत् ।
 तावद्दर्श तत्राग्रे जनं कोलाहलाकुलम् ॥96॥
 एषा मलयवत्यद्य पूर्णे षाण्मासिकेऽवधौ ।
 अप्राप्तदयिता वह्निं राजपुत्री विविक्षति ॥97॥
 इत्यत्र शुश्राव जनात्पृष्ठादथ स भूपतिः ।
 उपागाच्च स तं देशं रचिता यत्र तच्चिता ॥98॥
 तद्दर्शनादपसृते जने तत्र ददर्श तम् ।
 दृशोरकाण्डपीयूषवर्षं सा राजकन्यका ॥99॥
 सोऽयं प्राणेश्वरः स्वप्नपरिणेता ममागतः ।
 तत्तातस्योच्यतां शीघ्रमिति स्माह च सा सखीः ॥100॥
 ताभिर्गत्वा तथैवोक्तस्तत्पिता सोऽथ भूपतिः ।
 निर्दुःखो जातहर्षस्तं प्रह्वो राजानमभ्यगात् ॥101॥
 तत्कालमुत्क्षिप्य भुजं तेन शम्बरसिद्धिना ।
 उच्चैरवसरज्ञेन बन्दिनेदमपठ्यत ॥102॥
 जय निजतेजःसाधितभूतगण म्लेच्छविपिनदावाग्ने ।
 जय देव सप्तसागरसीममहीमानिनीनाथ ॥103॥
 जय विजितसकलपार्थिवविनतशिरोधारितातिगुर्वाङ्ग ।
 जय विषमशील विक्रमवारिनिधे विक्रमादित्य ॥104॥

इत्युक्ते बन्दिना तं स विक्रमादित्यमागतम् ।
बुद्ध्वा मलयसिंहोऽत्र राजा जग्राह पादयोः ॥105 ॥
विवेश च कृतातिथ्यस्तेन साकं स्वमन्दिरम् ।
तथा मलयवत्या च दुहित्रा मृत्युमुक्तया ॥106 ॥
ददौ च तां सुतां तस्मै विक्रमादित्यभूभृते ।
स राजा तेन जामात्रा मन्वानः कृतकृत्यताम् ॥107 ॥
यथा चित्रे तथा स्वप्ने यथा स्वप्ने तथैव ताम् ।
विलोक्य साक्षान्मलयवतीमङ्कगतां प्रियाम् ॥108 ॥
स चापि विक्रमादित्यस्तदद्भुतममन्यत ।
फलं शैलसुताकान्तप्रसादसुरशाखिनः ॥109 ॥
अथ तामादाय वधूं निर्वृतिमिव रूपिणीं स मलयवतीम् ।
उत्तीर्य वारिराशिं सोत्कलिकं सुचिरविरहमिव ॥110 ॥
तत्तत्प्राभृतहस्तैः प्रणम्यमानः पदे पदे भूपैः ।
निजनगरीमुज्जयिनीं प्रत्यागाद्विक्रमादित्यः ॥111 ॥
प्रभावमालोक्य च तत्र तस्य तं यथेच्छसत्वीकृतचित्रकौतुकम् ।
विसिस्मिये को न जहर्ष को न वा चकार को वा न महोत्सवं जनः ॥112 ॥

AA bfr egkdfOJhl kenØKVVfojfrsdFkl fjRl kxjs
fo"ke'khyyEcdsr'rh; Lrj 3x%AA

AA prfklLrj 3x%AA

ततोऽस्य विक्रमादित्यस्यैकदात्र कथान्तरे ।
राज्ञी कलिङ्गसेनाख्या सपत्नीरेवमब्रवीत् ॥1 ॥
राज्ञा मलयवत्यर्थे यत्कृतं न तदद्भुतम् ।
सदा विषमशीलो हि देवोऽयं प्रथितो भुवि ॥2 ॥
अहं न परिणीता किमवस्कन्धामुना बलात् ।
मद्रूपां पुत्रिकां दृष्ट्वा गतेनानङ्गनिघ्नताम् ॥3 ॥
एतन्निमित्तमाख्याता कथा कार्पटिकेन या ।
देवसेनेन मे तां वः कथयामि निशम्यताम् ॥4 ॥

परिणीतास्म्यविधिना कथं राज्ञेति दुःखिताम् ।
मामेत्याश्वासयन्नेवं स हि कार्पटिकोऽब्रवीत् ॥5 ॥
मा स्म मन्युं कृथा देवि श्रद्धया परया ह्यसि ।
परिणीतातिसंरम्भादत्रामूलात्कथां शृणु ॥6 ॥
अहं कार्पटिको भूत्वा सेवां कुर्वन्भवत्प्रभोः ।
अटव्यां दूरतोऽद्राक्षं महान्तं क्रोडमेकदा ॥7 ॥
दंष्ट्राविशङ्कटमुखं तमालश्यामलच्छविम् ।
कृष्णपक्षं शशिकलाः खादन्तमिव रूपिणम् ॥8 ॥
एत्य चावेदितो देवि मया राज्ञे तथैव सः ।
राजापि तद्रसाकृष्टो निरगान्मृगयाकृते ॥9 ॥
मृगाटवीं च सम्प्राप्य कुर्वन्च्याघ्रमृगक्षयम् ।
आवेदितं मया दूराद्वराहं पश्यति स्म तम् ॥10 ॥
दृष्ट्वाद्भुतं च तं मत्वा कंचित्कारणसूकरम् ।
रत्नाकराख्यमारोहदश्वमुच्चैःश्रवःसुतम् ॥11 ॥
मध्याह्ने हि सदा भानुर्मुहूर्तं व्योम्नि तिष्ठति ।
तत्कालं चारुणेनाश्वा मुच्यन्ते स्नानपानयोः ॥12 ॥
एकदोच्चैःश्रवा मुक्तस्तदा रविरथाद्वने ।
दृष्टामुपेत्य राज्ञोऽश्वां तं तुरंगमजीजनत् ॥13 ॥
तस्मिन्नारुह्य वाताश्वे जवादन्वपतच्च तम् ।
वराहं विद्रुतं राजा भूमिं दूराद्वीयसीम् ॥14 ॥
तत्र दृष्टिपथात्सोऽस्य नष्टोऽभूत्क्वापि सूकरः ।
उच्चैःश्रवःसुतादश्वात्तस्मादपि जवाधिकः ॥15 ॥
ततो राजा तमप्राप्य दूरोऽज्झितपरिच्छदः ।
एकमन्वागतं दृष्ट्वा मामेवं परिपृष्टवान् ॥16 ॥
अपि जानासि कियतीं वयं भूमिमुपागताः ।
तच्छ्रुत्वा देवि राजानं प्रत्यवोचमहं तदा ॥17 ॥
योजनानां शतानि त्रीण्यागताः स्मः प्रभो इति ।
ततो राजाब्रवीत्तर्हि त्वं पद्भ्यां कथमागतः ॥18 ॥
एवं सविस्मयेनाहं राज्ञा पृष्टस्तमब्रवम् ।
देवास्ति पादलेपो मे वृत्तान्तं चात्र तं शृणु ॥19 ॥

पूर्वं भार्यावियोगेन तीर्थयात्राविनिर्गतः ।
 पथि देवकुलं सायं सोद्यानं प्राप्तवानहम् ।।20।।
 तत्र चाहं निशां नेतुं प्रविष्टोऽपश्यमन्तरे ।
 स्त्रियमेकामतिष्ठं च तत्रातिथ्यादृतस्तया ।।21।।
 रात्रौ च सा नभस्येकमोष्ठं कृत्वापरं भुवि ।
 व्यात्तास्या प्राह मामीदृग्दृष्टं क्वापि मुखं त्वया ।।22।।
 ततोऽसिधेनुमाकृष्य सभ्रूभङ्गमबिभ्यता ।
 त्वया चेदृक्पुमान्दृष्टः क्वापीत्युक्ता मयापि सा ।।23।।
 अथ सौम्यवपुर्भूत्वा साब्रवीन्मामवैकृता ।
 यक्षी चण्ड्यभिधानाहं तुष्टा धैर्येण चास्मि ते ।।24।।
 तदिदानीं मम ब्रूहि किं प्रियं करवाणि ते ।
 एवमुक्तवतीं तां च यक्षिणीमहमभ्यधाम् ।।25।।
 परितुष्टासि चेत्सत्यं तत्कुरुष्व तथा मम ।
 अक्लेशेन यथा तीर्थान्यटेयं निखिलान्यपि ।।26।।
 एवं मयोक्ता यक्षी सा पादलेपामदान्मम ।
 तेन तीर्थान्यहं भ्रान्तस्त्वं चेहाद्यानुधावितः ।।27।।
 तेनैव प्रत्यहं चाहमिहागत्याटवीभुवि ।
 भुक्त्वा फलान्युज्जयिनीमेत्य सेवां करोमि ते ।।28।।
 इति देवि मया राजा विज्ञप्तोऽन्तरमन्यत ।
 प्रसन्नदृष्टिकथितं योग्यं मामनुयायिनम् ।।29।।
 भूयो मयैवं विज्ञप्तो राजा देवानयाम्यहम् ।
 सुस्वादूनि फलानीह भुज्यन्ते प्रभुणा यदि ।।30।।
 नाहं भोक्ष्ये न किञ्चिदुपयुक्तं भवान्युनः ।
 भुङ्क्तां किञ्चित्परिश्रान्त इति राजादिशच्च माम् ।।31।।
 ततः कर्कटिकां तत्र सम्प्राप्याहमभक्षयम् ।
 तया चाजगरोऽभूवमहं भक्षितमात्रया ।।32।।
 दृष्ट्वा चाजगरीभूतमकस्माद्देवि मां तदा ।
 देवो विषमशीलोऽभूत्सविषादः सविस्मयः ।।33।।
 एकाकी चात्र वेतालं भूतकेतुं समस्मरत् ।
 प्राङ्नेत्ररोगादृष्ट्यैव मोचयित्वा वशीकृतम् ।।34।।

स वेतालः स्मृतायातः प्रह्वो राजानमब्रवीत् ।
 किं स्मृतोऽस्मि महाराज निदेशो दीयतामिति ।।35।।
 अथ राजाब्रवीदेतं भद्र कार्पटिकं मम ।
 सहसाजगरीभूतं प्रापय प्रकृतिं निजाम् ।।36।।
 वेतालोऽप्यवदद्देव नास्ति शक्तिर्ममेदृशी ।
 शक्तयो नियता वारि वैद्युताग्निं नु हन्ति किम् ।।37।।
 ततो राजाब्रवीत्तर्हि यामः पल्लीमिमां सखे ।
 अतो बुध्येत भिल्लेभ्यः कोऽप्युपायः कदाचन ।।38।।
 इत्यालोच्य सवेतालो राजा पल्लीं जगाम ताम् ।
 तत्र साभरणं दृष्ट्वा तं चौराः पर्यवारयन् ।।39।।
 किरतां शरवर्षाणि तेषां पञ्चशतानि च ।
 भूतकेतुः स वेतालो राजादेशादभक्षयत् ।।40।।
 शेषाः पलाय्य गत्वा तत्स्वसेनापतयेऽब्रुवन् ।
 एकाकिकेसरी नाम स चागात्सबलः क्रुधा ।।41।।
 भृत्यस्यैकस्य च मुख्यादबुद्ध्वा प्रत्यभिजानतः ।
 सेनापतिः स राजानमेत्य जग्राह पादयोः ।।42।।
 ततो निवेदितात्मानं प्रह्वं प्रत्यभिनन्द्य तम् ।
 पृष्ट्वा च कुशलं राजा सेनापतिमभाषत ।।43।।
 मम कार्पटिको भुक्त्वा फलं कर्कटिकां वने ।
 गतोऽजगरतां तस्य युक्तिं तन्मुक्तये कुरु ।।44।।
 एतद्राजवचः श्रुत्वा सेनापतिरुवाच सः ।
 देवानुगोऽयं मत्पुत्रायास्मै तं दर्शयत्विति ।।45।।
 ततः स तेन तत्पुत्रो वेतालेन सहैत्य माम् ।
 ओषधीरसनस्येन पूर्ववन्मानुषं व्यधात् ।।46।।
 उपागच्छाम च ततो हृष्टा राजान्तिकं वयम् ।
 राजा च तमुदन्तं मां पादानतमबोधयत् ।।47।।
 एकाकिकेसरी सोऽथ भिल्लसेनापतिर्निजम् ।
 गृहमभ्यर्थ्य राजानमनैषीदस्मदन्वितम् ।।48।।
 अपश्याम च तत्तस्य सदनं शबरीवृतम् ।
 दन्तिदन्तचितोत्तुङ्गभित्ति व्याघ्रच्छदच्छवि ।।49।।

वासांसि बर्हिपिच्छानि हारा गुञ्जाफलस्रजः ।
 मातङ्गमदनिष्यन्दो यत्र स्त्रीणां च मण्डनम् ॥50 ॥
 तत्र सेनापतेर्भार्या परिचर्या व्यधात्स्वयम् ।
 राज्ञो मृगमदामोदिवासा मुक्ताद्यलंकृता ॥51 ॥
 स्नातभुक्तस्ततो राजा तत्र वृद्धांस्तदात्मजान् ।
 सेनापतिं च तरुणं दृष्ट्वा तं परिपृष्टवान् ॥52 ॥
 सेनापते ममाश्चर्यमिदं तावत्त्वयोच्यताम् ।
 तरुणस्त्वं त्वदीयास्तु पुत्रा वृद्धा अमी कथम् ॥53 ॥
 एवं स राज्ञा गदितः शबरेन्द्रोऽब्रवीदिदम् ।
 महत्येषा कथा देव श्रूयतां यदि कौतुकम् ॥54 ॥
 चन्द्रस्वामीति विप्रोऽहं मायापुर्या पुरावसम् ।
 सोऽहं वनमगां जातु दार्वर्थं पितुराज्ञया ॥55 ॥
 तत्र मे मर्कटो मार्गं रुद्ध्वातिष्ठदबाधकृत् ।
 आर्तेन चक्षुषा पश्यन्मार्गमन्यं प्रदर्शयत् ॥56 ॥
 न खादत्येष मां तावत्तद्गच्छामि वरं पथा ।
 एतत्प्रदर्श्यमानेन पश्याम्यस्याशयं कपेः ॥57 ॥
 इत्यालोच्याथ तेनाहं मार्गेण प्रस्थितोऽभवम् ।
 स च मे मर्कटोऽग्रेऽग्रे प्रायात्पश्यन्विवृत्य माम् ॥58 ॥
 गत्वा च दूरमारोहज्जम्बूवृक्षं स मर्कटः ।
 तत्पृष्ठे च लताजालघने दृष्टिमदामहम् ॥59 ॥
 लतावलयबद्धाङ्गीमपश्यं चात्र वानरीम् ।
 एतदर्थमनेनाहमानीत इति चाविदम् ॥60 ॥
 ततोऽहं वृक्षमारुह्य वल्लीवलयपाशकम् ।
 छित्त्वा परशुना तं च वानरीं ताममोचयम् ॥61 ॥
 अथावतीर्य वृक्षात्तौ वानरो वानरीं च सा ।
 अवतीर्णस्य मे पादावगृह्णीतामुभावपि ॥62 ॥
 स्थापयित्वा च मे पादलग्नां तां वानरीं क्षणम् ।
 गत्वा स कपिरानीय मह्यं दिव्यमदात्फलम् ॥63 ॥
 तदादाय गृहीत्वाहमिन्धनान्यागमं गृहम् ।
 तत्र चाभक्षयं भार्यासहितस्तत्फलोत्तमम् ॥64 ॥

तस्मिन्भुक्ते जरारोगौ सभार्यस्य गतौ मम ।
 ततस्तत्रोदभूदस्मद्देशे दुर्भिक्षविप्लवः ॥65 ॥
 तदाक्रान्तश्च तत्रत्यो जनो यातो यतस्ततः ।
 अहं दैवादिमं देशं सभार्यः प्राप्तवान्क्रमात् ॥66 ॥
 इह काञ्चनदंष्ट्राख्यस्तदाभूच्छबराधिपः ।
 तस्य शस्त्रमुपादाय भृत्यतामहमाश्रयम् ॥67 ॥
 आयोधनेषु दृष्ट्वा च तेषु तेष्वग्रयायिनम् ।
 सोऽथ काञ्चनदंष्ट्रो मां सेनापत्येऽभिषिक्तवान् ॥68 ॥
 एकभक्त्या च स मया ततोऽप्याराधितः प्रभुः ।
 मह्यमेवान्तकालेऽत्र राज्यं प्रादादपुत्रकः ॥69 ॥
 इहस्थस्य च मे यातान्यब्दानां सप्तविंशतिः ।
 शतानि न जरा चास्ति मम तत्फलभक्षणात् ॥70 ॥
 एवं स्वोदन्तमाख्याय स राजानं सविस्मयम् ।
 एकाकिकेसरी भूयो भिल्लराजो व्यजिज्ञपत् ॥71 ॥
 तन्मया वानरफलाद्यत्कृतं चिरजीवितम् ।
 पूर्णं ततोऽद्य सम्प्राप्तं फलं त्वत्पाददर्शनम् ॥72 ॥
 अतोऽहमर्थये देव यो गृहागमनान्मयि ।
 दर्शितोऽनुग्रहोऽद्यायं परितोषं स नीयताम् ॥73 ॥
 भार्यायां क्षत्रियायां मे देवोत्पन्नास्ति कन्यका ।
 अनन्यतुल्या रूपेण नाम्ना मदनसुन्दरी ॥74 ॥
 कन्यारत्नं च तद्देवादृते नान्यत्र शोभते ।
 तत्प्रयच्छामि तां तुभ्यमुद्वहस्व यथाविधि ॥75 ॥
 दासोऽहं च धनुर्लक्षद्वयेनानुगतः प्रभो ।
 इति तेनार्थितो राजा स तथेत्यन्वमन्यत ॥76 ॥
 शुभे लग्ने च तां तस्य तनयां परिणीतवान् ।
 मुक्ताकस्तूरिकाभारभृतोष्ट्रशतदायिनः ॥77 ॥
 सप्तरात्रमुषित्वा च राजा प्रस्थितवांस्ततः ।
 तया मदनसुन्दर्या सभिल्लानीकया सह ॥78 ॥
 अत्रान्तरेऽश्वापहृते राज्ञि तन्मृगयावने ।
 स्थितमस्मद्बलं विग्नं क्षत्ता भद्रायुधोऽभ्यधात् ॥79 ॥

अलं विषादेनायाति नचिरादेव वः प्रभुः ।
 नास्य दिव्यप्रभावस्य किञ्चिदत्यहितं भवेत् ॥80 ॥
 किं न स्मरथ यद्गत्वा पातालात्परिणीय च ।
 नागकन्यां सुरुपाख्यामेककः स इहागतः ॥81 ॥
 गन्धर्वलोकं गत्वा च वीरः प्रत्यागतस्ततः ।
 तारावलीमुपादाय गन्धर्वाधिपकन्यकाम् ॥82 ॥
 इत्युक्त्वाश्वासिताः सर्वे तेन भद्रायुधेन ते ।
 अतिष्ठन्नटवीद्वारे राज्ञो मार्गावलोकितः ॥83 ॥
 राजापि स्पष्टमार्गेण समं शबरसैनिकैः ।
 तस्यां मदनसुन्दर्यां प्रक्रामन्त्यां यथेच्छया ॥84 ॥
 प्राविशत्तुरगारूढः सवेतालो मया सह ।
 वनं तत्पूर्वदृष्टस्य वराहस्य दिदृक्षया ॥85 ॥
 प्रविष्टस्य च तत्रागाद्वराहस्तस्य सोऽग्रतः ।
 दृष्ट्वैव च स राजा तमवधीत्पञ्चभिः शरैः ॥86 ॥
 हतस्य तस्य धावित्वा वेतालेन विदारितात् ।
 उदराद्देवि निरगादकस्मात्सुभगः पुमान् ॥87 ॥
 को भवानिति यावत्तं राजा पृच्छति विस्मयात् ।
 जङ्गमाद्रिनिभस्तावदागात्तत्र वनद्विपः ॥88 ॥
 आपतन्तं तमारण्यं राजा दृष्ट्वैव कुञ्जरम् ।
 एकेनैव पृषत्केन मर्माहतमपातयत् ॥89 ॥
 तस्यापि पाटितात्तेन वेतालेनोदरान्तरात् ।
 पुरुषो निरगाद्विष्यः स्त्री च सर्वाङ्गसुन्दरी ॥90 ॥
 प्रष्टुकामं च राजानं वराहोदरनिर्गतः ।
 स पुमानवदद्राजन्स्वोदन्तं शृणु वच्मि ते ॥91 ॥
 आवां देवकुमारौ द्वौ भद्राख्योऽयमहं श्शुभः ।
 तौ भ्रमन्तावपश्याव कण्ठं ध्यानस्थितं मुनिम् ॥92 ॥
 गजसूकरयो रूपमावाभ्यां क्रीडया कृतम् ।
 कृत्वा च त्रासितो मोहान्महर्षिः शपति स्म नौ ॥93 ॥
 अटव्यामीदृशावेव भवतं गजसूकरौ ।
 विक्रमादित्यभूपेन हतौ मुक्तिमवाप्स्यथः ॥94 ॥

इत्यावां मुनिशापेन गजसूकरतां गतौ ।
 त्वयाद्य मोचितौ स्त्री तु स्वोदन्तं वक्त्वयं स्वयम् ॥95 ॥
 एतं च सूकरं कण्ठे पृष्ठे च स्पृश वारणम् ।
 कृपाणचर्मणी दिव्ये तवैतौ हि भविष्यतः ॥96 ॥
 इत्युक्त्वा सद्वितीयः स तिरोऽभूतौ च भूपतेः ।
 क्रोडद्विपौ करस्पृष्टौ सम्पन्नौ खड्गचर्मणी ॥97 ॥
 ततः सा स्त्री स्ववृत्तान्तं पृष्ट्वा सत्येवमब्रवीत् ।
 भर्याहं धनदत्ताख्यस्योज्जयिन्यां वणिक्पतेः ॥98 ॥
 सा हर्म्यतलसुप्ताहमागत्यानेन दन्तिना ।
 निगीर्यैवमिहानीता न चास्यान्तः पुमानभूत् ॥99 ॥
 भिन्नोदरात्तु निर्यातः पुमानस्मान्मया सह ।
 एवमुक्तवतीं राजा दीनां तामवदत्स्त्रियम् ॥100 ॥
 धीरा भव गृहान्भर्तुर्भवतीं प्रापयाम्यहम् ।
 समं मदवरोधेन गच्छ प्रक्रमनिर्भया ॥101 ॥
 इत्युक्त्वानाययित्वा तां वेतालेन समर्पयत् ।
 राज्ञ्यै मदनसुन्दर्यै प्रक्रामन्त्यै पृथक्पथा ॥102 ॥
 प्रत्यागतेऽथ वेताले तत्रापश्याव कानने ।
 अकस्माद्राजकन्ये द्वे भूरिभव्यपरिच्छदे ॥103 ॥
 आनाययच्च मां प्रेष्य तयो राजा महत्तरान् ।
 कुतः के कन्यके चैते इति पृष्टाश्च तेऽब्रुवन् ॥104 ॥
 अस्ति द्वीपं कटाहाख्यं केतनं सर्वसम्पदाम् ।
 अन्वर्थनामा तत्रास्ति नृपतिर्गुणसागरः ॥105 ॥
 तस्याजनि महादेव्यां नाम्ना गुणवती सुता ।
 निर्मातुरेव धातुर्या रूपेणाश्चर्यदायिनी ॥106 ॥
 तस्याश्च सिद्धैरादिष्टः सप्तद्वीपेश्वरः पतिः ।
 ततश्च तत्पिता राजा सोऽमन्त्रयत मन्त्रिभिः ॥107 ॥
 विक्रमादित्यदेवोऽस्या योग्यो मे दुहितुर्वरः ।
 तत्पाणिग्रहणायैतां तस्यैव प्रेषयाम्यहम् ॥108 ॥
 इति संमन्थ्य वहने जलधौ सपरिच्छदाम् ।
 आरोप्य सधनां तां च स राजा व्यसृजत्सुताम् ॥109 ॥

सुवर्णद्वीपनिकटं प्राप्तं दैवान्यगीर्यत ।
 सराजकन्यं सजनं वहनं शफरेण तत् ॥110 ॥
 स चाब्धिवेलया नीत्वा विधिगत्येव रोधसि ।
 क्षिप्तस्तद्वीपसंलग्नो महामत्स्योऽवसन्नवान् ॥111 ॥
 दृष्ट्वैव तत्र धावित्वा नानाप्रहरणो जनः ।
 व्यापाद्याश्चर्यमत्स्यस्य तस्योदरमपाटयत् ॥112 ॥
 निरगाच्च ततः पूर्णं जनैस्तद्वहनं महत् ।
 बुद्ध्वैतद्विस्मयादागात्तत्र तद्वीपभूपतिः ॥113 ॥
 स चन्द्रशेखरो राजा गुणसागरभूतः ।
 स्यालो जनाद्वहनगाद्यथातत्त्वमबुध्यत ॥114 ॥
 ततो बुद्ध्वा गुणवतीं भागिनेयीं स तां नृपः ।
 प्रवेश्य राजधानीं स्वामानन्दादुत्सवं व्यधात् ॥115 ॥
 अन्येद्युश्च सुतां चन्द्रवतीं नाम स भूपतिः ।
 विक्रमादित्यदेवाय दातुं प्राक्परिकल्पिताम् ॥116 ॥
 गुणवत्या तथा साकं तत्कृते विभवोत्तराम् ।
 प्रास्थापयत्प्रवहणे सुमुहूर्तेऽधिरोपिताम् ॥117 ॥
 ते इमे तीर्णजलधी प्रक्रामन्त्यौ क्रमादिह ।
 राजकन्ये उभे प्राप्ते वयं परिकरोऽनयोः ॥118 ॥
 इह प्राप्तांश्च नः क्रोडवारणावभ्यधावताम् ।
 सुमहान्तौ ततोऽस्माभिरेवमाक्रन्दितं प्रभो ॥119 ॥
 आगते विक्रमादित्यदेवस्यैते स्वयंवरे ।
 कन्यके लोकपालास्तत्तस्य धर्मेण रक्षत ॥120 ॥
 तच्छ्रुत्वावोचतां तौ नः क्रोडेभौ व्यक्तया गिरा ।
 धीरा भवत भीर्नास्ति राजनामग्रहेण वः ॥121 ॥
 इहैव तं च राजानमागतं द्रक्ष्यथाधुना ।
 इत्युक्त्वा तौ गजक्रोडौ दिव्यौ कौचिदितो गतौ ॥122 ॥
 एषोऽस्मदीयवृत्तान्त इत्युक्ते तैर्महत्तरैः ।
 अयं स एव राजेति देवि तानहमब्रवम् ॥123 ॥
 ततस्ते पादपतिता हृष्टास्ते राजकन्यके ।
 तस्मै गुणवतीचन्द्रवत्यौ राज्ञे समर्पयन् ॥124 ॥

राजाप्यादिश्य वेतालं सुन्दर्यो ते अनाययत् ।
 सार्धं मदनसुन्दर्या समं तिस्रोऽपि यान्त्विति ॥125 ॥
 स्वयं च तेन वेतालेनागतेन ततः क्षणात् ।
 मया च सहितः प्रायादुत्पथेनैव देवि सः ॥126 ॥
 गच्छतां च वनेऽस्माकं रविरस्तमुपागमत् ।
 तत्कालं तत्र चास्माभिरश्रावि मुरजध्वनिः ॥127 ॥
 कुतो मुरजशब्दोऽयमिति राजनि पृच्छति ।
 वेतालः सोऽब्रवीद्देवकुलं देवात्र विद्यते ॥128 ॥
 दिव्यकौतूहलं तच्च निर्मितं विश्वकर्मणा ।
 तत्रैष मुरजध्वानः सन्ध्याप्रेक्षणके प्रभो ॥129 ॥
 इत्युक्तवान्स वेतालो राजा चाहं च कौतुकात् ।
 तत्रागच्छाम संयम्य तुरगं प्रविशाम च ॥130 ॥
 अपश्यामार्चितं चात्र तार्क्ष्यरत्नमयं महत् ।
 लिङ्गं तदग्रे चोदग्रदीपकं प्रेक्षणीयकम् ॥131 ॥
 अनृत्यन्सुचिरं तत्र दिव्यरूपा वरस्त्रियः ।
 चतुर्विधेन वाद्येन गानगान्धर्वयोगिना ॥132 ॥
 प्रेक्ष्यान्ते दृष्टमस्माभिस्तत्राश्चर्यं प्रविश्य यत् ।
 स्तम्भस्थपुत्रिकास्वन्तर्नर्तक्यो लयमागताः ॥133 ॥
 गायना वादकाद्याश्च चित्रस्थपुरुषेष्वपि ।
 तद्दृष्ट्वा विस्मिते राज्ञि स वेतालोऽब्रवीदिदम् ॥134 ॥
 मायेयमीदृशी दिव्या विश्वकर्मकृताक्षया ।
 सततं हि भवत्येतत्सन्ध्ययोरुभयोरपि ॥135 ॥
 इत्युक्ते तेन तत्रान्तर्भ्रमन्तौ वयमेकतः ।
 सविशेषामपश्याम रूपेण स्तम्भपुत्रिकाम् ॥136 ॥
 राजा तु तां विलोक्यैव तल्लावण्यविमोहितः ।
 शून्यः स्तब्धः क्षणं सोऽपि स्तम्भोत्कीर्ण इवाभवत् ॥137 ॥
 अब्रवीच्च न पश्यामि रूपेणानेन चेदहम् ।
 सजीवामङ्गनां तन्मे किं राज्यं किं च जीवितम् ॥138 ॥
 एतच्छ्रुत्वा स वेतालोऽवादीत्रैतद्दुरासदम् ।
 कलिङ्गसेना नामास्ति कलिङ्गाधिपतेः सुता ॥139 ॥

तां दृष्ट्वा रूपकारेण तद्रूपघटनेप्सुना ।
 वर्धमानपुरीयेण कृतेयं सालभञ्जिका ॥140 ॥
 तद्गतो ज्जयिनीं तस्मात्कालिङ्गान्नृपतेः प्रभो ।
 तामर्थयस्व तत्कन्यां विक्रमेण हराथवा ॥141 ॥
 इति वेतालवचनं न्यधाद्राजा तथा हृदि ।
 ततो नीत्वात्र तां रात्रिं प्रातः सम्प्रस्थिता वयम् ॥142 ॥
 यान्तश्चाशोकवृक्षस्य तलेऽपश्याम पूरुषौ ।
 भव्यौ द्वौ तौ च राजानमुत्थायानमतां ततः ॥143 ॥
 कौ युवां किमरण्यस्थाविति राज्ञोक्तयोस्तयोः ।
 एको वक्ति स्म देवैतच्छ्रूयतां कथयाम्यहम् ॥144 ॥
 धनदत्ताभिधानोऽहमुज्जयिन्यां वणिक्सुतः ।
 सोऽहं हर्म्यतले जातु संसुप्तो भार्यया सह ॥145 ॥
 प्रातः प्रबुध्य पश्यामि यावत्सा तत्र नास्ति मे ।
 भार्या हर्म्ये न चान्येषु प्रासादोपवनादिषु ॥146 ॥
 न तस्याश्चित्तमन्यादृक्कलृप्तोऽत्र प्रत्ययस्तथा ।
 यदि साध्यस्मि तदियं न म्लायेद्ध्रुवमित्यसौ ॥147 ॥
 माला मह्यं तथा दत्ता सा चाम्लानैव वर्तते ।
 तन्न जाने क्व याता सा नीता भूतादिना नु किम् ॥148 ॥
 इति संचिन्तयंश्चिन्वन्नाक्रन्दन्विलपन्रुदन् ।
 अतिष्ठं तद्वियोगाग्निज्वलितोऽहमभोजनः ॥149 ॥
 बान्धवाश्वासितः किञ्चित्कृताहारोऽथ दुःखितः ।
 ब्राह्मणान्भोजयन्नासं देवागारे कृतस्थितिः ॥150 ॥
 तत्र जातु परिश्रान्तो विप्रो मामयमभ्यधात् ।
 मया विश्रमितश्चायं स्नानाहारादिना तदा ॥151 ॥
 कुतस्त्वमिति पृष्टश्च भुक्तोत्तरमसौ मया ।
 वाराणसीसमीपस्थाद्ग्रामादस्मीत्यभाषत ॥152 ॥
 मदभृत्याख्यातमद्दुःखस्तत एषोऽब्रवीत्पुनः ।
 आत्मावसादितो मित्र किमनुद्योगिना त्वया ॥153 ॥
 व्यवसायी हि दुष्प्रापमपि प्राप्नोति तत्सखे ।
 उत्तिष्ठ तव भार्या तामन्विष्यावः सखास्मि ते ॥154 ॥

कयं सान्विष्यते यस्या दिङ्मात्रं नैव बुध्यते ।
 इत्युक्तवन्तमथ मां प्रीत्या भूयोऽब्रवीदयम् ॥155 ॥
 मैवं किं केसटो न प्रागसंभाव्यसमागमाम् ।
 प्राप रूपवतीं भार्या तथा चैतत्कर्थां शृणु ॥156 ॥
 पुरे पाटलिपुत्रेऽभूद्धनादयब्राह्मणात्मजः ।
 केसटाख्यो द्विजयुवा रूपे काम इवापरः ॥157 ॥
 स भार्या सदृशीं प्रेषुः पित्रोरविदितो गृहात् ।
 निर्गत्य देशान्बभ्राम तांस्तांस्तीर्थापदेशतः ॥158 ॥
 क्रमाच्च नर्मदातीरं प्राप्तो जातु ददर्श सः ।
 महान्तमागतं तेन जन्ययात्राजनं पथा ॥159 ॥
 दृष्ट्वा च दूरात्तन्मध्यादेत्यैकस्तं द्विजाग्रणीः ।
 सम्भाष्य केसटं वृद्धः प्राह सप्रणयं रहः ॥160 ॥
 त्वत्तोऽहमर्थये किञ्चिल्लीलासाध्यं च तत्तव ।
 मम तूपकृतिः पूर्णा करोषि यदि वच्मि तत् ॥161 ॥
 तच्छ्रुत्वा केसटोऽवादीदार्यं शक्यं ब्रवीषि चेत् ।
 तन्निश्चितं मया कार्यं भवतूपकृतिस्तव ॥162 ॥
 ततो वृद्धद्विजोऽवाच्छृणु पुत्रास्ति मे सुतः ।
 स चाग्रणीर्विरूपाणां सुरुपाणां भवानिव ॥163 ॥
 दन्तुरश्चिपिटघ्राणः कृष्णः कातरलोचनः ।
 पृथूदरो वक्रपादः शूर्पकर्णपुटश्च सः ॥164 ॥
 तादृशस्य कृते स्नेहात्कृत्वा रूपाभिर्वर्णनम् ।
 ब्राह्मणाद्रत्नदत्ताख्यात्कन्यका याचिता मया ॥165 ॥
 सा च रूपवती नाम पित्रा दातुं प्रतिश्रुता ।
 तेनान्वर्थाभिधा तस्मै सोऽद्य पाणिग्रहस्तयोः ॥166 ॥
 तदर्थमागता एते वयं दृष्टे च मत्सुते ।
 न सम्बन्धी सुतां दद्यादारम्भोऽयं वृथा भवेत् ॥167 ॥
 उपायं ध्यायता चात्र मया लब्धो भवानिह ।
 तद्वाचा प्रतिपन्नं द्रागिदं मे वाञ्छितं कुरु ॥168 ॥
 अस्माभिः सममागत्य कन्यां तां परिणीय च ।
 मत्पुत्राय प्रयच्छाद्य वध्वास्त्वं ह्यनुरूपकः ॥169 ॥

तच्छ्रुत्वा तं तथेत्युक्तवन्तमादाय केसटम् ।
 नौभिः स नर्मदां तीर्त्वा पारं वृद्धद्विजो ययौ ॥170 ॥
 प्राप्य चैकं पुरं सोऽथ व्यश्रमत्सानुगो बहिः ।
 आकाशपथिकोऽस्ताद्रौ तावदर्कोऽप्युपाविशत् ॥171 ॥
 प्रसर्पति ततो ध्वान्ते जलोपान्ते स केसटः ।
 उपस्प्रष्टुं गतोऽद्रक्षीद्राक्षसं घोरमुत्थितम् ॥172 ॥
 भक्षयाम्यहमेष त्वां क्व मे केसट यास्यसि ।
 इत्युक्तवन्तं च स तं राक्षसं केसटोऽभ्यधात् ॥173 ॥
 मा स्म मां भक्षयेस्तावत्वामुपैष्याम्यहं पुनः ।
 ब्राह्मणस्य प्रतिज्ञातं कार्यं निर्वाह्य निश्चितम् ॥174 ॥
 तच्छ्रुत्वा कारयित्वा च शपथं सोऽथ राक्षसः ।
 मुमोच केसटं सोऽपि तज्जन्यबलकं ययौ ॥175 ॥
 ततः स वृद्धविप्रस्तं वरमण्डनमण्डितम् ।
 आदाय केसटं जन्यैः समं तत्प्राविशत्पुरम् ॥176 ॥
 तत्र सज्जितवेदीकं रत्नदत्तगृहं च सः ।
 प्रावेशयत्केसटं तं विविधातोद्यनादितम् ॥177 ॥
 केसटश्च स तां सम्यगुपयेमे वराननाम् ।
 कन्यां रूपवतीं तत्र पित्रा प्रत्तमहाधनाम् ॥178 ॥
 ननन्द स्त्रीजनश्चात्र तुल्यौ वीक्ष्य वधूवरौ ।
 सा च रूपवती प्राप्तं दृष्ट्वा तं तादृशं वरम् ॥179 ॥
 तस्याः सख्योऽपि तं दृष्ट्वा जज्ञिरे जातमन्यथाः ।
 विषादविस्मयाक्रान्तः स त्वासीत्केसटस्तदा ॥180 ॥
 रात्रौ च शयनीये तं चिन्तासपराक्तं पराङ्मुखम् ।
 प्रियं रूपवतीं दृष्ट्वा व्याजसुप्तं चकार सा ॥181 ॥
 निशीथे सोऽथ सुप्तां तां मत्वा निर्गत्य केसटः ।
 राक्षसस्यान्तिकं तस्य सत्यं पालयितुं ययौ ॥182 ॥
 सापि रूपवती स्वैरमुत्थायानुपलक्षिता ।
 सकौतुका तं भर्तारमन्वियाय पतिव्रता ॥183 ॥
 प्राप्तं च केसटं तत्र राक्षसः स जगाद तम् ।
 साधु भोः पालितं सत्यं महासत्त्वोऽसि केसट ॥184 ॥

पुरं पाटलिपुत्रं तद्देसटश्च पिता त्वया ।
 पवित्रितस्तदायाहि यावत्त्वां भक्षयाम्यहम् ॥185 ॥
 तच्छ्रुत्वा सहसोपेत्य रूपवत्यभ्यधादिदम् ।
 मां खाद भक्षिते ह्यस्मिन्पत्यौ का मे गतिर्भवेत् ॥186 ॥
 भिक्षा ते गतिरित्युक्ते रक्षसा साप्युवाच तम् ।
 को मे भिक्षां महासत्त्व दास्यतीह स्त्रिया इति ॥187 ॥
 यो न दास्यति भिक्षां ते याचितस्तस्य यास्यति ।
 शतधा शिर इत्युक्ते राक्षसेन च साब्रवीत् ॥188 ॥
 तर्हि त्वमेव मे देहि भर्तृभिक्षामिमामिति ।
 अददच्च ममाराशु शीर्णमूर्धा स राक्षसः ॥189 ॥
 साथ केसटमादाय तच्चारित्रातिविस्मितम् ।
 आगाद्रूपवती वेश्म तावच्चाक्षीयत क्षपा ॥190 ॥
 श्वोभूते च कृताहारं तज्जन्यबलकं ततः ।
 प्रस्थाय नर्मदातीरं सम्प्राप सवधूवरम् ॥191 ॥
 ततो वधूं रूपवतीं नावमारोप्य सानुगाम् ।
 स मुख्यवृद्धविप्रोऽन्यां नावमारोहदात्मना ॥192 ॥
 केसटं तु पृथङ्नावि स्वीकृत्याभरणादि सः ।
 आरोपयच्छठः कृत्वा नाविकैः सह संविदम् ॥193 ॥
 ततः स सवधूजन्यः पारं तीर्त्वा ययौ द्विजः ।
 नदीमध्येन दूरं तु दाशैर्निन्ये स केसटः ॥194 ॥
 तत्र क्षिप्त्वा महत्योघे नावं तां केसटं च ते ।
 वृद्धद्विजादात्तधना बाहुतीर्णापगा ययुः ॥195 ॥
 केसटस्तु सनौकोऽपि नद्या हृत्वोत्तरङ्गया ।
 क्षिप्तोऽम्बुधौ वातवशात्त्र्यस्तोऽभूदूर्मिणा तटे ॥196 ॥
 तत्रायुषः सशेषत्वात्समाश्वस्य व्यचिन्तयत् ।
 अहो प्रत्युपकारोऽयं कृतस्तेन द्विजेन मे ॥197 ॥
 किं वा तेनैव नाख्याता तस्य निर्धर्ममूर्खता ।
 युनक्ति भार्यया पुत्रं परेण परिणाय्य यत् ॥198 ॥
 इति संचिन्तयन्त्यावदास्ते तत्र स विह्वलः ।
 विचरत्खेचरीचक्रा तावत्तस्याययौ क्षपा ॥199 ॥

तस्यां विनिद्रस्तुर्ये स यामे कलकलं दिवि ।
 श्रुत्वा ददर्श सुभगं खाद्भ्रष्टं पुरुषं पुरः ॥200 ॥
 त्रस्तश्चिरादविकृतं तं विभाव्य स केसटः ।
 को भवानिति पप्रच्छ ततस्तं सोऽब्रवीत्पुमान् ॥201 ॥
 त्वं मे ब्रूहि भवान्कोऽत्र ततो वक्ष्याम्यहं तव ।
 तच्छ्रुत्वा केसटस्तस्मै स्ववृत्तान्तमवर्णयत् ॥202 ॥
 ततः स पुरुषोऽवादीत्तुल्यावस्थोऽसि तर्हि मे ।
 तदिदानीं स्ववृत्तान्तं तव वच्मि सखे शृणु ॥203 ॥
 अस्ति वेणानदीतीरे पुरं रत्नपुराख्यया ।
 तत्र कन्दर्पनामाहमाद्यपुत्रो गृही द्विजः ॥204 ॥
 सोऽहं प्रदोषे तोयार्थी वेणामवतरन्नदीम् ।
 तस्यां स्खलित्वा पतितो वार्योघेण हतोऽभवम् ॥205 ॥
 दूरं नीत्वा तया राष्या तेनाहं च दिनागमे ।
 आयुर्बलात्कच्छगते तरुखण्डे निवेशितः ॥206 ॥
 शाखावलम्बेनारुह्य रोधस्याश्वस्य चान्तिके ।
 मातृदेवगृहं शून्यं तत्रापश्यमहं महत् ॥207 ॥
 तस्मिन्प्रविश्य दृष्ट्वान्तः स्फुरन्तीरिव तेजसा ।
 मातृरहं शान्तभयो नत्वा स्तुत्वा व्यजिज्ञपम् ॥208 ॥
 भगवत्यः परित्राणं कुरुध्वं कृपणस्य मे ।
 अहमेष हि युष्माकं प्राप्तोऽद्य शरणागतः ॥209 ॥
 इति विज्ञाप्य नद्योघपरिक्लिष्टस्य तत्र मे ।
 विश्राम्यतः शनैर्मित्र विश्रान्तिं वासरोऽप्यगात् ॥210 ॥
 आगात्तारास्थिमालादया ज्योत्स्नाभूतिसिता ततः ।
 शशिशुभ्रकपाला च रौद्री रजनितापसी ॥211 ॥
 तत्कालं चात्र जानामि ततो मातृगणान्तरात् ।
 निर्गत्य योगिनीग्रामः परस्परमभाषत ॥212 ॥
 अद्य चक्रपुरेऽस्माभिर्गन्तव्यं चक्रमेलके ।
 इह च श्वापदाकीर्णे रक्षास्य ब्राह्मणस्य का ॥213 ॥
 तदेष स्थाप्यतां नीत्वा यत्रैतस्य शुभं भवेत् ।
 आनेष्यामः पुनश्चैनमेषोऽस्माञ्शरणं श्रितः ॥214 ॥

इत्युक्त्वा खेन नीत्वा मामलंकृत्य निधाय च ।
 पुरे क्वापि गृहे कस्याप्याढ्यविप्रस्य ता गताः ॥215 ॥
 तत्र पश्यामि यावच्च कन्योद्वाहाय सज्जिता ।
 वेदो लग्नश्च सम्प्राप्तो न जन्यबलकं पुनः ॥216 ॥
 ततस्तत्र स्थितं दिव्यवरवेषं विलोक्य माम् ।
 अयं तावद्वरः प्राप्त इति सर्वोऽब्रवीज्जनः ॥217 ॥
 ततो नीत्वैव मां वेदीमानीयालंकृतां सुताम् ।
 गृहस्थोऽत्र स विप्रस्तां मह्यं प्रादाद्यथाविधि ॥218 ॥
 दिष्ट्या तुल्यवरप्राप्तेरस्याः सुमनसोऽधुना ।
 सौन्दर्यं सफलीभूतमित्यन्योन्यं स्त्रियोऽभ्यधुः ॥219 ॥
 ततः कृतविवाहोऽत्र तया सुमनसा सह ।
 महोपचारसुखितः प्रासादे सुप्तवानहम् ॥220 ॥
 अथास्मिन्पश्चिमे यामे योगिन्यश्चक्रमेलकात् ।
 आगत्य ताः स्वयुक्त्या मां हृत्वैवोदपतन्नभः ॥221 ॥
 यान्तीनां नभसा तासामन्याभिर्मज्जिहीर्षुभिः ।
 साकं प्रवृत्तयुद्धानामहं हस्तादिह च्युतः ॥222 ॥
 न च तद्वेच्चि नगरं यत्र सा सुमना मया ।
 परिणीता न जाने च किमिदानीं भविष्यति ॥223 ॥
 इत्येष विधिना दत्ता या मे दुःखपरम्परा ।
 सा सुखान्तैव सम्पन्ना ममाद्य त्वत्समागमात् ॥224 ॥
 इत्युक्तवन्तं कन्दर्पं केसटस्तमुवाच सः ।
 मा भैषीर्मित्र नेदानीं योगिन्यः प्रभवन्ति ते ॥225 ॥
 अस्ति मे तादृशी शक्तिः काप्यप्रतिहता यतः ।
 सहैव च भ्रमिष्यावो विधिः श्रेयो विधास्यति ॥226 ॥
 अन्योन्यं वदतोरेवं व्यतीयाय तयोर्निशा ।
 प्रातस्ततः प्रयातः स्म तौ च तीर्णाम्बुधी उभौ ॥227 ॥
 क्रमाद्भीमपुरं नाम नगरं प्रापतुश्च तौ ।
 सह केसटकन्दर्पो रत्ननद्याः समीपगम् ॥228 ॥
 तत्र तौ तन्नदीतीरे श्रुत्वा कलकलं तदा ।
 गत्वा ददृशतुर्मत्स्यमापूरिततटद्वयम् ॥229 ॥

समुद्रवेलया क्षिप्तं बद्धं कायमहत्तया ।
मांसार्थिभिः पाट्यमानं नानाशस्त्रकरैर्जनैः ।।230 ।।
पाट्यमानस्य निरगादुदरात्तस्य चाङ्गना ।
साश्चर्यजनदृष्टा च सा भीताशिश्रियत्तटम् ।।231 ।।
ततस्तां वीक्ष्य कन्दर्पो हृष्टोऽभाषत केसटम् ।
वयस्य सेयं सुमना यामहं परिणीतवान् ।।232 ।।
न जाने पुनरेतस्या वासो मत्स्योदरे कथम् ।
तत्तूष्णीमिह तिष्ठावो यावद्व्यक्तिर्भविष्यति ।।233 ।।
तथेति केसटेनोक्ते तत्रावस्थितयोस्तयोः ।
का त्वं किमेतदिति सा पृष्टाभूत्सुमना जनैः ।।234 ।।
ततः कृच्छ्रेण सावादीदहं रत्नाकरे पुरे ।
जयदत्ताभिधानस्य विप्रचूडामणेः सुता ।।235 ।।
सुमना इति नाम्नास्मि साहं भव्येन केनचित् ।
परिणीतानुरुपेण निशि ब्राह्मणसूनुना ।।236 ।।
तद्रात्रावेव सुप्ताया गतः क्वापि स मे पतिः ।
यत्नान्विष्टोऽपि मत्पित्रा न च प्राप्तः कुतोऽपि सः ।।237 ।।
ततोऽस्मि पतिता नद्यां तद्वियोगाग्निशान्तये ।
निगीर्णानेन मत्स्येन सम्प्राप्तेह विधेर्वशात् ।।238 ।।
इति तां वादिनीमेवं निर्गत्य जनमध्यतः ।
आश्लिष्य यज्ञस्वामीति विप्र एकोऽब्रवीदिदम् ।।239 ।।
एह्येहि पुत्रि भवती भगिनीदुहिता मम ।
यज्ञस्वामीति हि भ्राता सोदर्यो मातुरस्मि ते ।।240 ।।
तच्छ्रुत्वा मुखमुदघाट्य सुमनास्तमवेक्ष्य सा ।
मातुलं प्रत्यभिज्ञाय सास्ना जग्राह पादयोः ।।241 ।।
क्षणं त्यक्त्वाश्रु चावादीत्तं तु काष्ठानि देहि मे ।
आर्यपुत्रवियुक्ताया अग्नेरन्या न मे गतिः ।।242 ।।
बोध्यमानापि सा तस्मान्निश्चयान्न चचाल यत् ।
तत्परीक्षिततच्चित्तः कन्दर्पस्तामुपाययौ ।।243 ।।
तमुपागतमालोक्य प्रत्यभिज्ञाय धीमती ।
सुमनाः पादयोस्तस्य पतित्वा प्ररुरोद सा ।।244 ।।

जनेन पृच्छ्यमाना च तेन सा मातुलेन च ।
अयं स मम भर्तेति निजगाद मनस्विनी ।।245 ।।
ततः सर्वेषु हृष्टेषु यज्ञस्वामी निनाय ताम् ।
स्वगृहं तत्पतिं तं च कन्दर्पं केसटान्वितम् ।।246 ।।
तत्र तान्वर्णितस्वस्ववृत्तान्तान्सकुटुम्बकः ।
उपचारेण महता प्रीत्या परिचचार सः ।।247 ।।
गतेष्वहःसु कन्दर्पं केसटोऽत्र जगाद तम् ।
अभीष्टभार्याप्राप्त्या त्वं प्राप्तस्तावत्कृतार्थताम् ।।248 ।।
तत्सभार्योऽधुना गच्छ निजं रत्नपुरं पुरम् ।
अकृतार्थो गमिष्यामि न स्वदेशमहं पुनः ।।249 ।।
तीर्थान्येव भ्रमन्देहं क्षपयिष्याम्यमुं सखे ।
तच्छ्रुत्वा केसटं यज्ञस्वामी तत्र स्थितोऽवदत् ।।250 ।।
किमुद्वेगाद्वदस्येवं सर्वं जीवद्विराप्यते ।
कुसुमायुधवृत्तान्तं तथा च शृणु वच्मि ते ।।251 ।।
देवस्वामीत्यभूच्चण्डपुराख्ये नगरे द्विजः ।
तस्यातिरूपा कन्याभमन्नाम्ना कमललोचना ।।252 ।।
शिष्यश्च विप्रपुत्रोऽभून्नाम्नास्य कुसुमायुधः ।
स शिष्यः सा च तत्कन्या प्रीतावास्तां परस्परम् ।।253 ।।
एकदा निश्चिता दातुं पित्रान्यस्मै वराय सा ।
कन्या सखीमुखेनाशु तं स्माह कुसुमायुधम् ।।254 ।।
तातो मां दातुमन्यस्मै प्रतिपन्नो भवांश्च मे ।
पूर्वसंकल्पितो भर्ता तद्युक्त्या हर मामितः ।।255 ।।
ततोऽस्याः सोऽपहाराय कृतसंविदबहिर्निशि ।
अस्थापयद्वेगसरीं भृत्यं च कुसुमायुधः ।।256 ।।
स्वैरं निर्गत्य चारूढा तस्यां भृत्येन तेन सा ।
न तस्य निकटं निन्दे निन्दे स्वीकर्तुमन्यतः ।।257 ।।
दूरं नीता च सा तेन रात्रौ कमललोचना ।
प्राथैकं नगरं प्रातस्तमाह स्म च सा सती ।।258 ।।
त्वत्स्वामी क्व स मद्भर्ता तं प्रापयसि किं न माम् ।
तच्छ्रुत्वा स शठोऽवादीदेकिकां तां विदेशगाम् ।।259 ।।

अहं त्वां परिणेष्यामि किं तेन स कुतोऽधुना ।
 श्रुत्वैतत्साब्रवीत्प्राज्ञा त्वं हि मे सुतरां प्रियः ॥260 ॥
 त्वमेवात्र न किं सद्यः परिणेष्याऽस्यहो मम ।
 ॥261 ॥
 ततस्तां नगरोद्याने स्थापयित्यैव दुर्मतिः ।
 स विवाहोपकरणं जगामानेतुमापणम् ॥262 ॥
 तावत्पलाय्य गत्वा सा कन्या वेगसरीयुता ।
 मालाकारस्य कस्यापि वृद्धस्य प्राविशद्गृहम् ॥263 ॥
 तत्रोक्तनिजवृत्तान्ता तस्थौ सा तेन सत्कृता ।
 सोऽप्यप्राप्य कुभृत्यस्तामुद्यानाद्विमुखो ययौ ॥264 ॥
 गत्वा चोवाच पृच्छन्तं प्रभुं तं कुसुमायुधम् ।
 ऋजुस्त्वं वेत्सि न स्त्रीणां कुटिलानां हि चेष्टितम् ॥265 ॥
 नैव सा निरगतावददृष्टो यावदहं जनैः ।
 तत्रान्यैस्तैरवष्टब्धो हृता वेगसरी च सा ॥266 ॥
 दैवात्कथंचिदधुना पलाय्याहमिहागतः ।
 तच्छ्रुत्वा विमृशंस्तूष्णीमासीत्स कुसुमायुधः ॥267 ॥
 एकदा प्रेरितः पित्रा विवाहाय व्रजंश्च सः ।
 तत्राप नगरं यत्र स्थिता कमललोचना ॥268 ॥
 तत्रावासितजन्यौघमुद्याने निकटस्थिते ।
 एकं भ्रमन्तं कमललोचना सा ददर्श तम् ॥269 ॥
 शशंस मालाकाराय तस्मै सा यद्गृहे स्थिता ।
 सोऽपि गत्वोक्तवृत्तान्तस्तं तस्याः पतिमानयत् ॥270 ॥
 तत्सम्भूतोपकरणस्ततः सुचिरकाङ्क्षितः ।
 वरवध्वोस्तयोः सद्यो विवाहो निरवर्तत ॥271 ॥
 अथ तं पापभृत्यं स निगृह्य कुसुमायुधः ।
 परिणीयापि कमललोचनाप्राप्तिकारणम् ॥272 ॥
 द्वितीयामपि कन्यां तां यद्विवाहार्थमागमत् ।
 ताभ्यां वधूभ्यां सहितो हृष्टः स्वं देशमाययौ ॥273 ॥
 इत्थं भवति भव्यानामचिन्त्योऽपि समागमः ।
 तत्केसट त्वमप्येवमचिरात्प्राप्स्यसि प्रियाम् ॥274 ॥

एवं तेनोदिते यज्ञस्वामिना तस्थुरस्य ते ।
 कान्यप्यहानि कन्दर्पसुमनःकेसटा गृहे ॥275 ॥
 प्रस्थिताश्च स्वदेशं ते ततः प्राप्य महाटवीम् ।
 जङ्गिरेऽन्योन्यविभ्रष्टा वन्येभापातसम्भ्रमात् ॥276 ॥
 तेषां स केसटो गच्छन्नेकाकी दुःखितः क्रमात् ।
 प्राप्य काशिपुरीं मित्रं कन्दर्पं प्राप्तवांस्ततः ॥277 ॥
 तेन साकं ययौ तच्च निजं पाटलिपुत्रकम् ।
 पित्राभिनन्दितस्तत्र कंचित्कालमुवास सः ॥278 ॥
 अवर्णयद्द्रूपवतीविवाहप्रभृति स्वकम् ।
 कन्दर्पोदन्तपर्यन्तं पित्रोर्वृत्तान्तमत्र सः ॥279 ॥
 अत्रान्तरे सा सुमना हस्तिभीतिपलायिता ।
 वनं विवेश तत्रास्या ययौ चास्तं दिवाकरः ॥280 ॥
 हा हार्यपुत्र हा तात हाम्बेत्यत्र निशागमे ।
 शोचन्ती दावदहने क्षेप्तुं तनुमियेष सा ॥281 ॥
 तावत्तद्योगिनीचक्रं कन्दर्पस्य कृपापरम् ।
 योगिनीस्ता विजित्यान्यास्तत्रापायतनं निजम् ॥282 ॥
 तत्र संसृत्य कन्दर्पं स्वविज्ञानादवेत्य च ।
 भार्या तस्य वने भ्रष्टां मन्त्रयांचक्रिरे च ताः ॥283 ॥
 कन्दर्पः पुरुषो धीरो वाञ्छितं प्राप्नुयात्स्वयम् ।
 तद्भार्या तु वने भ्रष्टा ध्रुवं बाला त्यजेदसून् ॥284 ॥
 तत्तां रत्नपुरं नीत्वा क्षिपामो येन तत्र सा ।
 कन्दर्पस्य पितुर्गेहे सपत्न्या सह तिष्ठति ॥285 ॥
 इति संमन्थ्य गत्वा तद्वनमाशवास्य चात्र ताम् ।
 योगिन्यस्ताः सुमनसं नीत्वा रत्नपुरे जहुः ॥286 ॥
 गतायां निशि सा तत्र भ्रमन्ती सुमनाः पुरे ।
 उच्यमानं जनेनेदं शुश्राव परिधावता ॥287 ॥
 एषानङ्गवती भार्या कन्दर्पस्य द्विजन्मनः ।
 पत्यौ क्वापि गते कालं कंचित्तत्राप्तिवाञ्छया ॥288 ॥
 स्थिता साध्वी तमप्राप्य निराशा निर्गताधुना ।
 अग्निं प्रवेष्टुं दुःखिभ्यां श्वसुराभ्यामनुद्वृता ॥289 ॥

एतच्छ्रुत्वेव सुमना तच्चितास्थानमाशु सा ।
 गत्वानङ्गवतीमेवं तामुपेत्य न्यवारयत् ॥290 ॥
 आर्ये मा साहसं कार्षीः स हि जीवति ते पतिः ।
 इत्युक्त्वा मूलतः कृत्स्नं तद्वृत्तान्तं शशंस सा ॥291 ॥
 अदर्शयच्च कन्दर्पदत्तं रत्नाङ्गुलीयकम् ।
 ततः सर्वेऽभ्यनन्दंस्तां सत्यं विज्ञाय तद्वचः ॥292 ॥
 अथानङ्गवतीं तुष्टां वधूं सुमनसं च ताम् ।
 सम्पूज्य कन्दर्पपिता गृहे तुष्टो न्यवेशयत् ॥293 ॥
 तावत्स सुमनःप्राप्त्यै भ्रान्तुं पाटलिपुत्रकात् ।
 कन्दर्पोऽनिच्छतोऽनुक्त्वा केसटस्य ययौ ततः ॥294 ॥
 केसटोऽपि गते तस्मिन्दुःखी रूपवतीं विना ।
 गृहादविदितः पित्रोः प्रायाद्भ्रान्तुमितस्ततः ॥295 ॥
 कन्दर्पोऽपि भ्रमन्दैवात्तत्प्राप नगरं किल ।
 यत्र रूपवतीं तां स केसटः परिणीतवान् ॥296 ॥
 जनकोलाहलं श्रुत्वा किमेतदिति तत्र तम् ।
 कन्दर्पं परिपृच्छन्तं पुमानेकोऽब्रवीदिदम् ॥297 ॥
 एषा रूपवती भर्त्रा केसटेन विनाद्यता ।
 मर्तुं कलकलस्तेन शृणु वृत्तान्तमत्र च ॥298 ॥
 इत्युक्त्वा केसटोद्वाहराक्षसोदन्तकौतुकम् ।
 रूपवत्याश्रितं प्रोच्य स पुमानब्रवीत्पुनः ॥299 ॥
 ततस्तं वञ्चयित्वैव वृद्धविप्रः स केसटकम् ।
 आदाय तां रूपवतीं पुत्रार्थं प्रययौ ततः ॥300 ॥
 केसटस्तु न विज्ञातः क्व यातः परिणीय ताम् ।
 रूपवत्यप्यपश्यन्ती केसटं साब्रवीत्पथि ॥301 ॥
 आर्यपुत्रं न पश्यामि किं सर्वेषु व्रजत्स्वह ।
 तच्छ्रुत्वा दर्शयन्पुत्रं तं स वृद्धद्विजोऽभ्यधात् ॥302 ॥
 सोऽयं मत्तनयः पुत्रि भर्ता ते दृश्यतामिति ।
 ततो रूपवती वृद्धांस्तत्रस्थानब्रवीत्क्रुधा ॥303 ॥
 कोऽयं कुरुपो भर्ता मे मरिष्याम्येव निश्चितम् ।
 येन ह्यः परिणीतास्मि तं प्राप्स्यामि न चेत्पतिम् ॥304 ॥

एवं वदन्ती त्यक्तापाना राजभयेन सा ।
 पितुरेव गृहं तेन वृद्धविप्रेण नायिता ॥305 ॥
 तत्रोक्ततद्विद्वज्जव्याजां शोचंस्तामवदत्पिता ।
 कोऽसाविति कथं ज्ञेयः परिणेतो स पुत्रि ते ॥306 ॥
 ततो रूपवती स्माह तात पाटलिपुत्रकात् ।
 देसटाख्यद्विजसुतः केसटाख्यः स मत्पतिः ॥307 ॥
 रक्षोमुखान्मया ह्येतच्छ्रुतमित्यभिधाय सा ।
 कृत्स्नं तस्मै समाचख्यौ वृत्तान्तं पतिरक्षसोः ॥308 ॥
 ततः स तत्पिता गत्वा दृष्ट्वा रक्षो मृतस्थितम् ।
 संजातप्रत्ययोऽतुष्यदपत्योस्तत्त्वतस्तयोः ॥309 ॥
 पतिप्राप्त्याशयाशवास्य सुतां तां प्राहिणोच्च सः ।
 अन्वेषन्केसटपितुः पार्श्वं पाटलिपुत्रकम् ॥310 ॥
 ते तत्र गत्वा नचिरादागत्यैवमिहाब्रुवन् ।
 दृष्टः पाटलिपुत्रस्थः सोऽस्माभिर्भर्तृदेसटः ॥311 ॥
 केसटः क्व स ते पुत्र इति पृष्टश्च तत्र सः ।
 सबाष्पमब्रवीदस्मान्केसटोऽत्र कुतः सुतः ॥312 ॥
 स ह्यागतोऽपि कन्दर्पनाम्नि मित्रे सहागते ।
 इतो रूपवतीदुःखात्क्वाप्यनुक्त्वैव मे गतः ॥313 ॥
 एतत्तस्य वचः श्रुत्वा क्रमाद्वयमिहागताः ।
 इत्युक्तेऽन्वेषकै रूपवती पितरमभ्यधात् ॥314 ॥
 नास्त्यार्यपुत्रप्राप्तिर्मे तदग्निं प्रविशाम्यहम् ।
 भर्त्रा विनाकृता तात तिष्ठेयं हि कियच्चिरम् ॥315 ॥
 एवं ब्रुवाणा न यदा निषेद्धुं तेन पारिता ।
 तदा रूपवती साद्य निर्गता मर्तुमग्निना ॥316 ॥
 तस्याः सख्याबुभे कन्ये तद्वन्मर्तुं विनिर्गते ।
 एका शृंगारवत्याख्या ह्यनुरागवती परा ॥317 ॥
 तद्विवाहे स ताभ्यां हि दृष्टः प्राक्केसटो युवा ।
 तद्रूपहृतचित्ताभ्यां भर्तृत्वे पर्यकल्प्यत ॥318 ॥
 इत्थं कोलाहलमिदं जनस्यात्रेति तेन सः ।
 कन्दर्पः पुरुषेणोक्तो ययौ तासां चितान्तिकम् ॥319 ॥

ततो दूरात्कलकलं निवार्योपेत्य च द्रुतम् ।
 अवोचदग्निमर्चन्तीमेवं रूपवतीं स ताम् ॥320 ॥
 अलं ते साहसेनार्ये जीवत्येव स केसटः ।
 स भर्ता तव मित्रं मे कन्दर्पं मामवेहि च ॥321 ॥
 इत्यूचिवान्वृद्धविप्रच्छन्नौकाधिरोहणात् ।
 आरभ्य केसटोदन्तं कथयामास सोऽखिलम् ॥322 ॥
 ततः संवादसंजातप्रत्यया सा पितुर्गृहम् ।
 हृष्टा रूपवती ताभ्यां सखीभ्यां प्राविशत्सह ॥323 ॥
 कन्दर्पोऽपि च तत्पित्रा प्रीत्योपचरितस्तदा ।
 सुरक्षितश्च तत्रैव तस्थौ तदनुरोधतः ॥324 ॥
 तावत्स केसटो दैवात्प्राप रत्नपुरं भ्रमन् ।
 कन्दर्पस्य गृहं तत्र तद्गार्यं यत्र ते स्थिते ॥325 ॥
 परिभ्रमन्तं तं तत्र हर्म्यात्कन्दर्पभार्यया ।
 दृष्ट्वा सुमनसा हर्षादूचिरे श्वशुरादयः ॥326 ॥
 आर्यपुत्रसुहृत्सोऽयं सम्प्राप्तः केसटोऽधुना ।
 अस्मात्प्रवृत्तिर्बुध्येत शीघ्रं सम्भाव्यतामिति ॥327 ॥
 ततो गत्वैव तैरुक्त्वा यथावस्तु स केसटः ।
 आनीतस्तां सुमनसं दृष्ट्वाहृष्यदुपागताम् ॥328 ॥
 विश्रानतश्च क्षणात्पृष्टस्तस्यै वन्येभसम्भ्रमात् ।
 आरभ्य कन्दर्पगतं स्वं च वृत्तान्तमब्रवीत् ॥329 ॥
 सत्कृतो दिवसान्कांश्चिदास्ते यावच्च तत्र सः ।
 लेखहस्तः पुमांस्तावदागात्कन्दर्पपार्श्वतः ॥330 ॥
 यत्र रूपवतीं नाम त्वत्सुहृत्परिणीतवान् ।
 केसटस्तत्र कन्दर्पः स्थितो रूपवती च सा ॥331 ॥
 इति चोवाच स पुमाल्लेखार्थोऽभूत्तथैव च ।
 कन्दर्पपित्रे स्वोद्वाहं केसटोऽवर्णयच्च सः ॥332 ॥
 ततः कृतोत्सवोऽन्येद्युः कन्दर्पानयनाय सः ।
 तत्पिता प्राहिणोद्धृतं प्रियाप्राप्त्यै च केसटम् ॥333 ॥
 केसटोऽपि ययौ साकं लेखहारेण तेन सः ।
 तं देशं यत्र सा रूपवती पितृगृहे स्थिता ॥334 ॥

तत्र सम्भावयामास स तां रूपवतीं चिरात् ।
 सोत्सवां हृतसन्तापस्तोयदश्चातकीमिव ॥335 ॥
 कन्दर्पेण समागम्य परिणिन्ये च ते अपि ।
 रूपवत्या वयस्ये द्वे पूर्वोक्ते प्रेरितस्तया ॥336 ॥
 ते चानुरागशृंगारवत्यौ रूपवतीं च ताम् ।
 आदायापृष्टकन्दर्पः स्वदेशं केसटो ययौ ॥337 ॥
 कन्दर्पोऽपि सदूतस्तद्गत्वा रत्नपुरं ततः ।
 संजग्मे सुमनोनङ्गवतीभ्यां बन्धुभिस्तदा ॥338 ॥
 निजनिजदेशगतौ तौ रूपवतीसुमनसौ प्रिये प्राप्य ।
 केसटकन्दर्पावथ भुञ्जानौ तस्थतुर्भोगान् ॥339 ॥
 इति विधुरविधातृविप्रयुक्ताः पुनरपि यान्ति समागमं प्रियाभिः ।
 अकलितगहनावधीनि दुःखान्यपि विषमाण्यवतीर्य धीरसत्त्वाः ॥340 ॥
 तच्छीघ्रमुत्तिष्ठ सखे व्रजावशिचन्वंस्त्वमप्याप्स्यसि जातु भार्याम् ।
 को वेद दैवस्य गतिं मयैव मृतापि भार्याधिगता सजीवा ॥341 ॥
 इत्येवमाख्याय कथामनेन प्रोत्साहितश्चानुगतश्च सख्या ।
 भ्रमन्भुवं प्रापिमिमामथात्र सक्रोडमद्राक्षमहं गजेन्द्रम् ॥342 ॥
 उद्गीर्य तने च गजेन पुनर्निगीर्णां तामेव चित्रमवशां स्ववधूमपश्यम् ।
 तं चिन्वतापि करिणं चिरदृष्टनष्टं दृष्ट्वा मयाद्य सुकृतैरिह देवपादाः ॥343 ॥
 एवं तस्योक्तवतो वणिक्सुतस्याथ विक्रमादित्यः ।
 आनाय्य तां स राजा गजवधलब्धां समर्पयद्भार्याम् ॥344 ॥
 तौ च विचित्रसमागममुदितावन्योन्यकथितवृत्तान्तौ ।
 श्रीविषमशीलसंस्तुतिमुखरमुखौ दम्पती तदाभूताम् ॥345 ॥

AA bfr egkdfOJhl ken0K/VfojfpnsdFkl fjRl kxjs
 fo"ke'khyyEcdsprfklRj 3x9AA

ततः स विक्रमादित्यो राजा तस्य सहागतम् ।
वणिकपुत्रस्य सुहृदं तमेवं परिपृष्टवान् ॥1॥
प्राप्ता मृतापि जीवन्ती मया भार्येति यत्त्वया ।
उक्तं कथं तदिति नः कथ्यतां भद्र विस्तरात् ॥2॥
इत्युक्तस्तेन राज्ञा स वणिकसूनोः सखाब्रवीत् ।
कौतुकं यदि तद्देव श्रूयतां कथयाम्यदः ॥3॥
ब्रह्मस्थलाग्रहारप्रयनिवासी द्विजपुत्रकः ।
चन्द्रस्वामीत्यहं भार्या सुरूपा चास्ति मे गृहे ॥4॥
एकदा मयि कार्यार्थं ग्रामं पित्राज्ञया गते ।
तां मे कापालिकोऽद्राक्षीद्वार्या भिक्षार्थमागतः ॥5॥
तेन दृष्ट्वैव सा जातज्वरा सायं व्यपद्यत ।
ततो मद्बन्धुभिर्नीत्वा नक्तमारोपिता चिताम् ॥6॥
प्रज्वलन्त्यां चितायां च ग्रामात्त्राहमागमम् ।
अश्रौषं च यथावृत्तं स्वजनात्क्रन्दतः पुरः ॥7॥
गते मयि चितोपान्तमागात्कापालिकश्च सः ।
अंसस्थनृत्यत्खट्वाङ्गः स्फूर्जङ्गमरुकारवः ॥8॥
भस्मक्षेपेण शमिते चिताग्नौ देव तेन सा ।
उदतिष्ठच्चितामध्यादक्षताङ्गी मदङ्गना ॥9॥
स चादाय कपाली तां सिद्ध्याकृष्टानुधाविताम् ।
प्राद्रवल्लघु तां चाहमन्वगां सधनुःशरः ॥10॥
स च गङ्गातटे प्राप्य गुहां भूमौ निधाय तत् ।
खट्वाङ्गमब्रवीद्वर्षादन्तःस्थे कन्यके उभे ॥11॥
युवां प्राप्ते अपि मया नोपभुक्ते यया विना ।
सैषाद्य हस्ते प्राप्ता मे प्रतिज्ञा सिद्धिमागता ॥12॥
इति ताभ्यां स मद्भार्या यावद्दर्शयति ब्रुवन् ।
तावत्तस्य खट्वाङ्गं गङ्गायामहमक्षिपम् ॥13॥
रे कापालिक भार्या मे जिहीषुर्न भवस्ययम् ।
इत्याक्षिपम् च तमहं भ्रष्टखट्वाङ्गसिद्धिकम् ॥14॥

अपश्यन्सोऽथ खट्वाङ्गं पलायनपरः शठः ।
धनुराकृष्य काण्डेन दिग्धेन निहतो मया ॥15॥
पापसिद्धयैकसन्तोषविडम्बितशिवागमाः ।
पाखण्डिनः पतन्त्येवं प्रागेव पतिता अपि ॥16॥
अथादाय स्वभार्यां तामन्ये द्वे ते च कन्यके ।
गृहमागतवानस्मि दत्ताश्चर्यः स्वबन्धुषु ॥17॥
तत्र पृष्टे स्ववृत्तान्ते कन्ये ते वदतः स्म मे ।
वाराणस्यां सुते आवां क्षितिभृत्सार्थवाहयोः ॥18॥
सिद्धियुक्त्या हृते चावामेतयैव कपालिना ।
त्वत्प्रसादाच्च भुक्ते स्वः पापादस्माददूषिते ॥19॥
इत्युक्तवत्यौ चान्येद्युर्नीत्वा वाराणसीं मया ।
अर्पिते ते स्वबन्धूनां तद्दत्तान्तमुदीर्य तम् ॥20॥
आगच्छंश्च ततोऽपश्यमिमं भार्यावियोगिनम् ।
वणिकपुत्रं ततोऽनेन मिलित्वाहमिहागतः ॥21॥
कापालिकगुहालब्धेनाङ्गरागेण रञ्जितात् ।
क्षालितादपि देहान्मे दृश्यतां वाति सौरभम् ॥22॥
इत्थं मृतोत्थिता प्राप्ता मया भार्येति वादिनम् ।
विप्रं तं सवणिकपुत्रं सत्कृत्य प्राहिणोऽनृपः ॥23॥
ततो गुणवतीचन्द्रवतीमदनसुन्दरीः ।
आनीयादाय च समं मिलित्वा च स्वसैनिकैः ॥24॥
आगात्स विक्रमादित्यभूद्दुज्जयिनीं पुरीम् ।
तस्यां गुणवतीचन्द्रवत्यौ च परिणीतवान् ॥25॥
संस्मरन्नथ तां विश्वकर्मदेवगृहे स्थिताम् ।
स्तम्भस्थपुत्रिकां राजा स प्रतीहारमादिशत् ॥26॥
कलिङ्गसेनात्कन्यां तां प्राप्तुं दूतो विसृज्यताम् ।
यस्याः प्रतिकृतिर्दृष्टा सा मया स्तम्भपुत्रिका ॥27॥
इति राज्ञा समादिष्टः क्षत्तानीय तदग्रतः ।
प्राहिणोदत्तसन्देशं दूतं नाम्ना सुविग्रहम् ॥28॥
गत्वा कलिङ्गविषयं दृष्ट्वा तं च यथोचितम् ।
कलिङ्गसेनं राजानमेवं दूतो जगाद सः ॥29॥

देवः श्रीविक्रमादित्यस्त्वामादिशति भूपते ।
 वेत्थ त्वं भुवि यद्रत्नं तदस्मानुपगच्छति ।।30 ।।
 तवास्ति कन्यारत्नं च तदस्मभ्यं समर्पय ।
 अस्मत्प्रसादाच्च निजं भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ।।31 ।।
 एतच्छ्रुत्वा स कालिङ्गः क्रुद्धो राजाभ्यभाषत ।
 को नाम विक्रमादित्यः स एवाज्ञां ददाति नः ।।32 ।।
 मार्गत्युपायनं कन्यां दर्पान्धोऽधः पतिष्यति ।
 एतत्कलिङ्गसेनात्स श्रुत्वा दूतः समभ्यधात् ।।33 ।।
 भृत्योऽप्येवमनात्मज्ञः कथमोजायसे प्रभोः ।
 किं मूढ तत्प्रतापाग्नौ शलभायितुमिच्छसि ।।34 ।।
 इत्युक्त्वा तत आगत्य स दूतस्तन्यवेदयत् ।
 वचः कलिङ्गसेनोक्तं विक्रमादित्यभूभूते ।।35 ।।
 ततो विषमशीलोऽसौ क्रुद्धः प्रायाद्बलैः सह ।
 सभूतकेतुवेतालः कालिङ्गं प्रति तं प्रभुः ।।36 ।।
 देह्याशु कन्यामिति तं कालिङ्गं ब्रुवतीष्विव ।
 सेनारवप्रतिरवैर्दिक्षु तद्देशमाप च ।।37 ।।
 दृष्ट्वाथ युद्धसन्नद्धं रद्ध्वा तं च नृपं बलैः ।
 राजा स विक्रमादित्यो मनस्येवमचिन्तयत् ।।38 ।।
 एतत्सुतां विना तावन्मम नास्त्येव निर्वृतिः ।
 तत्कथं स्वशुरं हन्मि युक्तिमत्र करोमि किम् ।।39 ।।
 इत्यालोच्य सवेतालो राजा तत्सिद्धयलक्षितः ।
 सुप्तस्य प्राविशद्रात्रौ कलिङ्गेशस्य वासकम् ।।40 ।।
 अरे विषमशीलेन विगृह्य स्वपिषीति तम् ।
 प्रबोध्य तत्र वित्रस्तं वेतालः सोऽब्रवीद्धसन् ।।41 ।।
 स चोत्थाय कलिङ्गेन्द्रो दृष्ट्वा दर्शितसाहसम् ।
 परिज्ञाय च राजानं रौद्रवेतालसंगतम् ।।42 ।।
 इदानीं वशगोऽहं ते देवादिश करोमि किम् ।
 इति विज्ञापयामास भीतस्तच्चरणानतः ।।43 ।।
 मया चेत्प्रभुणा कार्यं तव तद्देहि मे सुताम् ।
 कलिङ्गसेनामिति तं राजापि प्रत्यभाषत ।।44 ।।

तथेति प्रतिपेदे च कलिङ्गाधिपतिः स तत् ।
 राजापि वेतालयुतः स्वमागाच्छिविरं कृती ।।45 ।।
 अन्येद्युश्च कलिङ्गेन्द्रः स देवि त्वामदात्पिता ।
 राज्ञे विषमशीलाय विधिवद्विभवोत्तरम् ।।46 ।।
 एवं गाढानुरागेण राज्ञा देहपणेन च ।
 परिणीतासि विधिवद्देवि नारिजिगीषया ।।47 ।।
 इति कार्पटिकस्याहं देवसेनस्य वक्त्रतः ।
 श्रुत्वावमानप्रभवं हे सख्यो मन्युमत्यजम् ।।48 ।।
 इत्थं विवाहिता स्तम्भपुत्रिकादर्शनादहम् ।
 चित्रावलोकनाच्चैषा राज्ञा मलयवत्यपि ।।49 ।।
 एवं कलिङ्गसेना सा विक्रमादित्यवल्लभा ।
 भर्तृप्रभावमाख्याय स्वसपत्नीरनन्दयत् ।।50 ।।
 स चैवं विक्रमादित्यः सर्वाभिस्ताभिरन्वितः ।
 तथा मलयवत्या च तस्थौ साम्राज्यसुस्थितः ।।51 ।।
 अथैकदा राजपुत्रः कोऽप्यागादक्षिणापथात् ।
 कृष्णशक्त्यभिधानोऽत्र परिभूतः स्वगोत्रजैः ।।52 ।।
 स सिंहद्वारमागत्य राज्ञः कार्पटिकव्रतम् ।
 शिश्रिये राजपुत्राणामन्वितः पञ्चभिः शतैः ।।53 ।।
 द्वादशाब्दान्मया सेवा विक्रमादित्यभूपतेः ।
 कार्येति प्रतिजज्ञे च वार्यमाणोऽपि भूभुजा ।।54 ।।
 निश्चयेन च तस्यात्र तिष्ठतः सानुयायिनः ।
 सिंहद्वारे नृपसुतस्यैकादश समा ययुः ।।55 ।।
 प्राप्ते च द्वादशे वर्षे तस्य देशान्तरस्थिता ।
 भार्या चिरवियोगार्ता प्राहिणोल्लेखपत्रिकाम् ।।56 ।।
 वीरचर्यागते रात्रौ प्रच्छन्ने राज्ञि शृण्वति ।
 दीपेनावचयत्तस्यामार्या स लिखितामिमाम् ।।57 ।।
 सन्तप्तायततरलास्तव विरहे नाथ कठिनहृदयायाः ।
 निर्यान्त्यविरतमेते निःश्वासा मे न तु प्राणाः ।।58 ।।
 इति वाचयतस्तस्मात्सम्राट् कार्पटिकान्मुहुः ।
 श्रुत्वा स राजधानीं स्वां गत्वा राजा व्यचिन्तयत् ।।59 ।।

सीदत्कलत्रः किलष्टोऽयं बत कार्पटिकश्चिरम् ।
 असिद्धकार्यः पूर्णोऽस्मिन्द्वादशेऽब्दे त्यजेदसून् ॥60 ॥
 तद्विलम्बो न कार्योऽस्य मयेत्यालोच्य भूपतिः ।
 आनाययत्कार्पटिकं दासीं प्रेष्य तदैव सः ॥61 ॥
 शासनं लेखयित्वा च तमेवं स समादिशत् ।
 ओंकारपीठमार्गेण भद्रं गच्छोत्तरां दिशम् ॥62 ॥
 तत्रामुना शासनेन ग्रामं भुङ्क्व मदर्पितम् ।
 नाम्ना तं खण्डवटकं पृच्छन्गच्छन्नवाप्स्यसि ॥63 ॥
 इत्युक्त्वा शासनं तस्मै प्रददौ तत्स भूपतिः ।
 सोऽप्यनावेद्य भृत्येभ्यो ययौ कार्पटिको निशि ॥64 ॥
 का जिगीषा ममैकेन ग्रामेण व्रीडदायिना ।
 तथाप्याज्ञा प्रभोः कार्येत्यसन्तुष्टः क्रमाद्व्रजन् ॥65 ॥
 ओंकारपीठतो गत्वा दूरेऽरण्ये ददर्श सः ।
 क्रीडन्तीः कन्यका बह्वीः पृच्छसि स्म ततश्च ताः ॥66 ॥
 अपि जानीथ भोः खण्डवटकं क्व भवेदिह ।
 एतच्छ्रुत्वा तमूचुस्तास्तत्र जानीमहे वयम् ॥67 ॥
 गच्छाग्रे योजनेष्वत्र दशमात्रेषु नः पिता ।
 सौम्य तिष्ठति तं पृच्छ विद्याद्ग्रामं स जातु तम् ॥68 ॥
 एवमुक्तः स कन्याभिस्ताभिर्गत्वा ददर्श तम् ।
 कार्पटी पितरं तासां राक्षसं भीषणाकृतिम् ॥69 ॥
 इह क्व खण्डवटकं ब्रूहि भद्रेति तं च सः ।
 पप्रच्छ सोऽपि तं धैर्यमोहितो राक्षसोऽब्रवीत् ॥70 ॥
 किं तत्र ते तद्धि पुरं चिरशून्यं तथापि चेत् ।
 यासि तच्छृणु मार्गोऽयं पुरतस्ते द्विधा गतः ॥71 ॥
 तत्र वामेन गच्छेस्त्वं पथा यावदवाप्स्यसि ।
 प्रतोलीं खण्डवटकस्योच्चप्राकारहारिणीम् ॥72 ॥
 इत्युक्तो रक्षसा गत्वा प्रतोलीं तामवाप्य सः ।
 विवेश शून्यं भयदं दिव्यं हृद्यं च तत्पुरम् ॥73 ॥
 सप्तकक्षावृतं तत्र राजवेश्म प्रविश्य च ।
 आरुरोह स हर्म्याग्रं मणिकाञ्चननिर्मितम् ॥74 ॥

तत्र रत्नासनं दृष्ट्वा तस्मिन्नुपविवेश च ।
 तावच्च राक्षसोऽभ्येत्य वेत्रहस्तस्तमभ्यधात् ॥75 ॥
 भो मानुष किमत्र त्वमुपविष्टो नृपासने ।
 तच्छ्रुत्वा कृष्णशक्तिः स धीरः कार्पटिकोऽब्रवीत् ॥76 ॥
 अहमत्र प्रभुर्ययं करदाश्च कुटुम्बिनः ।
 विक्रमादित्यदेवेन विलब्धाः शासनेन मे ॥77 ॥
 तच्छ्रुत्वा शासनं दृष्ट्वा राक्षसस्तं प्रणम्य सः ।
 उवाच राजा त्वमिह प्रतीहारस्तवास्मि च ॥78 ॥
 सर्वत्र विक्रमादित्यदेवस्याज्ञा ह्यखण्डिता ।
 इत्युक्त्वा प्रकृतीः सर्वा आजुहाव स राक्षसः ॥79 ॥
 आययुर्मन्त्रिणश्चात्र तथा राजपरिच्छदः ।
 अपूरि चतुरङ्गेण बलेन नगरं च तत् ॥80 ॥
 सर्वैः प्रणम्यमानोऽथ हृष्टः कार्पटिकोऽत्र सः ।
 चक्रे राजोपचारेण कृत्स्नाः स्नानादिकाः क्रियाः ॥81 ॥
 ततः स राजा भूत्वात्र सविस्मयमचिन्तयत् ।
 अहो प्रभावः कोऽप्येष विक्रमादित्यभूपतेः ॥82 ॥
 गाम्भीर्यगरिमा चित्रमपूर्वस्तस्य च प्रभोः ।
 ददाति यद्ग्राममिति ब्रुवन्राज्यमपीदृशम् ॥83 ॥
 इति चित्रीयमाणोऽत्र राज्यं कुर्वन्नुवास सः ।
 तत्सखीन्विक्रमादित्योऽप्युज्जयिन्यां पुपोष तान् ॥84 ॥
 दिनैश्च विक्रमादित्यं प्रणन्तुं स उपाययौ ।
 सोत्कः कार्पटिको राजा सैन्यकम्पितभूतलः ॥85 ॥
 आगतं विक्रमादित्यः पादानतमुवाच तम् ।
 पत्न्याः प्रहितलेखाया निःश्वासान्गच्छ वारय ॥86 ॥
 इत्युक्त्वा भूमिपतिना प्रेषितस्तेन साद्भुतः ।
 स कृष्णशक्तिः सखिभिः साकं देशमगान्निजम् ॥87 ॥
 उत्सार्य गोत्रजान्भार्यां नन्दयित्वा चिरोत्सुकाम् ।
 सिद्धेप्सिताधिकः सोऽथ भेजे राज्यश्रियं पराम् ॥88 ॥
 एवं सोद्भुतचारित्रो विक्रमादित्यभूमिपः ।
 एकदात्र ददर्शकमूर्ध्वरोमकचं द्विजम् ॥89 ॥

पप्रच्छ तं च हे ब्रह्मन्त्रीदृक्कस्माद्भवानिति ।
 ततः सोऽस्मै स्ववृत्तान्तमेवं राज्ञे द्विजोऽब्रवीत् ॥१०॥
 अग्निस्वामीति विप्रोऽभूद्देव पाटलिपुत्रके ।
 महाग्निहोत्रिणस्तस्य देवस्वामीत्यहं सुतः ॥११॥
 मया च दूरतो देशाद्विप्रकन्या विवाहिता ।
 बालत्वात्सा च तत्रैव स्थापिताभूत्पितुर्गृहे ॥१२॥
 कालेन यौवनस्थां तामानेतुं श्वाशुरं गृहम् ।
 आरुह्याश्वं सहैकेन भृत्येन गतवानहम् ॥१३॥
 सत्कृतः श्वशुरेणाहं सहायातैकचेटिकाम् ।
 आदायाश्वाधिरूढां तां भार्या प्रायामहं ततः ॥१४॥
 अर्धमार्गे च साश्वाया अवरुह्यैव मे वधूः ।
 अम्बुपानापदेशेन नदीकच्छमगात्किल ॥१५॥
 चिरं नायाति यावत्सा तावच्च तदवेक्षणे ।
 सह स्थितं तं तत्रैव भृत्यमस्मि विसृष्टवान् ॥१६॥
 सोऽपि नायाति यावच्च तावदस्मि गतः स्वयम् ।
 तच्चेटिकां स्थापयित्वा तुरगीरक्षणाय ताम् ॥१७॥
 गत्वा पश्यामि यावत्स भृत्यो मदभार्यया तया ।
 भक्षयित्वास्थिशेषो मे कृतो रक्ताक्तवक्त्रया ॥१८॥
 वित्रस्तश्च ततो यावद्गच्छामि तुरगीं प्रति ।
 तावत्सापि तया तद्वत्तच्चेट्या भक्षिता मम ॥१९॥
 ततः पलाय्य यातोऽहं तत्रासेनाधुनापि मे ।
 नैवाध्वरोमकेशत्वमन्तःस्थेन निवर्तते ॥१००॥
 तदत्र मे गतिर्देव इति तं वादिनं द्विजम् ।
 आज्ञया विक्रमादित्यो गतत्रासं व्यधत्त सः ॥१०१॥
 अहो धिङ्नास्ति विश्वासः स्त्रीषु साहसभूमिषु ।
 इति राज्ञि वदत्यस्मिन्नेकोऽमात्योऽब्रवीदिदम् ॥१०२॥
 तादृश्य एव दुर्जाताः स्त्रियो देव तथा च किम् ।
 न श्रुतं वृत्तमिह यद्ब्राह्मणस्याग्निशर्मणः ॥१०३॥
 इहैवास्त्यग्निशर्माख्यः सोमशर्मसुतो द्विजः ।
 पित्रोः प्राणसमो मूर्खः सर्वविद्यास्वशिक्षितः ॥१०४॥

वर्धमानपुरात्तेन परिणीता द्विजात्मजा ।
 बालेति सा च न त्यक्त्वा पित्रा धनवता गृहात् ॥१०५॥
 तस्यां च यौवनस्थायामग्निशर्माणमूचतुः ।
 पितरौ पुत्र भार्या तां नानयस्यधुनापि किम् ॥१०६॥
 श्रुत्वेवैतदनापृच्छ्य पितरौ स जडाशयः ।
 अग्निशर्मा ततः प्रायादेकाकी गृहिणीं प्रति ॥१०७॥
 निर्गतस्य गृहात्तस्य दक्षिणोऽभूत्कपिञ्जलः ।
 दक्षिणा च विरौति स्म शिवा वामैकशंसिनी ॥१०८॥
 सोऽपि मूर्खोऽभ्यनन्दत्तज्जीव जीवेत्युदीरयन् ।
 अदृश्या च जहासास्य श्रुत्वा शकुनदेवता ॥१०९॥
 सम्प्राप्य श्वाशुरं स्थानं तस्य च प्रविविक्षतः ।
 वामः कपिञ्जलो वामा शिवाभूत्कथिताशिवा ॥११०॥
 भूयोऽपि चाभ्यनन्दत्स जीवजीवेत्युदीर्य तत् ।
 अचिन्तयच्च शकुनाधिष्ठात्री देवतापि सा ॥१११॥
 अहो मूर्खोऽयमशुभं शुभमित्यभिनन्दति ।
 तत्कार्यं जीवयति यद्रक्ष्यो जीवोऽस्य तन्मया ॥११२॥
 इत्यस्यां चिन्तयन्त्यां च देवतायां विवेश सः ।
 दत्तप्रहर्षः श्वशुरस्याग्निशर्मा निवेशनम् ॥११३॥
 आगतोऽसि किमेकाकीत्युक्तोऽत्र श्वशुरादिभिः ।
 आयातोऽस्मि गृहेऽनुक्त्वा सर्वेषामिति सोऽब्रवीत् ॥११४॥
 ततः कृतोचितस्नानभोजनस्य निशागमे ।
 शय्यागृहेऽन्तिकं भार्या तस्योपागात्प्रसाधिता ॥११५॥
 पथिश्रमाच्च सुप्तस्य तस्य निर्गत्य सा बहिः ।
 चौरस्योपपतेः शूलविद्धस्याप्यन्तिकं ययौ ॥११६॥
 आलिङ्गन्ती च तदेहं दशनैश्छिन्ननासिका ।
 भूतेन तत्प्रविष्टेन पलायत ततो भयात् ॥११७॥
 गत्वा च पत्युः सुप्तस्य तस्य न्यस्यासिधेनुकाम् ।
 पार्श्वे विकोषामाक्रन्ददेवं श्रावितबान्धवा ॥११८॥
 हा हा मृता मृतास्म्येषा निष्कारणमनेन मे ।
 किमप्युत्थाय यद्गर्त्रा कृतं नासानिकर्तनम् ॥११९॥

तच्छ्रुत्वा स्वजनस्तस्या एत्य तां छिन्ननासिकाम् ।
 दृष्ट्वा तमग्निशर्माणं लगुडाद्यैरताडयत् ॥120 ॥
 प्रातश्च विज्ञाप्य नृपं तदादेशाद्दधाय तम् ।
 निर्दोषं भार्याद्रोहीति वधकेभ्यः समर्पयत् ॥121 ॥
 नीते वध्यभुवं तस्मिन्सा तच्छकुनदेवता ।
 तद्भार्यानैशवृत्तान्तदर्शिनी समचिन्तयत् ॥122 ॥
 अनिमित्तफलं तावत्प्राप्तमेतेन यत्त्वयम् ।
 उक्तवाञ्जीव जीवेति तेन रक्ष्याम्यमुं वधात् ॥123 ॥
 इत्यालोच्यान्तरिक्षात्सा निगूढा देवताभ्यधात् ।
 निर्दोष एष वधका न वध्यो विप्रपुत्रकः ॥124 ॥
 शूलस्थचौरदन्तान्तर्गत्वा पश्यत नासिकाम् ।
 इत्युक्त्वा तद्वधुरात्रिवृत्तान्तं तं जगाद सा ॥125 ॥
 ततस्तत्प्रत्ययात्क्षत्तृमुखेन वधकैर्नृपः ।
 विज्ञप्तो वीक्ष्य नासां तां चौरदन्तान्तरस्थिताम् ॥126 ॥
 वधात्तमग्निशर्माणं निर्मोच्य व्यसृजद्गृहम् ।
 कुस्त्रीं तां च निजग्राह तद्वधूंश्चाप्यदण्डयत् ॥127 ॥
 एवंविधाः स्त्रियो राजन्नित्युक्ते तेन मन्त्रिणा ।
 स राजा विक्रमादित्यस्तत्तथेत्यन्वमोदत ॥128 ॥
 ततोऽब्रवीन्मूलदेवो धूर्तो राजान्तिकस्थितः ।
 देव साध्व्यो न सन्त्येव किमसाध्वीषु कासुचित् ॥129 ॥
 किं न चूतलताः सन्ति सतीषु विषवल्लिषु ।
 तथा च श्रूयतामेतदनुभूतं मयैव यत् ॥130 ॥
 अहं पाटलिपुत्रं प्रागगच्छं शशिना सह ।
 मत्वा नागरिकक्षेत्रं तद्वैदग्ध्यदिदृक्षया ॥131 ॥
 तत्र बाह्ये सरस्येकां दृष्ट्वा स्त्रीं वस्त्रधाविनीम् ।
 इह क्वावास्यते पान्थैरित्यहं परिपृष्टवान् ॥132 ॥
 इह तीरेषु चक्राह्वैर्मस्त्यैर्वारिणि षट्पदैः ।
 अब्जेषावास्यते नात्र पान्थावासो मयेक्षितः ॥133 ॥
 एतत्तयाहं वक्रोक्त्या प्रत्युक्तो वृद्धयोषिता ।
 विलक्षः शशिना साकं प्राविशं नगरान्तरम् ॥134 ॥

तत्रैकमुष्णे पात्रस्थे परमान्ने पुरः स्थिते ।
 बालं दृष्ट्वा गृहद्वारि रुदन्तमवदच्छशी ॥135 ॥
 अहो अबुद्धिर्बालोऽयं योऽग्रदत्तं न खादति ।
 परमान्नं वृथात्मानं क्लिश्नाति रुदितैः पुनः ॥136 ॥
 तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्बालः प्रमृज्य नयने हसन् ।
 मूर्खा यूयं न जानीथ रोदने ये गुणा मम ॥137 ॥
 परमान्नं शनैरेति स्वादुतां शीतलीभवत् ।
 घटतेऽभ्यधिकं चान्यच्छलेष्वा गच्छति च क्षयम् ॥138 ॥
 एते गुणा मे रुदतो नाहं मौर्ख्येण रोदिमि ।
 यूयं ग्राम्याः पुनर्मूर्खा नाभिप्रायं विदन्ति यत् ॥139 ॥
 इत्युक्ते तेन बालेन स्वावैदग्ध्यविलज्जितौ ।
 शशी चाहं च साश्चर्यावपसृत्यान्यतो गतौ ॥140 ॥
 तत्राप्याम्रतरुस्कन्धगतामाम्रावचायिनीम् ।
 वरकन्यामपश्याव मूलस्थितपरिच्छदाम् ॥141 ॥
 प्रयच्छास्मभ्यमप्याम्रफलानि कतिचिच्छुभे ।
 इति चास्माभिरुक्ता सा कन्यकैवमभाषत ॥142 ॥
 अशनीयाम्रफलान्युष्णान्युत किं शिशिराणि वा ।
 तच्छ्रुत्वाश्चर्यजिज्ञासुस्तां कन्यामहमब्रवम् ॥143 ॥
 अशनीम् तावदुष्णानि ततोऽन्यान्यपि सुन्दरि ।
 श्रुत्वैतदक्षिपद्मौ पांसुष्वाम्रफलानि सा ॥144 ॥
 भुक्तानि नीरजीकृत्य तान्यस्माभिर्मुखानिलैः ।
 ततः सपरिवारा सा कन्या प्रहसिताब्रवीत् ॥145 ॥
 एतानि पूर्वमुष्णानि दत्तान्याम्रफलानि वः ।
 तथा च दत्त्वा फूत्कारान्भवन्तो यान्यभक्षयन् ॥146 ॥
 गृहणीत शीतलान्येतान्यफूत्काराणि वाससि ।
 एवमुक्त्वाञ्चलेष्वन्यान्यक्षिपत्सा फलानि नः ॥147 ॥
 तान्यादाय ततः स्थानाद्वयं याता विलक्षिताः ।
 ततः सहचरानन्याञ्शशिनं चाहमब्रवम् ॥148 ॥
 अवश्यं परिणयेषा विदग्धा कन्यका मया ।
 अवहासप्रतीकारः कार्यः का धूर्ततान्यथा ॥149 ॥

एवं मयोक्तैरन्विष्टं तैस्तस्याः सदनं पितुः ।
 वयं वेषान्तरालक्ष्या अगच्छामापरेऽहनि ॥150 ॥
 तत्रास्मान्पठतो वेदं यज्ञस्वामीत्युपेत्य सः ।
 तत्कन्याजनकोऽपृच्छत्कृतो यूयमिति द्विजः ॥151 ॥
 वयं मायापुरीस्थानाद्विद्याहेतोरिहागताः ।
 इत्युक्तः स ततोऽस्माभिराढ्योऽवोचद्विजोत्तमः ॥152 ॥
 तर्हीहैव चतुर्मासीमेतां वसत मद्गृहे ।
 कुरुतानुग्रहं यूयं दूरदेशागता यतः ॥153 ॥
 श्रुत्वेत्यवोचाम वयं ब्रह्मन्कुर्मो भवद्वचः ।
 चतुर्मासावसाने चेदर्थितं नः प्रदास्यसि ॥154 ॥
 एवमस्माभिरुक्तः स यज्ञस्वामी द्विजोऽभ्यधात् ।
 शक्यं यदर्थं मृगयध्वे तद्वास्याम्येव निश्चितम् ॥155 ॥
 इति प्रतिश्रुते तेन तद्गृहे वयमास्महि ।
 अथोक्तः स द्विजोऽस्माभिः पूर्णं मासचतुष्टये ॥156 ॥
 यामो वयं तत्पूर्वोक्तं देहि यत्प्रार्थयामहे ।
 किं तदित्युक्तवन्तं तं मां प्रदर्श्याब्रवीच्छशी ॥157 ॥
 अस्मन्मुख्याय कन्यास्मै भवता दीयतामिति ।
 ततः स विप्रो वाग्बद्धो यज्ञस्वामी व्यचिन्तयत् ॥158 ॥
 छलितोऽस्म्येभिरस्त्वेतत्को दोषो गुणवानयम् ।
 इत्यालोच्य स मे विप्रो यथावत्तामदात्सुताम् ॥159 ॥
 नक्तं चाहं हसन्वासगृहे तामवदं वधूम् ।
 कच्चित्स्मरसि तान्याम्राण्युष्णानि शिशिराणि च ॥160 ॥
 तच्छ्रुत्वा प्रत्यभिज्ञाय सा मां सस्मितमभ्यधात् ।
 एवमेव विडम्ब्यन्ते ग्राम्या नागरिकैरिति ॥161 ॥
 ततोऽमप्यवोचं तामास्व नागरिके सुखम् ।
 ग्राम्यो यास्याम्यहं दूरं त्वां विहाय प्रतिज्ञया ॥162 ॥
 एतच्छ्रुत्वाकरोत्सापि प्रतिज्ञां निश्चितं मया ।
 वष्टभ्यानायितव्यस्त्वं त्वतो जातेन सूनुना ॥163 ॥
 इत्यन्योन्यं प्रतिज्ञाते सा शेते स्म पराङ्मुखी ।
 स्वाङ्गुलीयमहं चास्याः सुप्ताया अङ्गुलौ न्यधाम् ॥164 ॥

निर्गत्य च मिलित्वा तैरहं सहचरैस्ततः ।
 तस्या दिदृक्षुर्वेदग्ध्यमागामुज्जयिनीं निजाम् ॥165 ॥
 सापि विप्रसुता प्रातरपश्यन्ती प्रबुध्य माम् ।
 अङ्गुलीयं च पश्यन्ती मन्नावाङ्कमचिन्तयत् ॥166 ॥
 गतस्तावत्स मां त्यक्त्वा प्रतिज्ञा तेन पालिता ।
 मयापि स्वप्रपिज्ञातं पाल्यं त्यक्तानुतापया ॥167 ॥
 मूलदेवेति नामास्मिन्दृश्यते चाङ्गुलीयके ।
 तद्ध्रुवं मूलदेवो यः ख्यातो धूर्तः स एव सः ॥168 ॥
 स चोज्जयिन्यां वसतीत्युच्यते सततं जनैः ।
 तत्तत्र युक्तितो गत्वा मया साध्यं समीहितम् ॥169 ॥
 इति संकल्प्य पितरं सैवं कृतमृषाब्रवीत् ।
 गतस्तात परित्यज्य भर्ता मां सहसैव सः ॥170 ॥
 तद्वियुक्ता कथं चाहं तिष्ठामीह यथासुखम् ।
 तद्यामि तीर्थयात्रायै क्लिश्नाम्येतां हतां तनुम् ॥171 ॥
 इत्युक्त्वा तमनिच्छन्तमप्यनुज्ञाप्य यत्नतः ।
 पितरं सा ततः प्रायात्सधना सपरिच्छदा ॥172 ॥
 क्रमेण गत्वा कृत्वा सा महार्घं गणिकोचितम् ।
 वेषं विवेशोज्जयिनीं पुरीं लोकैकसुन्दरी ॥173 ॥
 कृत्वा च परिवारेण सह कर्तव्यसंविदम् ।
 सुमङ्गलेति साकार्षीन्नाम विप्रसुतात्मनः ॥174 ॥
 कामरूपानमहात्यागभोग्या नाम्ना सुमङ्गला ।
 आगता गणिकैषेति भृत्यैराख्याप्यतात्र सा ॥175 ॥
 देवदत्ताभिधानाथ तत्रत्या गणिकोत्तमा ।
 ददावभ्येत्य तस्यै स्वं राजार्हं मन्दिरं पृथक् ॥176 ॥
 तत्र स्थितां भृत्यमुखेनादौ मित्रं स मे शशी ।
 तामब्रवीत्ख्यातिहृतो भाटिर्मे गृह्यतामिति ॥177 ॥
 अस्मद्वचोऽनुतिष्ठेद्यः प्रविशेत्सोऽत्र कामुकः ।
 न भाट्या कार्यमस्माकं नान्यैः पशुनिभैर्नृभिः ॥178 ॥
 इत्युक्तस्तन्मुखेनैव स सुमङ्गलया तया ।
 तथेत्युक्त्वा शशी रात्रिमुखे तन्मन्दिरं ययौ ॥179 ॥

तत्र स प्रथमं द्वारं सम्प्राप्यावेदितात्मकः ।
 द्वारपालेन जगदे कुर्वस्मत्स्वामिनीवचः ॥180 ॥
 स्नातोऽपीह पुनः स्नाहि प्रवेशो नास्ति तेऽन्यथा ।
 तच्छ्रुत्वा स शशी स्नानं तथेत्यङ्गीचकार तत् ॥181 ॥
 ततः स यावद्दासीभिरभ्यङ्गोद्वर्तनोत्तरम् ।
 विस्रब्धं स्नपितस्तावत्प्रथमः प्रहरो गतः ॥182 ॥
 स्नात्वा प्राप्तोऽथ स द्वारं द्वितीयं द्वाररक्षिणा ।
 ऊचे स्नातोऽसि तत्तावत्प्रसाधनविधिं कुरु ॥183 ॥
 तथेत्युक्तवतस्तस्य दास्यस्तावत्प्रसाधनम् ।
 चक्रुर्यावदिद्वितीयोऽपि प्रहरः पर्यहीयत ॥184 ॥
 तृतीयमथ सम्प्राप्तः कक्ष्याद्वारं स रक्षिभिः ।
 जगदे भुङ्क्ष्व तावत्त्वं प्रविशाभ्यन्तरं ततः ॥185 ॥
 बाढमित्युक्तवन्तं तं दास्यस्तावद्व्यलम्बयन् ।
 आहारैर्विविधैर्यावन्तृतीयः प्रहरो गतः ॥186 ॥
 अथ वासगृहद्वारं चतुर्थं स कथंचन ।
 सम्प्राप्तो द्वारपालेन तत्रैवं निरभर्त्स्यत ॥187 ॥
 ग्राम्यकामुक निर्याहि मा खलीकारमाप्स्यसि ।
 कालः किं पश्चिमे यामे गणिकानवसंगमे ॥188 ॥
 एवं तिरस्कृतेन स कालेनेव रूपिणा ।
 शशी विगलितच्छायो यथागतमगात्ततः ॥189 ॥
 इत्थं सुमङ्गलेत्याख्यां दधत्या वञ्चितास्तया ।
 गणिकारूपया विप्रसुतयान्येऽपि कामुकाः ॥190 ॥
 तच्छ्रुत्वा कौतुकादेव कृत्वा दूतगतागतम् ।
 अहं नक्तं गृहं तस्या अगच्छं सुप्रसाधितः ॥191 ॥
 तत्र द्वाःस्थान्प्रतिद्वारमनुरञ्ज्यार्थदानतः ।
 तस्या वासगृहद्वारं प्राप्तोऽहमविलम्बितः ॥192 ॥
 कालप्राप्तो विमुक्तश्च द्वाराद्द्वारैःस्थैः प्रविश्य ताम् ।
 वेश्यावेशापरिज्ञातामपश्यं स्वप्रियामहम् ॥193 ॥
 सा पुनः प्रत्यभिज्ञाय कृतप्रत्युद्गमादिका ।
 वेश्येव धूर्ता पर्यङ्कनिषण्णं मामुपाचरत् ॥194 ॥

ततो लौकैकसुन्दर्या साकं नीतनिशस्तया ।
 बद्धानुरागो निर्गन्तुं नाशकं तद्गृहादहम् ॥195 ॥
 सापि बद्धरतिः पार्श्वान्नापयाति स्म मे तदा ।
 यावद्दिनैः सगर्भाभून्मेचकाग्रपयोधरा ॥196 ॥
 कृत्वाथ कूटलेखं सा विदग्धा मह्यमर्पयत् ।
 राज्ञा मे प्रभुणा लेखः प्रहितो वाच्यतामिति ॥197 ॥
 ततश्चाहं तमुन्मुच्य लेखमेवमवाचयम् ।
 श्रीकामरूपतः श्रीमान्मानसिंहो महीपतिः ॥198 ॥
 सुमङ्गलामादिशति स्थितास्यत्र चिरं कथम् ।
 शीघ्रमागम्यतां हित्वा देशान्तरकुतूहलम् ॥199 ॥
 मयैवं वाचिते लेखे साब्रवीदुःखितेव माम् ।
 याम्यहं मयि मा मन्युं कृथाः परवती ह्यम् ॥200 ॥
 एवं कृत्वा मिषं प्रायात्स्वं सा पाटलिपुत्रकम् ।
 अहं तु तां परायत्तेत्यनुरक्तोऽपि नान्वगाम् ॥201 ॥
 सा च पाटलिपुत्रस्था कालेन सुषुषे सुतम् ।
 स वर्धमानश्च कलाः सर्वाः शिशुरशिक्षत ॥202 ॥
 द्वादशाब्दश्च वयसा स बालो बालचापलात् ।
 दासेरकं सवयसं लत्तया जात्वताडयत् ॥203 ॥
 ताडितस्तं च सोऽवादीद्बुदन्दासेरको रुषा ।
 त्वं ताडयसि मां यस्य तव न ज्ञायते पिता ॥204 ॥
 मातुर्विदेशभ्रान्ताया जातस्त्वं हि यतस्ततः ।
 इत्युक्तस्तेन वैलक्ष्याद्गत्वाप्राक्षीतस मातरम् ॥205 ॥
 अम्ब को मे पिता कुत्र स चास्ते कथ्यतामिति ।
 साथ माता द्विजसुता वीक्ष्य क्षणमुवाच तम् ॥206 ॥
 पिता ते मुलदेवाख्यो मां त्यक्त्वोज्जयिनीं गतः ।
 इत्युक्त्वा मूलतस्तस्मै स्ववृत्तान्तं शशंस सा ॥207 ॥
 ततः स बालोऽवादीत्तामम्ब तर्ह्यानयाम्यहम् ।
 गत्वा तं पितरं बद्ध्वा प्रतिज्ञां पूरयामि ते ॥208 ॥
 इत्युक्त्वा जननीमेव स बालः प्रस्थितस्ततः ।
 तयोक्तमदभिज्ञानः प्रापदुज्जयिनीमिमाम् ॥209 ॥

दीव्यन्तमक्षैर्मा तत्र दृष्ट्वाभिज्ञाननिश्चितम् ।
 ठिण्ठास्थानेत्य सर्वाश्च द्यूतेन जयति स्म सः ।।210 ।।
 बालत्वेऽपि महाधूर्तः सर्वस्य कृतविस्मयः ।
 अर्थिभ्यः स ददाति स्म तद्द्यूतावजितं धनम् ।।211 ।।
 रात्रौ स्वयुक्त्या चागत्य कार्पासनिचयोपरि ।
 लघु विन्यस्य सुप्तं मां शय्याखट्वामपाहरत् ।।212 ।।
 ततः प्रबुद्धो दृष्ट्वाहमात्मानं तूलपृष्ठगम् ।
 अखट्वं सहसाभूवं सलज्जाहासविस्मयः ।।213 ।।
 अथाहमापणं देव शनैर्गत्वा परिभ्रमन् ।
 तमेव बालं तां खट्वां विक्रीणानं व्यलोकयम् ।।214 ।।
 उपगम्याब्रवं तं च कियता दीयते त्वया ।
 एषा मूल्येन खट्वेति ततो बालोऽब्रवीत्स माम् ।।215 ।।
 न लभ्यतेऽसौ मूल्येन खट्वा धूर्तशिरोमणे ।
 अपूर्वाद्भुतवृत्तान्तवर्णनेन तु लभ्यते ।।216 ।।
 तच्छ्रुत्वाहमवोचं तं तर्हि वच्यद्भुतं तव ।
 तत्त्वतः सत्यमिति तद्बुद्ध्वा चेदनुमन्यसे ।।217 ।।
 यदि त्वसत्यमिति तद्दक्ष्यस्यप्रत्ययेन मे ।
 ततस्त्वं जारजातः स्याः खट्वां च प्राप्नुयामहम् ।।218 ।।
 अनेन समयेनाङ्ग विचित्रं शृणु वच्मि ते ।
 पूर्वं दुर्भिक्षदोषोऽभूद्राष्ट्रे कस्यापि भूपतेः ।।219 ।।
 स वाहनानां नागानां शीकराम्बुमहाभरैः ।
 सूकरप्रेयसीपृष्ठे स्वयं चक्रे कृषिं नृपः ।।220 ।।
 ततो धान्यैः समुत्पन्नैः समृद्धः स महीपतिः ।
 दुर्भिक्षं शमयामास प्रजानां जनपूजितः ।।221 ।।
 एवं मयोक्ते विहसन्सोऽवादीद्बालकस्तदा ।
 नागानां वाहना मेघाः सूकरप्रेयसी क्षितिः ।।222 ।।
 विष्णोः सूकररूपस्य सा हि प्रियतमोच्यते ।
 तस्यां मेघाम्बुभिर्धान्यमुत्पन्नं चेत्किमद्भुतम् ।।223 ।।
 इत्युक्त्वा बालधूर्तो मां विस्मितं सोऽब्रवीत्पुनः ।
 इदानीमहमाख्यामि तवापूर्वं किमप्यदः ।।224 ।।

प्रत्येषि यदि विज्ञाय तत्सत्यमिति तत्त्वतः ।
 तत्ते खट्वां ददाम्येतां स्यास्त्वं दासो ममान्यथा ।।225 ।।
 तथेत्युक्ते मया सोऽथ बालधूर्तोऽब्रवीदिदम् ।
 उदपादि पुरा धूर्तपते कोऽपीह बालकः ।।226 ।।
 अकम्पयत्पदभरेणोर्वीमुत्पन्न एव यः ।
 तदैव वृद्धो भूत्वा च चक्रे लोकान्तरे पदम् ।।227 ।।
 इत्युक्तवन्तं बालं तं तद्बुद्ध्वाहमब्रवम् ।
 अलीकमेतन्नास्त्यत्र सत्यता काप्यहो इति ।।228 ।।
 ततः स बालोऽवादीन्मां जातस्यैव न किं हरेः ।
 चकम्पे चरणाक्रान्ता वसुधा वामनाकृतेः ।।229 ।।
 तदैव वृद्धिं गत्वा च चक्रे तेन न किं पदम् ।
 द्युलोके तज्जितोऽस्येव मया दासीकृतोऽसि च ।।230 ।।
 अत्रापणगताश्चैते सर्वे नौ साक्षिणः पणे ।
 तदहं यत्र गच्छामि तत्रागच्छ समं मया ।।231 ।।
 इत्युक्त्वा सोऽग्रहीद्बालो धीरो मां पाणिना भुजे ।
 तत्रस्थाश्च तथैवास्य साक्ष्यं सर्वे व्यधुर्जनाः ।।232 ।।
 ततश्च मामवष्टभ्य पणबद्धं स सानुगः ।
 नयति स्मान्तिकं मातुः पुरं पाटलिपुत्रकम् ।।233 ।।
 तन्माता च तदानीं तं दृष्ट्वा सा मामभाषत ।
 आर्यपुत्र मयाप्येषा स्वप्रतिज्ञाद्य पूरिता ।।234 ।।
 आनायितोऽस्यवष्टभ्य त्वज्जातेनैव सूनुना ।
 इत्युक्त्वावर्णयत्साध्वी वृत्तान्तं सर्वसन्निधौ ।।235 ।।
 ततस्तां बान्धवाः सर्वे स्वप्रज्ञासाधितेप्सिताम् ।
 पुत्रापमृष्टकौलीनामभ्यनन्दन्कृतोत्सवाः ।।236 ।।
 कृतार्थश्च तया पत्न्या साकं तेन सुतेन च ।
 उषित्वा चिरमत्राहमागामुज्जयिनीमिमाम् ।।237 ।।
 एवं सन्त्येव देवेह भर्तृभक्ताः कुलाङ्गनाः ।
 न पुनः सर्वथा सर्वा दुर्वृत्ता एव योषितः ।।238 ।।
 इत्येतां मूलदेवस्य निशम्य वदनात्कथाम् ।
 विक्रमादित्यनृपतिस्तुतोष सह मन्त्रिभिः ।।239 ।।

इत्याश्चर्याणि शृण्वन्स पश्यन्कुर्वश्च भूपतिः ।
विजित्य विक्रमादित्यः सद्दीपां बुभुजे महीम् ।।240 ।।
इति संयोगवियोगैर्निचितामाख्याय विषमशीलकथाम् ।
कण्वमुनिः पुनरवदत्तस्मिन्मां मदनमञ्चुकाविरहे ।।241 ।।
एवं भवन्त्यचिन्त्या विरहाश्च समागमाश्च जन्तूनाम् ।
तत्स्यात्तवापि नचिरान्नरवाहनदत्त संगमः प्रियया ।।242 ।।
अवलम्बस्व धृतिं तत्सुचिरं भोक्तासि वत्सराजसुत ।
भार्यासचिवसमेतो विद्याधरचारुचक्रवर्तिपदम् ।।243 ।।
एवं कण्वर्षिगिरा लब्धधृतिः क्षपितविरहकालोऽथ ।
भार्या विद्याः खेचरसाम्राज्यं च क्रमादहं प्राप्तः ।।244 ।।
तच्च यथा सम्प्राप्तं वरदस्यानुग्रहान्मया शम्भोः ।
आदावेव तदखिलं वर्णितवानेव वो महामुनयः ।।245 ।।
इति नरवाहनदत्तः स्वकथामाख्याय मुनिजनं निखिलम् ।
गोऽपालकं च मातुलमहर्षयत्कश्यपाश्रमे तस्मिन् ।।246 ।।
नीत्वा च तत्र जलदागमवासरांस्तानामन्ध्य मातुलमृषींश्च तपोर्ींश्च
तपोऽवनस्थान् ।
प्रायात्सदारसचिवः स ततो विमानमारुह्य खेचरचमूपिहितान्तरिक्षः ।।247 ।।
प्राप्य क्षणादृषभकं स्वनिवासमद्रिं साम्राज्यभोगसुखितो द्युचरेन्द्रमध्ये ।
देव्या समं मदनमञ्चुकया स्थितोऽथ रत्नप्रभाप्रभृतिभिश्च स कल्पजीवी ।।248 ।।
इत्येषा शशिशेखरेण तुहिनक्ष्माभृत्सुताभ्यर्थना—
त्सोत्साहेन बृहत्कथा निगदिता कैलासपृष्ठे पुरा ।
उत्पन्नैरथ शापतः क्षितितले कात्यायनाद्याकृती—
बिभ्रद्भिर्गमिता प्रसिद्धिमतुलां तैः पुष्पदन्तादिभिः ।।249 ।।
एतां मद्ददनोद्गतां पठति यो यो वा शृणोत्यादरा—
द्यश्चैतां सुकथां बिभर्ति नचिरात्स ध्वस्तपापः कृती ।
सद्विद्याधरतामवाप्य नियतं लोकं मम प्राप्नुया—
दित्यस्याश्च तदा वरं गिरिसुताकान्तः कथाया ददौ ।।250 ।।

AA bfr egkdfoJhl kēnōHKV/foj fprsdFkl fjRI kxjs

fo"ke'khyyEcdsi ˆpeLrj 3x%AA

AA I eklrks ; afo"ke'khyyEcdks "Vkn'k%AA

AA I eklr'pk; adFkl fjRI kxj%AA

foØekfnR; dFkk, i@91

dFkl fjRI kxj dk fo"ke'khy uked vBkj gok yEcd
AA i gyh rjxAA

भारी पर्वत की पुत्री(पार्वती) के प्रेम के मंदर(पर्वत) से मंथन से पहले कभी शिवजी के मुखसागर से कथामृत प्रकट हुआ। उसका मन से जो रसपान करते हैं वे शिवजी की कृपा से निर्विघ्न ऋद्धियाँ पाते हैं और पृथ्वी पर देवपद प्राप्त करते हैं।

जिनका आधा शरीर चन्द्रमुखी (पार्वती) का है, चन्द्रकिरण के समान श्वेत विभूति वाले हैं जो, जिनके नेत्र चन्द्र, सूर्य और अग्नि हैं, जिनके सिर पर आधा चन्द्रमा है —उन महादेव जी को प्रणाम।। 1।।

जो अपनी सूँड के आगे के भाग को लीला से उठाकर ऐसे प्रतीत होते हैं मानो सिद्धियाँ प्रदान कर रहे हों, वे गजानन आपकी रक्षा करें।। 2।।

तब असित (कृष्ण) गिरि पर कश्यप मुनि के आश्रय में नरवाहनदत्त उन मुनियों से इस प्रकार बोले।। 3।।

और देवी के विरह में अनुरागभरी वेगवती ने मुझे ले जाकर जब रक्षा के लिए विद्या के हाथ में रखा तब परदेश में गये हुए शरीरत्याग की इच्छा रखने वाले मुझ विरही ने वन में घूमते हुए महामुनि कण्व को देखा।। 4-5।।

उन्होंने मुझे चरणों में नत देखकर ध्यान से सब समझकर मुझ दुखी को अपने आश्रम में ले गये और दयापूर्वक मुनि इस प्रकार बोले।। 6।।

92@foØekfnR; dFkk, j

तुमने सोमवंश में जन्म लिया। वीर होकर भी क्या पागलपन कर रहे हो। देव का यह निश्चय आदेश है कि तुम्हारा भार्या से मिलन होगा, उस पर भी तुम्हें विश्वास नहीं।। 7।।

यहाँ मनुष्यों का समागम भी असम्भव होता है। उस सम्बन्ध में तुम्हें विक्रमादित्य—कथा कहता हूँ सुनो।। 8।।

अवन्ती जनपद में युग के आरम्भ में विश्वकर्मा द्वारा निर्मित उज्जयिनी नामक विख्यात नगरी है जहाँ पुरारि शिव का निवास है। जो सती के समान अन्य द्वारा आक्रान्त या अपमानित या सती के समान परायों को पराजित करने योग्य हैं, पद्मिनी के समान जो लक्ष्मी द्वारा आश्रित (आश्रय लिये) हैं, सज्जनों की बुद्धि के समान धर्म से सम्पन्न हैं और पृथ्वी के समान बहुत—से कौतुक (मनोविनोद एवं उत्सव) से युक्त हैं।। 9—10।।

उसमें विश्वविजेता महेन्द्रादित्य नामक राजा था, जिस प्रकार अमरावती में इन्द्र था। वह शत्रुओं के बल (सैन्य) का विनाशक था।। 11।।

वीरता में उसके पास विभिन्न शस्त्र और आयुध थे तो रूप में वह कामदेव था। त्याग में उसके हाथ खुले थे परन्तु उसके हाथ की मुट्ठी सदा घूँसे के रूप में बँधी रहती थी।। 12।।

उस राजा की पत्नी का नाम सौम्यदर्शना था। वह वैसी ही थी जैसी इन्द्र की शची, शिव की गौरी अथवा विष्णु की लक्ष्मी।। 13।।

उस राजा के महामन्त्री का नाम सुमति था और उसके पारंपरिक प्रतीहार का नाम वज्रायुध था।। 14।।

उन सबके साथ राजा शासन करता हुआ शिवजी की आराधना करता था। पुत्रकामना से वह लगातार अनेक व्रत करता रहता था।। 15।।

इसी बीच जिसकी गुफाओं में देवों का निवास है और अन्यों के दिग्विजय के आनन्दसहित उत्तर दिशा के हास से सुन्दर कैलास महापर्वत पर पार्वती सहित स्थित शिवजी के पास इन्द्रसहित देवगण पहुँचे। वे म्लेच्छों के उपद्रव से विचलित थे।। 16—17।।

प्रणाम के पश्चात् वे बैठ गये। उन देवताओं ने स्तुतियाँ कीं। तब उनके आगमन का प्रयोजन पूछने पर वे महादेव से इस प्रकार बोले।। 18।।

हे देव! आपने और विष्णु भगवान् ने जिन राक्षसों को मार डाला था। वे अब फिर धरती पर म्लेच्छ रूप में उत्पन्न हो गये हैं। वे विघ्न रूप हैं। सबको मार डालते हैं। यज्ञादि क्रिया नष्ट करते हैं। वे मुनियों की कन्याओं का हरण कर लेते हैं। और भी वे पापी क्या क्या (दुराचार) नहीं करते हैं। हे प्रभो! भूलोक से देवलोक सदा प्राप्ति करता रहता है। ब्राह्मण अग्नि में हवन करते हैं और पृथ्वी से देवताओं की तृप्ति होती है। म्लेच्छों से आक्रान्त धरती से आहुति का मंगलकारी वषट् शब्द चला गया। यज्ञभाग दूर हो जाने से देवलोक दुखी हो रहा है। अतः उसका उपाय कीजिए। किसी वीर को अवतरित कीजिए इस भूतल पर जो उन म्लेच्छों को भगा सके।। 19—23।।

इस प्रकार देवों के बताने पर पुरारि शिव उनसे बोले— तुम जाओ इसमें चिन्ता नहीं करनी चाहिए। तुम निश्चिन्त रहो। इसमें संशय नहीं है कि मैं शीघ्र ही उपाय करूँगा। यह कहकर अम्बिकापति शिव ने देवों को अपने यज्ञस्थान के लिए विदा किया।। 24—25।।

उन देवों के जाने के बाद माल्यवान् नामक गण को बुलाकर पार्वती सहित भगवान् शिव ने उसे यह आदेश दिया— हे पुत्र! उज्जयिनी महापुरी में महेन्द्रादित्य राजा का पुत्र बनकर मनुष्य रूप में उत्पन्न हो जा। वह राजा मेरा ही अंश है और उसकी पत्नी अम्बिका के अंशरूप में उत्पन्न हुई है। उनके घर उत्पन्न होकर देवों का काम कर। सब म्लेच्छों को मार जो वेदधर्म के विनाशक हैं। मेरे आशीर्वाद से सप्त द्वीप का स्वामी राजा बनेगा तू। तेरे वश में यक्ष, राक्षस, वेताल रहेंगे। मनुष्य के सब भोग भोगकर फिर हमारे पास आ जाएगा।। 26—30।।

जब शिवजी ने यह आदेश दिया तो वह माल्यवान् गण बोला—आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं हो सकता। परन्तु मानव रूप में मुझे क्या भोगना पड़ेगा। जहाँ बन्धुओं और मित्रों के असहनीय नियोग का दुःख झेलना पड़ता है। धन का विनाश, बुढ़ापा, रोग आदि से परेशानी रहती है। गण के ऐसा कहने पर शिवजी ने उसे बताया—जा पुण्यशाली तुझे ये दुःख नहीं होंगे। मेरी कृपा

से तू हर समय सुखी रहेगा। शिवजी के यह कहते ही वह माल्यवान् अदृश्य हो गया और उज्जैन जाकर महेन्द्रादित्य राजा की रानी का ऋतुसम्बन्धी गर्भ बन गया। उसी समय चन्द्रशेखर महादेव ने स्वप्न में महेन्द्रादित्य राजा को आदेश दिया— मैं प्रसन्न हूँ। इसलिए हे राजन् तेरे पुत्र होगा जो अपने विक्रम से द्वीपों सहित पृथ्वी पर आक्रमण करके यक्ष, राक्षस, पिशाच, पाताल—आकाश यात्री तथा म्लेच्छ—समूहों को मार डालेगा। इसलिए इसका विक्रमादित्य नाम होगा और शत्रुओं पर विषमता रहने से उसका नाम विषमशील (भी) रहेगा।। 26—39।।

यह कहकर महादेव जब अन्तर्धान हो गये तब उस राजा ने जागकर प्रातः अपने सचिवों को प्रसन्नतापूर्वक सपने की बात बताई। वे सचिव भी शिवजी के पुत्रप्राप्ति के फल रूप शिवजी के आदेश की बात से प्रसन्न हुए और बड़ी प्रशंसा की। तब तक अन्तःपुर की सेविका ने राजा को प्रत्यक्ष फल की बात बताई और उसने रानी को भी बताया कि स्वप्न में शम्भु ने यह सब बता दिया है।। 40—42।।

तब राजा का सचिवों ने अभिनन्दन किया और प्रसन्न होकर राजा ने बार बार कहा— सचमुच मुझे शिवजी ने बेटा दिया। तब गर्भवती रानी के तन से प्रातःसूर्यकान्ति से मण्डित पूर्व दिशा के समान कान्ति प्रकट होने लगी। उसके स्तनों के अग्रभाग की श्यामलता बढ़ गयी। मानो गर्भस्थ सम्राट् की स्तनरक्षा की मुद्रा हो।। 43—45।।

वह रानी स्वप्न में सातों समुद्र पार कर गयी। उसको समस्त यक्ष, वेताल, राक्षस प्रणाम कर रहे थे। समय पर उसने तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। बालसूर्य से आकाश के समान निवास चमक उठा।। 46—47।।

उसके उत्पन्न होने से खिले पुष्पों की वर्षा हुई। देवदुन्दुभि की ध्वनि से आकाश गूँज उठा। तब तो नगरी मतवाली—सी, भूत प्रेत लगी—सी, वातक्षोभ (भूतालिया) लगी—सी तत्काल उत्सव और आनन्द से अभिभूत हो गयी।। 48—49।।

तब वहाँ राजा पर नजराने के रूप में धन की वर्षा होने लगी। बौद्ध के अतिरिक्त तब कोई भी अनीश्वर (बिना ऐश्वर्यशाली का) नहीं रहा।। 50।।

शिवजी के कहे अनुसार पिता ने उस पुत्र का नाम रखा—विक्रमादित्य और उस राजा महेन्द्रादित्य ने उसका नाम विषमशील भी रखा।। 51।।

कुछ दिनों बाद उस राजा के मन्त्री सुमति के यहाँ पुत्र हुआ जिसका नाम महामति रखा। प्रतीहार वज्रायुध का भी पुत्र भद्रायुध (भद्रायुध प्रतीहार की उपलब्धियों की चर्चा पादताडितक भाण में भी है) हुआ। महीधर पुरोहित का पुत्र श्रीधर हुआ। उन तीनों मन्त्रीपुत्रों के साथ वह राजकुमार विक्रमादित्य इस प्रकार बढ़ने लगा जैसे तेज, वीर्य और बल के साथ बढ़ रहा हो।। 52—54।।

उपनयन के बाद गुरुओं के पास विद्याओं के लिए नाममात्र के लिए गया। और बिना प्रयास के वे विद्याएँ प्रकट हो गयीं। उसने जिस—जिस विद्या और कला को देखा वही—वही अपने उत्कर्ष रूप में उसके सामने प्रकट होने लगी। उस राजकुमार को लोगों ने दिव्यास्त्रों का योद्धा देखा तो राम आदि धनुर्धरों की कथा पर भी उनका आदर कम होने लगा।। 55—57।।

आक्रमण करने पर नत नृपों ने अपनी रूपवती कन्याएँ प्रदान कर दीं। उसके पिता उन्हें अन्य लक्ष्मी के समान साथ ले आये। तब प्रचुर विक्रमशाली उसके युवा होने पर उस जनप्रिय पुत्र का राज्याभिषेक कर दिया। तब वृद्ध राजा महेन्द्रादित्य भार्या तथा सचिव सहित शिवजी की शरण में वाराणसी चले गये।। 58—60।।

वह राजा विक्रमादित्य भी पैतृक राज्य प्राप्त कर आरम्भ में ही ऐसा प्रतापी होने लगा मानो आकाश में सूर्य। उसके धनुष पर डोरी चढ़ाते ही उसके अनुशासन में मानो सब ओर के राजा अपने मस्तक झुकाने लगे।। 61—62।।

पथभ्रष्ट वेताल—राक्षस आदि भी उसके दिव्य रूपाकार से प्रभावित होकर अनुशासन में रहने लगे। उस विक्रमादित्य की सेनाएँ पृथ्वी पर दिशा—दिशा में ऐसे प्रस्थान करने लगीं मानो सूर्य की रश्मियाँ।। 63—64।।

वह राजा महावीर होने पर भी परलोक से डरता था। वीर होने पर भी प्रचण्ड किरण वाला (प्रचण्ड कार्य करने वाला) नहीं था। पृथ्वी का स्वामी होने पर भी, असहनशील स्वामी होने पर भी नारियों में प्रिय था। वह उन

सबका पिता था जिनके पिता नहीं थे, जिनके बन्धु नहीं थे उनका बन्धु था, अनाथों का नाथ था। वह प्रजा का क्या नहीं था अर्थात् सब कुछ था। क्षीरसागर के श्वेतद्वीप से कैलास—हिमालय पर्वतों तक के निर्माण में उसका यश विधाता का उपमान बन गया था।। 65—67।।

एक बार राजसभा में प्रवेश करके प्रतीहार, भद्रायुध ने राजा विक्रमादित्य को सूचना दी कि दक्षिण दिशा को जीतने के लिए सेना सहित जो विक्रमशक्ति (सेनापति) को भेजा था। उसके पास जो अनंगदेव नामक दूत भेजा था वह द्वार पर आ गया है। उसका मुख प्रसन्न है। अतः शुभ बतला रहा है स्वामी। उसके साथ एक और है। 'भीतर लाओ' —राजा के ऐसा कहने पर वह उस अनंगदेव को बड़े सम्मान के साथ प्रतीहारी लाया। प्रवेश करके 'जय' शब्द के साथ प्रणाम किया। वह दूत आगे बैठा तब उस राजा ने उससे पूछा—सेनापति राजा कुशल से तो हैं न। और अन्य व्याघ्रबलादि राजा भी सकुशल हैं न। अन्य राजपूत (राजकुमारों) प्रधानों का उसकी सेना में सब मंगलमय है न— गज, अश्व, रथ, पैदल आदि सब! ।। 65—74।।

राजा के ऐसा पूछने पर उस अनंगदेव ने कहा— विक्रमशक्ति और पूरी सेना सकुशल हैं। देव ने अपरान्त सहित दक्षिणापथ, मध्यदेश, सौराष्ट्र, बंग सहित अंग और पूर्वी दिशा और कश्मीर सहित उत्तरी दिशा को करद (अधीन) बना दिया। भिन्न—भिन्न दुर्ग और द्वीप जीत लिये, म्लेच्छ समूहों को नष्ट कर दिया और बचे हुएों को अधीन कर लिया और वे राजा विक्रमशक्ति की सेना में सम्मिलित हो गये। और वह विक्रमशक्ति उन राजाओं के साथ आ गया। हे प्रभो! यहाँ से दो—तीन पड़ाव पर ही वह। ऐसा कहने पर उस दूत अनंगदेव को प्रसन्न होकर वस्त्र, आभूषण, ग्रामों से सम्पन्न कर दिया।। 75—80।।

तब राजा ने उस श्रेष्ठ दूत से पुनः पूछा— अनंगदेव, जाते हुए कौन—से देश देखे। तूने कहाँ क्या विचित्र देखा? भद्र! कहो वही। राजा के यह कहने पर अनंगदेव कहने लगा।। 81—82।।

हे देव! आपकी आज्ञा से यहाँ से जाने पर मैं क्रम से विक्रमशक्ति के पास पहुँचा जहाँ आपकी सेना की विजय हो रही थी। वहाँ अनन्तनाग—शेषनाग लक्ष्मी और हरि से शोभित, समुद्र के समान विस्तृत पीखदार पर्वत पर जो

हैं, वहाँ उस विक्रमशक्ति के साथ पहुँचा। स्वामी ने भेजा—इसलिए प्रणाम करके मेरा बड़ा सत्कार किया।। 83—85।।

जब तक मैं विजय का स्वरूप देख रहा था तब तक सिंहलेश्वर से सम्बन्धित दूत आ गया। तेरे राजा का हृदय रूप पास ही ठहरा है —यह पास में आकर दूतों ने कहा। तो शीघ्रता से मेरे पास अनंगदेव को भेजो। उसका कल्याण (मंगल) पूछूँगा। कुछ राजकाज भी है। सिंहल से आये उस दूत ने अपने स्वामी की यह बात मेरे सामने उस विक्रमशक्ति से कहने पर उस विक्रमशक्ति ने मुझसे कहा— जल्दी जाओ सिंहलराज के पास। देखो तुम्हारे सामने वह क्या कहता है! तब मैं सिंहलराज के दूत के साथ सागर के मार्ग से सिंहलद्वीप गया।। 86—91।।

वहाँ मैंने देखा कि राजधानी स्वर्णनिर्मित थी। विचित्र रत्नों के से प्रासाद वाली वह देवनगरी—सी थी। उसमें मैं सिंहल के स्वामी वीरसेन से मिला। जो विनम्र सचिवों से ऐसा घिरा था मानो देवों से इन्द्र घिरा हो। वह मेरे पास आ गया और आदर किया तथा स्वामी (आप) की कुशल पूछी। राजा ने बहुत सत्कार के साथ मुझे विश्राम करवाया।। 92—94।।

दूसरे दिन राजसभा में उस राजा ने मुझे बुलाया। आप पर भक्ति प्रकट करते हुए मन्त्रियों के सामने बोला— मेरी एक बेटी कन्या है जो मृत्युलोक की एकमात्र सुन्दरी है। नाम उसका मदनलेखा है। उसे मैं तुम्हारे राजा को देता हूँ। वह लड़की उस राजा के अनुरूप भार्या है और उस राजकुमारी का वह उचित पति है। इसीलिए तुम्हें बुलाया कि तुम्हारे स्वामी के लिए हमारी यह अभिलाषा है। अपने स्वामी को कहने के लिए मेरे दूत के साथ आगे जाओ। तुम्हारे पीछे ही मैं अपनी पुत्री भेज दूँगा।। 95—98।।

यह कहकर राजा ने वहाँ अपनी बेटी को बुला लिया। रूप, लावण्य और यौवन से वह आभरण से विभूषण का उचित स्थान था। उसे अपनी गोद में बिठाकर दिखाकर मुझसे बोला— "मैंने यह कन्या तुम्हारे स्वामी को दे दी, ग्रहण करो।" ।। 99—100।।

और मैं भी उस राजकुमारी को देखकर उसके रूप से चकित हो गया। राजा के लिए स्वीकृत— मैंने भी प्रसन्न होकर यह कह दिया। और सोचा कि

इसमें आश्चर्य विधि नहीं कि विधाता भी तिलोत्तमा को बनाने के बाद इस उत्तमा को बनाकर तृप्त हुए।। 101-102।।

तब राजा ने बड़ा सत्कार करते हुए मुझे उस द्वीप से विदा किया। उसके दूत इस धवलसेन के साथ। हम दोनों जब तक जलयान पर बैठकर सागर पर जाते हैं तब तक तत्काल उस बीच एक बड़ा किनारा हमने देखा। उसके बीच अनोखे रूप वाली दो कन्याओं को हमने देखा। एक तो प्रियंगु जैसे श्यामल देह की और दूसरी चन्द्र जैसी विमल (धवल) कान्ति की।। 103-105।।

अपने अपने रंग रूप के अनुसार वस्त्रों तथा अलंकारों से वे सुशोभित थीं। रत्नजटित कंगन ध्वनि के साथ हाथों की तालियाँ बजाती हुई नाच रही थीं। सामने क्रीडामृग का बच्चा रत्नों से चित्रित सुवर्णमय सजीव।। 106-108।।

हम दोनों देखकर चकित हो कह रहे थे— अरे यह कैसा आश्चर्य है? स्वप्न है या माया है या कहीं भ्रम तो नहीं। कहाँ सागर में अस्थान में तट, कहाँ ऐसी कन्याएँ और कहाँ नयनों का रत्न अनोखे अंगों वाला इनका यह जीवित स्वर्णमृग। यह सब कह ही रहे थे हम दोनों कि हे देव! अचानक हवा चलने लगी। सागर को लहरों से उद्वेलित करने लगीं। हमारी नौका उन लहरों से टूट गयी। उसमें बैठे लोग डूब गये जिन्हें मगर खा गये। हम दोनों को उन कन्याओं ने अपनी बाहुओं में सहारा दिया। हमें उठाकर किनारे लायीं और मकरमुख से हम बच गये। उस तट पर लहरें भर गयीं तो हम विह्वल हो गये। ढाढस देकर हम दोनों को वे मानो गुफा में ले गयीं। वहाँ हम देखते हैं कि विभिन्न वृक्षों का दिव्य वन है। न सागर है, न तट है, न मृगछौना है, न वे दोनों कन्याएँ हैं। आश्चर्य है, कैसा आश्चर्य है। निश्चय ही यह कोई माया है—ऐसा कहते हुए हम पल भर भ्रमण करते रहे। तभी वहाँ हमने विशाल सरोवर देखा। स्वच्छ, गम्भीर, विस्तीर्ण—मानो विशालों का घर हो। तृष्णा—सन्ताप को शान्त करने वाले मूर्तिमान् निर्वाण के समान।। 109-116।।

और वहाँ स्नान के लिए आयी साक्षात् वनश्री के समान किसी श्रेष्ठ नारी को हमने देखा जो परिवार से घिरी थी। वह कर्णरथ (हाथ से खींचे जाने वाले रथ) से वहाँ उतरी जो उचित ही तालाब से उगी कमल थी। तालाब में

foØekfnR; dFkk, i@99

स्नान करके उसने शिवजी का ध्यान किया। तब तक हमारे विस्मय के साथ तालाब से साक्षात् लिंगाकृति शिव प्रकट होकर उसके पास पहुँचे। तब दिव्य रत्नों से रम्पन्न उस शिवलिंग की अपनी वैभव क्षमता के अनुरूप विभिन्न भोगों से अर्चना कर उस सुन्दरी ने वीणा ले ली। स्वर ताल, पद आदि से दक्षिण के मार्ग (शैली) में सावधानीपूर्वक वह भलीभाँति गाती हुई बजाने लगी। उसे सुनने से हृदय आकर्षित हो जाने पर आकाश से आये सिद्ध आदि भी वहाँ चित्रलिखित के समान धड़कन रोककर निस्स्पंद रह गये। संगीत पूरा होने पर शिवजी का वहीं तालाब में विसर्जन हो गया। तब उठकर अपने वाहन पर चढ़कर सेवकों सहित वह मृगाक्षी धीरे धीरे जाने लगी। हमारे बार-बार यह पूछने पर भी कि— “कौन है यह” —उसके सेवकों ने कोई उत्तर नहीं दिया।। 117-125।।

तब इस सिंहलद्वीप के स्वामी के दूत को आपका प्रभाव दिखाते हुए मैंने उसे जोर से कहा— अरी शुभे! विक्रमादित्य देव के चरणों को छूकर सौगन्ध है तुझे यदि मुझे बताये बिना तू जाएगी तो। यह सुनकर वह सेवकों को हटाकर वाहन से उतरकर मेरे पास आकर मधुर वाणी में बोली—क्या श्रीविक्रमादित्य देव प्रभु सकुशल तो हैं न। क्या पूछूँ अनंगदेव! सब कुछ जानती ही हूँ। माया दिखाकर मैं ही आपको यहाँ उस राजा के लिए लायी हूँ। वे मेरे माननीय हैं क्योंकि उन्होंने महाभय से मुझे बचाया था। इसलिए आओ मेरे घर चलो। वहाँ मैं तुम्हें सब बताऊँगी कि किस प्रकार वह राजा मेरा माननीय है और उसका सब काम करना चाहिए।। 126-131।।

यह कहकर वाहन त्यागकर पैदल ही पथ पर नम्र होकर चल पड़ी और उन दोनों को अपने स्वर्गतुल्य नगर में सुमुखी ले गयी। वह नगरी अनोखे रत्नों से जड़े स्वर्ण से बना था। द्वारों पर विविध आयुध लिये अनेक रूपधारी वीरपुरुष सब ओर तैनात थे। फिर वहाँ उत्तम सधवाओं से समस्त दिव्य भोगों के समूह की सिद्धियों के समान आकृति वालियों द्वारा स्नान अनुलेप, अच्छे वस्त्र, आभूषणों से हम दोनों का सम्मान कर फिर विश्राम करवाया। 132-133

AA egkdf0 Jhl keno HKVV fojfor dFkl fjRI kxj dsfo"ke'khy
yEcd eai gyh rjx l iwAA

100@foØekfnR; dFkk, i

AA n! jh rj&AA

सभा के मध्य विक्रमादित्य देव को यह कहकर अनंगदेव फिर इस प्रकार बोला— जब भोजन हो चुका तब सखियों के बीच बैठी वह मुझसे बोली— हे अनंगदेव! अब मैं सब बताती हूँ, सुनो। मैं कुबेर के भाई मणिभद्र की पत्नी, यक्षराज दुन्दुभि की पुत्री मदनमंजरी हूँ। पति के साथ मैं सदा नदियों के तटों पर छोटे-छोटे मनोहर उपवनों में सुख से विचरण करती रहती थी। एक बार पति के पीछे-पीछे मकरंद नामक उद्यान में विहार करने के लिए मैं उज्जैन गयी। वहाँ दुर्भाग्य से एक नीच खण्डकापालिक ने मुझे तब देख लिया जब विहार के श्रम से मैं सोकर उठी थी। वह पापी कामातुर हो गया और श्मशान में जाकर मुझे पत्नी रूप में प्राप्त करने की साधना के लिए मन्त्र द्वारा होम करने लगा। तब अपने प्रभाव से यह सब ज्ञात कर मैंने पति से कहा। उसने भी यह सब जानकर अपने बड़े भाई कुबेर को कहा। कुबेर ने जाकर ब्रह्मा से कहा। ब्रह्मा ने ध्यान करके उससे कहा— सचमुच वह कपाली तेरी पत्नी का हरण करने का प्रयत्न कर रहा है। उसके पास वैसी यक्ष साधन मन्त्रों की शक्ति है। उस आकर्षण मन्त्र से तो राजा विक्रमादित्य ही पार पा सकता है। वह उसकी रक्षा कर लेगा।। 1-11।।

ब्रह्मा की यह बात आकर कुबेर ने मेरे पति को बतायी। मेरे पति कुमन्त्र की बात मुझे बतायें तब तक तो क्रमसिद्धि (तन्त्रागम में इसका साहित्य वर्णित है।) मन्त्र से श्मशान में होम करने वाले खण्डकापालिक ने स्वयं ही मुझे आकर्षित कर लिया। और मैं भी मन्त्र से आकर्षित होकर उससे व्यथित

होकर अस्थि—कपाल सम्पन्न भूतसेवित भीषण श्मशान में पहुँच गयी और वहाँ मैंने तब उस दुष्ट कापालिक को देखा जिसने अग्नि में हवन किया था और पूजा से उठे हुए शव पर बैठा हुआ था— ऐसा था पूरा वातावरण। वह कापालिक मुझे वहाँ पहुँची देखकर गर्वित होकर भाग्य से निकट की नदी में आचमन करने पहुँचा। उसी क्षण ब्रह्मा की बात का स्मरण कर मैंने सोचा— मैं राजा को क्यों न बुलाऊँ। संभवतः वह रात में इधर ही घूम रहा हो। यह सोचकर मैं जोर चिल्लायी— हे राजन्! विक्रमादित्यदेव मेरी रक्षा करो। आप जगत् की रक्षा करते हैं। देखो कुबेर के अनुज मणिभद्र (मणिभद्र यक्ष की प्रायः दो हजार वर्ष प्राचीन विशाल प्रतिमाएँ सुलभ हैं।) की मैं सती कुलवधू गृहिणी हूँ, दुन्दुभि की पुत्री यक्षी हूँ। नाम मेरा मदनमंजरी है। मुझे बलपूर्वक यह कापालिक तुम्हारे राज्य में नष्ट करने पर तुला है।।12-20।।

इस प्रकार चिल्ला रही थी तभी तेज से जलते हुए से हाथ में खड्ग लिये आते हुए उस राजा को मैंने देखा। उसने मुझसे कहा— भद्रे! डरो मत, निश्चिन्त रहो। मैं इस कापालिक से आपकी रक्षा करूँगा। शुभे! मेरे राज्य में इस प्रकार का अधर्म करने में कौन समर्थ है। यह कहकर अग्निशिख नामक वेताल का उसने आह्वान किया। बुलाने पर वह जलते नेत्रों वाला, धूलभरा, खड़े बाल वाला आकर राजा से बोला— आदेश दो, क्या करूँ मैं। तब राजा ने कहा— परनारी का अपहरण करने वाला यह पापी कापालिक है। इसे मारकर खा जाओ। तब वह अग्निशिख पूजा के घेरे में स्थित शव में प्रविष्ट होकर अपनी भुजाएँ और मुख उठाकर दौड़ा। कापालिक आचमन कर जाते हुए भागने लगा तो वेताल ने उसकी टाँगें पकड़ लीं, आकाश में घुमाया और धरती पर पटक मारा। उसकी देह मनोरथ के साथ चूर-चूर हो गयी। कपाली को मरा देखकर मांसाहारी भूतों में महाबली यमशिख वेताल आया। आते ही उसने कापालिक के शरीर को ले लिया। तब अग्निशिख नामक पहले का वेताल उससे बोला— मैंने तो श्रीविक्रमादित्य देव के आदेश से यह कापालिक मारा। अरे दुराचारी तू इसका कौन है।। 21-31।।

यह सुनकर यमशिख बोला— तो तू बता मुझे। उस राजा का प्रभाव (हैसियत) क्या है? तब वह अग्निशिख वेताल बोला। उसके प्रभाव को नहीं जानते हो तो मैं बताता हूँ, सुनो। इस नगरी में डाकिनेय नामक धैर्यवान्

कितव (छलिया/ठग) था। उससे अन्य ठगों ने छल से जुए में सब कुछ छीन लिया। और धन पाने के लिए उन्होंने उसे बाँध दिया। निर्धन हो जाने से न दे पाने के कारण उन्होंने उसे लकड़ी आदि से पीटा तो वह मरे के समान पत्थर बना पड़ा रहा। तब उन पापी जुआड़ियों ने उसे ले जाकर विशाल अन्धे कुएँ में फेंक दिया। यह मानकर कि जीवित रहेगा तो बदला लेगा। और उस अतिगम्भीर कूप में पड़े हुए ठग डाकिनेय ने अपने सामने दो महापुरुषों को देखा। दोनों ने उस गिरे हुए डरे हुए ठग से पूछा— यह बता, तू कौन है और कहाँ से इस कुएँ में आ गिरा? निश्चिन्त होकर उस जुआड़ी ने अपना विवरण बता दिया और उनसे पूछा कि आप दोनों कौन हो। मुझे बताओ कि दोनों कहाँ से आये। यह सुनकर कुएँ में पड़े वे दोनों लोग बोले— हे भद्र! हम दोनों इस नगरी के श्मशान के ब्रह्मराक्षस हैं। इस नगरी में हमने दो लड़कियाँ पकड़ लीं। एक थी मुख्यमन्त्री की बेटी और दूसरी भी मुख्य वणिक् (नगरसेठ) की बेटी। उन कन्याओं को कोई बड़ा से बड़ा मन्त्रवेत्ता या जिसने मन्त्र जगा लिये हैं— ऐसा पृथ्वी का कोई भी मन्त्रज्ञ हमसे नहीं छुड़ा सका।। 32—42।।

यह जानकर उनके पिताओं का स्नेही विक्रमादित्यदेव वहाँ गया जहाँ उन पिताओं की दोनों कन्याएँ थीं क्योंकि वे दोनों भी सखियाँ थीं। और वे पिता राजा के मित्र थे। उस राजा को देखते ही वे लड़कियाँ भागने लगीं। परन्तु चाहते हुए भी हम दोनों वहाँ से नहीं जा सके। उसके तेज से सब दिशाएँ जलती हुई—सी हमने देखीं। तब उस राजा ने अपने प्रभाव से हमें देखकर बाँध दिया। मृत्यु आने के डर से हमको दीन देखकर यह आदेश दिया— अरे पापियो! अन्धकूप में एक साल तक रहो। वहाँ से छूटने पर आप लोग फिर ऐसा काम मत करना। करोगे तो मैं फिर तुम्हें पकड़ लूँगा। यह आदेश देकर यहाँ अन्धकूप में हम दोनों डाल दिये गये। राजा विषमशील ने कृपा करके हमारा वध नहीं किया। इस कुएँ में निवास की एक वर्ष की अवधि आठ दिनों में पूरी हो जाएगी। तब हम छूट जाएँगे। तो इन बचे (आठ) दिनों का कुछ भोजन देता हो तो इस कुएँ में से उठाकर तुझे बाहर फेंक देते हैं मित्र! हाँ करके भी यदि बाहर जाकर हमें भोजन नहीं देगा तो बाहर निकलकर हम तुझे खा जाएँगे। जब ब्रह्मराक्षसों ने यह कहा तब उस ठग ने काम बन जाने से स्वीकार कर लिया तो उसे उन्होंने कुएँ से बाहर फेंक

दिया।। 43—52।।

कुएँ से बाहर आया तो धनप्राप्ति का कोई मार्ग न दिखा। तब रात में मनुष्य का महामांस खरीद लेने को श्मशान में जा पहुँचा। उस समय वहाँ रहते हुए मैंने उस ठग को देख लिया। जो कह रहा था कि बिक रहा है, ले लो कोई महामांस। मैंने कहा क्या मूल्य चाहते हो, मैं लेता हूँ। तब उसने कहा कि मुझे अपना रूप और प्रभाव दे दो। मैंने कहा— वीर! उन्हें लेकर क्या करेगा। अपनी पूरी कथा कहकर वह ठग बोला— तुम्हारे रूप और प्रभाव से जुआड़ी शत्रु उन ठगों को पकड़कर दोनों ब्रह्मराक्षसों को दे दूँगा। यह सुनकर मैंने धीरज सन्तोष से उस जुआड़ी को सात दिन के लिए रूप और प्रभाव दे दिया। रूप और प्रभाव से उसने खींचकर उन अपकारियों को क्रम से कुएँ में ले जाकर फेंक दिया और सात दिन तक वे ब्रह्मराक्षस उन्हें खा गये। तब मेरे द्वारा रूप व प्रभाव दिया गया वह जुआड़ी डाकिनेय डर के मारे मुझसे बोला— आज आठवें दिन मैंने भोजन नहीं दिया इसलिए वे दोनों ब्रह्मराक्षस कुएँ से निकलकर मुझे खा जाएँगे। आप मेरे मित्र हैं। आप ही बताइए, अब मैं क्या करूँ। उसके ऐसा कहने पर उससे मैंने प्रेमपूर्वक यह कहा— यदि तूने उन राक्षसों को इतने ठग खिला दिये तो तेरे लिए उन राक्षसों को मैं खा जाऊँगा। हे मित्र! इसलिए बता उन दोनों को। उसके यह कहने पर उसी समय—ठीक है— कहकर ठग मुझे कुएँ के निकट ले गया। जब तक मैं नीचा मुँह कर निश्चिन्तता से कुएँ को देखने लगा तब तक उसने पंजे से गले पर धक्का देकर मुझे कुएँ में फेंक दिया। कुएँ में गिरने के साथ ही खाने की सोचकर दोनों राक्षसों ने पकड़ लिया। तब उनके साथ मेरा बाहुयुद्ध हुआ। जब बाहुयुद्ध बहुत हो गया और वे मुझे हरा नहीं सके तो लड़ना छोड़कर उन दोनों ने मुझसे पूछा कि तू कौन है? तब मैंने डाकिनेय विवरण से लगाकर अपना वृत्तान्त बताया तो मित्रता करके वे दोनों मुझसे बोले।। 53—68 ।।

अरे उस दुष्ट ठग ने तेरी, हम दोनों की और उन ठगों की कैसी हालत कर दी। जिनके मन को न मित्रता, न दया, न उपकार छूता है। एक मात्र जो छल की ही विद्या जानते हैं, उन ठगों पर क्या विश्वास? ठगों का स्वभाव है कि वे साहस (जघन्य अपराध) बिना मतलब के करते रहते हैं। इस तरह की ठिण्ठाकराल की कथा तुम सुनो।। 69—71।।

इसी उज्जयिनी नगर में पहले कभी जुआड़ी टिण्डाकराल हुआ जो नाम के अनुरूप विषम था। वह नित्य जुए में हारता था और दूसरे जीतते थे। वे जुआड़ी प्रतिदिन सौ कपर्दक (कौड़ियाँ) देते थे। उससे वह दुकान से साँझ के समय गेहूँ खरीद कर कहीं भी खप्पर में पानी से मसलकर रोटियाँ (मालपुए) बनाता तथा श्मशान में जाकर आग में सेक लेता और महाकाल के सामने आकर वहाँ के दीप के घी से चुपड़कर खा लेता। वहीं महाकाल देवालय के आँगन में सदा हाथ का तकिया लगाकर रात में धरती पर ही सो जाता था।। 72-76।।

एक बार वहाँ महाकाल मन्दिर में रात में उसके देखते-देखते मातृमण्डल (माताजी) यक्ष आदि की प्रतिमाएँ मन्त्रों के प्रभाव से हिलने लगीं तो उसे ऐसा विचार आया कि तरकीब से धन के लिए उपाय क्यों नहीं करूँ मैं। सिद्धि से भला होगा। और सिद्धि न हुई तो मेरी क्या हानि। यह विचार कर उसने उन देवियों को द्यूत के लिए पाँसा फेंकने के लिए कहा। अरे आओ आपके साथ यहाँ मैं पाँसे खेलता हूँ। मैं द्यूतकर हूँ। पाँसे फेंकने से जीता हुआ तत्काल दिया जाएगा।। 77-80।।

उसने उन देवियों को यह कहा तो वे चुप रहीं। टिण्डाकराल ने अनोखी कौड़ियाँ दाव पर लगा दीं। फेंकना स्वीकार करता रहा, वह ठग मना नहीं करता। जुए में जुआड़ियों की सदा सर्वत्र यही स्थिति रहती है। तब बहुत-सा स्वर्ण जीतकर उन देवियों से उसने कहा जीता हुआ धन मुझे दो, जैसा कहा था। ठग के द्वारा बार-बार यह कहने पर उन देवियों ने जब कुछ नहीं कहा तो वह क्रोध से बोला— यदि चुप ही खड़ी रहोगी तो यह ठग ऐसा करता है कि हरण कर धन न देने वाला पत्थर बनकर बैठ जाता है उसका यम की डाढ़ के तीखे सिरे जैसी करवत से अंगों को काटता है। तो मैं तुम्हारा वैसा ही करता हूँ। मुझे कोई अपेक्षा नहीं है। यह कहकर करवत लेकर जब तक वह झपटता है तब तक देवियों ने जितना जीता था उतना स्वर्ण दे दिया। प्रातः वह लेकर रात में फिर हठपूर्वक द्यूत उसी प्रकार खेलकर उसने देवी माताओं से धन खींच लिया। ऐसा वह नित्य करने लगा। तब एक बार देवी चामुण्डा नाराज होती हुई उन देवियों को कहा— यहाँ के द्यूत से मैं जाता हूँ। फिर बुलाया तो बोलता है। द्यूत में उस पर

आक्षेप नहीं करना चाहिए। ये मातृदेवियाँ तो पत्थर की हैं। अतः उसे बुलाते हुए वही कहकर रवाना कर दो। ऐसा चामुण्डा ने कहा तो देवियों ने मन में यह धार लिया। रात होने पर उस ठग को द्यूत खेलने के लिए बुलाया पर जुआ खेलने से हम सब जाती हैं— यह सब देवियों ने कहा। इस प्रकार उन देवियों ने उस टिण्डाकराल को अस्वीकार कर निकाल दिया तो उसने उन महाकाल प्रभु का द्यूत खेलने के लिए आह्वान किया।। 81-93।।

मौका देखकर उसे हठपूर्वक द्यूत में वे महादेव भी बोले कि मैं तो द्यूत से निकल गया। पूरे दोष के विषम आदेश के अनिष्ट का भय जिसे नहीं है ऐसे दुर्जन से तो देव भी अशक्त के समान डरते हैं।। 94-95।।

इस प्रकार ठगी के तरीके से भी जुए का आचरण टूटने लगा तो टिण्डाकराल ने दुखी होकर सोचा—अरे द्यूत की स्थिति ऐसी कि देवों ने सीख देकर मुझे हटा दिया। तो इन्हीं देव की अब शरण लेता हूँ। यह हृदय में तय कर महाकाल के दोनों पैर पकड़कर वह टिण्डाकराल उन महाकाल से बोला— देवी से द्यूत में चन्द्रमा, वृषभ तथा हाथी के चर्म जीतने पर, तुम्हारे नंगे घुटनों (मेघदूत में महाकाल के अनेक हाथों (भुजतरुवन) की चर्चा है। अतः साकार प्रतिमा थी। महाकाल तंत्रागम में भैरव रूप हैं। यहाँ भी हैं।) पर गाल रखकर तुम्हें प्रणाम करता हूँ। जिनकी इच्छा मात्र से देवगण वे-वे विभूतियाँ दे देते हैं। जो स्वयं निराकांक्ष है। जटा, भस्म, कपाल जिनकी सामग्री हैं। वह आज तू मुझ क्षीण पुण्य वाले पर कैसे लोभी हो गया कि थोड़े के लिए मुझे हाय! इस प्रकार छलना चाहते हो। जो धन्य नहीं हैं उनकी आशा तो कल्पवृक्ष भी पूरी नहीं करता कि मुझे सम्पन्न नहीं करते हो नाथ, परन्तु सारे संसार का भरण-पोषण करते हो भैरव! इसलिए शरणागत मैं कष्ट और व्यसन से भरे मन वाला कुछ उलटपुलट कर लूँ तो हे स्थाणु भगवान् शिव! आप क्षमा करें। तुम तीन आँख वाले हो तो मैं भी वैसा ही हूँ। तुम्हारे शरीर पर भस्म है तो मेरे भी है। जिस प्रकार तुम कपाल में खाते हो तो मैं भी उसी प्रकार खाता हूँ। अतः दया करो मुझ पर। आपके साथ बातचीत करके ठगों के साथ कैसे मैं बात करूँगा। इसलिए मुझ विपन्न का उद्धार करो। ऐसे ही उस ठग ने भैरव (महाकाल भैरव की आराधना तंत्रागम में पायी जाती है। देखें— 'महाकाल पंचांगम्' पुस्तक) को संतुष्ट कर लिया। तब सन्तुष्ट होकर प्रत्यक्ष प्रकट होकर देव इस प्रकार उससे बोले—हे

टिण्ठाकराल! मैं प्रसन्न हूँ तुझसे। अधीर मत हो। मैं तुझे (समस्त) भोग देता हूँ। तू यहीं मेरे पास बैठ। इस प्रकार महादेव की आज्ञा से वह ठग उनकी कृपा से प्राप्त भोगसम्पदाओं का उपभोग करता हुआ तब वहाँ रहने लगा।। 96-108।।

एक बार यहाँ महाकाल तीर्थ में रात में अप्सराएँ स्नान के लिए आयीं। उन्हें देखकर देव ने उसे आदेश दिया— इन स्नान करती समस्त देवांगनाओं के तट पर रखे कपड़े उठाकर शीघ्र ले आ। जब तक ये अप्सरा-कन्या कलावती तुझे न सौंपे तब तक इनके कपड़े मत छोड़ना। भैरव ने जब इस प्रकार उसे कहा तो उस टिण्ठाकराल ने जाकर स्नान करती उन देव मृगनयनियों के वस्त्रहरण कर लिये। 'अरे छोड़, छोड़ हमारे कपड़े, हमें नंगी मत कर'—ऐसा कहती हुई उन अप्सराओं को शिवजी के ओज से उसने कहा— यदि यह कन्या कलावती मुझे दो तो मैं तुम्हारे ये कपड़े छोड़ूँगा, अन्यथा नहीं। यह सुनकर उस उद्धत अजेय वीर को देखकर और वैसा ही इन्द्र का शाप याद कर उन्होंने कलावती को बुलाकर दे दिया। उस टिण्ठाकराल ने अलम्बुषा की पुत्री कलावती को लेकर कपड़े लौटा दिये।। 109-116।।

इसके अनन्तर अप्सराओं के जाने पर देव की इच्छा से निर्मित स्थान वाला यह टिण्ठाकराल उस कलावती के साथ ठहरा रहा और दिन में देव के पास हाजिर करने ले गया। तीन दिन और रात सदा उस पति (स्वामी) के पास आयी। तुम्हें पाने के इन्द्र के शाप से हे मेरे स्वामी! वर के तुल्य बने उसने यह बड़े प्रेम से कहा। तब उस टिण्ठाकराल पति के साथ उस शाप का कारण उस सती देवांगना से पूछा तो कलावती इस प्रकार बोली— उद्यान में यद्यपि देवगण थे तब भी मनुष्य के भोग की प्रशंसा करते और केवल नजर से भोग देने वाले देवताओं की निन्दा करते मुझे देखकर और समझकर देवराज इन्द्र ने मुझे शाप दिया कि— जा मनुष्य से विवाह कर मानवी भोग का भोग करेगी। इसलिए आपसी सहमति से अपन दोनों का संयोग हुआ। और कल मैं स्वर्ग से देरी से आ पाऊँगी। इसलिए तुम अधीर मत होना। हरि के सामने रम्भा अपना नया प्रयोग नाचेगी। इसलिए हे प्रिय! उसकी समाप्ति तक हमें वहाँ ठहरना होगा। 117-124।।

तब टिण्ठाकराल ने बड़े प्रेम से उससे कहा— मैं छिपकर वह नृत्य देखूँगा। मुझे भी वहाँ ले चल। यह सुनकर उस कलावती ने पति से कहा— ठीक है, जानकर देवराज मुझ पर कैसे नाराज नहीं होगा। यह कहा तो भी उसने उसे छोड़ दिया। तब कलावती स्नेह से उसे ले जाने को तैयार हो गयी। अपने प्रभाव से अपने कर्णकमल में छिपाकर उस टिण्ठाकराल को वह अप्सरा इन्द्र के सदन में ले गयी।। 125-128।।

उसका द्वार सुरगज (ऐरावत) से शोभित और नन्दन उद्यान से सुन्दर भवन को देखकर टिण्ठाकराल स्वयं को देव मानता हुआ प्रसन्न हो गया। यहाँ स्वर्ग की इन्द्रसभा में स्वर्ग की वधुओं के गीत के साथ रम्भा का अद्भुत नृत्योत्सव देखा। नारद आदि के बनाये सभी बाजे सुने। परमेश्वर के प्रसन्न होने पर अप्राप्य क्या होता है। तब प्रेक्षणक (नृत्त) के अन्त में वहाँ उठकर चलने लगे तो दिव्य बकरे की सूरत वाला भण्ड दिव्य भंगिमाओं के साथ नाचने लगा। टिण्ठाकराल ने उसे देखकर और पहचानकर सोचा— अरे इस बकरे जानवर को तो मैं उज्जयिनी में देखता (रहता) हूँ। यहाँ इन्द्र के सामने यह ऐसा भण्ड नर्तक! यह दिव्य माया तो कोई विचित्र और तर्क से परे है। जब टिण्ठाकराल इस प्रकार मन में सोच रहा था तभी उस छागभण्ड के नृत्त के बाद इन्द्र सभा में लौट आया। तब प्रसन्न वह कलावती कर्णकमल में बैठे उस टिण्ठाकराल को उसी प्रकार अपने स्थान पर ले आयी।। 129-136।।

दूसरे दिन टिण्ठाकराल ने उज्जयिनी में उस बकरे की आकृति वाले को देखकर गर्व से देवभण्ड से वह बोला— अरे इन्द्र के सामने नाचा वैसा मेरे सामने नाच वरना माफ नहीं करूँगा तुझे। हे भण्ड! दिखा वह नाच। यह सुनकर वह चकित बकरा चुप रह गया कि यह मनुष्य होकर भी मुझे ऐसा कैसे जानता है—यह सोचता हुआ। बेधड़क कहते जाने पर भी वह छाग नहीं नाचा तब उस टिण्ठाकराल ने उसके सिर पर लट्ट से पिटाई कर दी। तब बहते रक्तसहित उस बकरे ने इन्द्र के पास जाकर सारा विवरण सुना दिया। इन्द्र ने भी ध्यान से जान लिया कि किस प्रकार रम्भा के नाच में कलावती टिण्ठाकराल को लायी थी जिससे उस अपराधी ने छागनृत्त देख लिया। तब कलावती को बुलाकर इन्द्र ने शाप दिया— नृत्त के लिए इस छाग की जिसने यह हालत कर दी, उस मनुष्य को प्रेम के कारण गुप्त रूप

से यहाँ ले आयी तू। तो जा नागपुर नगर में राजा नरसिंह के देवालय में बनाये गये स्तम्भ पर तू सालभंजिका हो जा। जब यह कहा तो कलावती की माता अलंबुषा ने इन्द्र की प्रार्थना कर उसे प्रसन्न किया। तब बड़ी कठिनाई से उसने इस प्रकार शाप का अन्त बताया— जब अनेक वर्षों में बना वह देवालय नष्ट होगा और भूमिसात् हो जाएगा तब इसके शाप का क्षय होगा।। 137–147।।

इस प्रकार इन्द्र के शाप का अंत होने पर रोते हुए उस कलावती ने टिण्टाकराल को कहकर बताया। अपने आभूषण उसे देकर वह लुप्त हो गयी और नागपुर के देवालय के स्तम्भ के सामने की पुतली में प्रवेश कर गयी। टिण्टाकराल ने भी उसके वियोग के विष से आहत होकर न देखा, न सुना, धरती पर लोटते हुए मूर्च्छित हो गया। अरे यह रहस्य मानते हुए मैंने मर्खता की। स्वभाव से मेरे जैसे चंचलों में संयम कहाँ से हो। सो अब मुझे यह वियोग मिला— होश में आने पर यह सब कहते हुए वह ठग रोने लगा। पल भर बाद ही उसने सोचा— मेरा यह समय विकलता का नहीं है। धीरज रखकर उसके शाप की समाप्ति के लिए प्रयास क्यों नहीं करूँ। यह सोच—विचार करने के बाद वह प्रवचन करने वाले का वेष बनाकर रुद्राक्ष माला, हरिण का चमड़ा, जटा धारण कर वह धूर्त नागपुर पहुँच गया। वहाँ वन में, नगर से बाहर उस चतुर ने पृथ्वी में चारो दिशाओं में खोदकर अपनी कान्ता के आभूषण के कलश रख दिये। महारत्न से भरा पाँचवाँ कलश नगर में रात के समय देव के सामने के बाजार में गाड़ दिया। यह सब करके वह वहाँ नदी के किनारे झोपड़ी में रहते हुए बनावटी ध्यान, जप और ठगी तपस्या करता हुआ, दिन में तीन स्नान कर भिक्षा में प्राप्त भोजन को पानी से धोकर पत्थर पर खाता हुआ वह महातापस की कोटि में पहुँच गया।। 148–158।।

धीरे—धीरे बात राजा के कान में पड़ी तो राजा ने उसे सादर बुलवाया। वह उसके पास नहीं आया तो राजा ही उसके पास आ गया। बहुत देर बैठकर अनेक कथाओं से साँझ पड़ने लगी तो राजा जाने लगा। तभी अकस्मात् सियारनी दूर से चिल्लायी। वह सुनकर वह छिपा तपस्वी ठग हँसा। वह क्या है? यह क्या बोली—राजा के यह पूछने पर वह मायावी बेधड़क बोला— इस नगर के पूर्व के जंगल में बेंत के नीचे रत्नों तथा गहनों से भरा एक

कलश है, वह ले लो। हे राजन्! मुझे इस सियारनी ने यह कहा। मैं पशुपक्षियों की भाषा जानता हूँ। यह कहकर वह कुतूहल भरे राजा को लेकर वहाँ गया और खोदकर उस भूमि से निकालकर वह कलश उसे दिया। तब वे आभूषण प्राप्त कर राजा को विश्वास हो गया। उसने उसको ज्ञानी, सत्यवादी और निराकांक्ष तपस्वी समझा। वह फिर उसे अपने आश्रम में ले आया। राजा पुनः उसके चरणों पर पड़ा और राजमहल में रात में पहुँचा और उसके गुणों को मन्त्रियों के सामने बखाना। इस प्रकार क्रमशः आते हुए उस राजा को पशुध्वनि के बहाने अन्य तीन दिशाओं से रत्नों के कलश प्राप्त करवा दिये। तब वह राजा, नागरिक, मन्त्रि, रानियाँ सब उस तपस्वी के भक्त होकर तन्मय हो गये। एक बार देवालय दिखाने के लिए वह राजा के द्वारा ले जाया गया तो बाजार में उस छली तपस्वी ने कौए की आवाज सुनी। तब वह राजा से बोला— सुनी तुमने कौए की बात। बाजार में यहीं देव के सामने धरती में गड़ा श्रेष्ठ रत्नों से भरा कलश है, वह भी क्यों नहीं ले लेते? कौए ने यही कहा है तो आओ उसे स्वीकार करो। यह कहकर वहाँ ले जाकर धरती से निकालकर वह श्रेष्ठ रत्नों का कलश राजा को उस छिपे तपस्वी ने दे दिया।। 159–172।।

तब अत्यन्त संतुष्ट होकर राजा हाथ पकड़कर उस कपटी ज्ञानी को देवालय में ले गया। तब उस परिव्राजक साधू को काँपते या धूजते हुए वहाँ स्तम्भ पर की सालभंजिका में प्रवेश की हुई प्रिया कलावती ने स्वयं को दिखा दिया। उस सालभंजिका का रूप धरे कलावती अपने उस पति को देखकर दुखी होकर रोने लगी। यह देखकर अनुचरों सहित राजा चकित और दुखी हो गया और ज्ञानी जैसे लगने से पूछा— भगवन्! यह क्या है। तब विषाद से चकराता—सा वह धूर्त बोला अपने घर चलो। जो नहीं कहना चाहिए वह कहना है वहाँ। यह कहकर वह उस राजा को राजधानी में ले जाकर बोला— तुमने यह देवालय बुरे मुहूर्त में अनुचित स्थान पर बनाया। सो तीसरे दिन तुम्हारा अहित होगा। इसलिए तुम्हें देखकर वह स्तम्भ की पुतली रो दी। तुम्हारे शरीर के साथ तुम्हारे कृत्य लोटने वाले हैं राजन्! इसलिए आज ही शीघ्र इस देवालय को (गिराकर) जमींदोज (धरती समतल) कर दो। अच्छे स्थान और अच्छे मुहूर्त में मन्दिर बनाने से अपशकुन शांत हों और राष्ट्रसहित तेरा कल्याण हो उसके यह कहते ही राजा ने डरकर

प्रजा को आज्ञा दी और एक ही दिन में उस देवघर को समतल भूमि बना दिया। और अन्य स्थान पर पुनः मन्दिर बनवाना आरंभ कर दिया। आश्चर्य है विश्वास में लेकर छली धूर्त राजाओं तक को ठग लेते हैं।।173-183।। काम सिद्ध होने पर साधु का वेष त्यागकर भागकर वह ठिण्ठाकराल ठग उज्जयिनी चला गया और कलावती यह समझकर शाप से छूट कर उसके पास आ गयी। मार्ग में प्रसन्न और निश्चिन्त होकर स्वर्ग में इन्द्र से मिलने चली गयी। इन्द्र भी उसके जुआड़ी पति की माया के बारे में उसके मुख से सुनकर हँसा और संतुष्ट हुआ। तब बृहस्पति पास में स्थित इन्द्र से बोले— ठग लोग सदा ऐसे ही विचित्र मायावी होते हैं।। 184-187।।

प्राचीन काल में कहीं किसी नगर में एक ठग था। नाम था कुट्टिनीकपट। कपट द्यूत में दक्ष। जब वह परलोक गया तो धर्मराज बोला— तेरा नरकवास एक कल्प का है। हे ठग! तेरे पापों के कारण है यह। पर एक दिन की इन्द्रता भी है दान के कारण तुझे। ब्रह्मविद् को कभी तूने एक सुवर्ण दिया था। तो बोल पहले क्या भोगेगा— नरक या इन्द्र का पद? यह सुनकर ठग बोला— पहले इन्द्रपद भोगूँगा। तब धर्मराज ने उस ठग को स्वर्ग में भेज दिया। एक दिन के लिए इन्द्र को हटाकर देवों ने उसका राज्याभिषेक कर दिया। देव का राज्य पाकर उसने अपने ठग मित्रों को वेश्याओं सहित स्वर्ग में बुलवाकर स्वामित्व के कारण देवों को आदेश दिया— एक क्षण में हम सब को ले जाकर उन सब तीर्थों में स्नान करवाओं जो स्वर्ग में, पृथ्वी पर हों या सातों द्वीपों पर हों। आज ही धरती में प्रवेश कर समस्त राजाओं को महादान हमारे लिए लगातार दे दो। ऐसा आदेश होने पर सब देवों ने तत्काल वह सब कर डाला। तब समस्त पाप धुल जाने पर उन पुण्यों के कारण उस धूर्त ने स्थिर रूप से इन्द्रपद पा लिया। स्वर्ग में लाये गये उसके मित्र और वेश्याएँ भी उसकी कृपा से तत्काल अमर हो गए। दूसरे दिन उस ठग की प्रशंसा यमराज के सामने चित्रगुप्त ने की कि अपने बुद्धिबल से उसने स्थिर रूप से किस प्रकार देवराज्य प्राप्त कर लिया। तब उसका सुचरित सुनकर धर्मराज चकित रह गया और बोला— अरे इस जुआड़ी ने हमें ठग लिया (ऐसी ही लोककथा मालवी में भी है।)। ऐसे होते हैं ठग, इन्द्र! —यह कहकर गुरु के चुप रहने पर इन्द्र ने कलावती को भेजकर ठिण्ठाकराल को स्वर्ग में बुलवाया। वहाँ उसकी बुद्धि और धीरज से संतुष्ट

देवराज ने सम्मान करके कलावती देकर उसे अपने पास बिठाया। तब देव के समान धीर कलावती के साथ वह ठिण्ठाकराल भगवान् शंकर की कृपा से स्वर्ग में निवास करने लगा।। 188-202।।

तो इस प्रकार जुआड़ियों की माया और साहस की गति है। इसलिए हे अग्निशिख वेताल! ठग के लिए क्या विचित्र है। डाकिनेय द्वारा माया(छल) से आपको इस कुएँ में फेंक दिया गया। तो तुम निकलो। मित्र! हम दोनों इस कुएँ से निकलते हैं। दोनों ब्रह्मराक्षसों द्वारा यह बात कहे जाने पर उस कुएँ से निकलकर मैं रात में इस नगरी में पहुँचा। भूख से पीड़ित था। तो एक पथिक द्विज को दौड़कर जब तक खाने के लिए पकड़ूँ तब तक श्रीविक्रमादित्यदेव को उसने पुकारा। सुनते ही अग्नि के समान निकलकर वह राजा मुझ पर यह कहते हुए आघात करने लगा— अरे पापी! विप्र को मत मार। जैसे चित्र के पुरुष का वैसे ही मेरा सिर काटने लगा। उसके काटने से मेरे कंठ से रक्त बहने लगा। तब उस ब्राह्मण को छोड़कर उसके पैर पकड़ लिए मैंने तो उसने ही मेरी रक्षा भी की। ऐसा प्रभावशाली है यह राजा विक्रमादित्यदेव। उसकी आज्ञा से इस खण्डकापालिक को मैंने मारा। इसलिए हे वेताल यमशिख! इसे छोड़, यह मेरा भोजन है। इस प्रकार अग्निशिख ने कहा तो दर्प से उस यमशिख ने हाथ से खण्डकापालिक का शरीर फेंक दिया। तब श्रीविक्रमादित्य ने स्वयं को प्रकट कर भूमि पर आदमी का चित्र बनाकर उसका हाथ काट डाला। उसके द्वारा काटा गया यमशिख का हाथ गिर पड़ा। इसलिए वह उस दुर्गन्धित शव को छोड़कर डरकर भाग गया। और अग्निशिख कपाली उस शव को खा गया और मैं राजा के ओज से सब कुछ निडर होकर देखती रही। यह कहकर वह यक्षवधू मदनमंजरी आपके प्रभाव को पुनः मुझे कहने लगी महाराज!।। 203-215।।

तब राजा अनंगदेव ने मुझसे मधुरता से कहा— हे यक्षि! कापालिक से तू मुक्त है, पति के घर जा। तब उसे प्रणाम कर मैं अपने इस घर आ गयी, उस राजा के उपकार का प्रतिदान सोचती हुई। इस प्रकार तुम्हारे स्वामी ने मुझे प्राण, कुल और पति प्रदान किया। उसकी और मेरी यह कथा तुमसे कही, कही जाती रहेगी। आज ज्ञात हुआ कि उस राजा की त्रैलोक्यसुन्दरी स्वयंवर वह कन्या सिंहलराज ने भेजी। सब राजाओं ने मिलकर उसके

अपहरण की बात ईर्ष्यावश सोची कि उसके सामन्त उस विक्रमशक्ति की हत्या करके। इसलिए तुम जाकर विक्रमशक्ति को बताओ जिससे उनका प्रतिकार करने के लिए सावधान हो जाए। और मैं भी ऐसा प्रयास करूँगी कि उन शत्रुओं को मारकर विक्रमादित्य विजय पा लेगा। इसलिए अपनी माया से तुम्हें मैं यहाँ ले आयी जिससे सामन्तसहित राजा को यह सब बता दोगे। उस तेरे प्रभु को उनके योग्य उपहार भेजूँगी और उसके उपकार का इस प्रकार थोड़ा-सा प्रतिदान कर सकूँगी। ऐसा वह कहती तब तक वे दोनों कन्याएँ पशुओं सहित आ गयीं जिन्हें हमने सागर में देखा था।।216-225।।

एक चन्द्र के समान उज्ज्वल अंगों वाली तथा दूसरी प्रियंगु के समान साँवली। सागर के पास मानो गंगा और यमुना पहुँचती हों। उन दोनों के बैठने पर हे देव! उस यक्षी से मैंने पूछा- हे देवी! ये दोनों कन्याएँ कौन हैं और यह सुनहला मृग कौन है? यह सुनकर वह यक्षिणी मुझसे यों बोली- महाराज! हे अनंगदेव! यदि तुम्हें कुतूहल है तो कहती हूँ, वह सुनो। प्रजापति के प्रजा बनाने में विघ्न डालने के लिए घोर घण्ट और निघण्ट नामक देवों द्वारा भी दुर्जय दानव आये। उनके विनाश की इच्छा से विधाता ने इन दोनों कन्याओं को बनाया जो ऐसे उद्दाम रूप और शोभा वाली हैं कि जगत् को उन्माद हो जाए। इन दोनों अद्भुत का हरण करने के लिए वे दोनों ही महासुर आपस में लड़ते हुए नष्ट हो गये। तब ब्रह्मा ने ये दोनों कन्याएँ कुबेर को सौंप दीं कि तुम इन्हें किसी योग्य पति को दे देना।। 226-232।।

कुबेर ने भी अपने अनुज मेरे पति को ये दे दीं। मेरे पति ने उसी प्रकार वर के लिए मुझे सौंप दीं। मैंने इन दोनों के लिए वर सोचा है- श्रीविक्रमादित्य। देव का अवतार है, वही इन दोनों के पति रूप में उचित है। ऐसे रूप वाली ये कन्याएँ हैं। अब मृगों की आख्यायिका सुनो- शची के पति इन्द्र के जयन्त नाम का प्रिय पुत्र है। अपनी स्त्रियों के साथ आकाश से घूमते हुए धरती पर उसने एक पवित्र राजपुत्र को हिरण के बच्चों के साथ खेलते हुए देखा। तब वह बचपने के कारण तीन दिन तक मृगशिशु के बिना रोता रहा। उनके लिए अत्यन्त अभिलाषी स्वर्ग में जाकर पिता के सामने भी रोता रहा!

इसलिए इन्द्र ने उसके लिए विश्वकर्मा द्वारा स्वर्ण से सुधा से सिंचन कर प्राण संचार कर रत्नमय मृग बनवा दिया।

इसके बाद वह जयन्त संतुष्ट होकर उसके साथ खेलता रहा। इस स्वर्ग में वह हिरण का बच्चा भी विचरण करता रहा। एक समय सही नाम वाला रावणपुत्र इन्द्रजित इस हिरण का हरण कर स्वर्ग से अपनी नगरी लंका में ले गया। समय बीतने पर राम-लक्ष्मण वीरों द्वारा सीताहरण के क्रोध के कारण उन रावण और इन्द्रजित के मारे जाने पर तथा लंका के राज्य में राक्षसेन्द्र के भवन में विभीषण का राज्याभिषेक होने पर वह अद्भुत हेममृग बना रहा। किसी समय उत्सव में विभीषण ने मुझे ले जाकर पति का बन्धु होने से मृग देकर सम्मानित किया। वही यह हिरण का दिव्य बच्चा अब मेरे घर में है और मैं तुम्हारे स्वामी के लिए भेंट में देती हूँ। इस प्रकार वह यक्षिणी जब तक मुझे कथाक्रम बताती तब तक कमलिनीकान्त सूर्य अस्त हो गया।। 233-245।।

तब उसने घर में सन्ध्या के लिए आदेश दिया। उसके बाद मैं और सिंहलेश्वर का यह दूत हम दोनों सो गये। सुबह जागकर हम दोनों देखते हैं कि हम विक्रमशक्ति सामन्त और आपकी सेना के पास पहुँच गये। तब यक्षिणी का विचार करके उसके व्यापक प्रभाव से विक्रमशक्ति के पास चकित होकर अचानक पहुँच गये हम दोनों। और वह देखकर सम्मान करके कुशल पूछकर जब तक सिंहलेश्वर का संदेश हम दोनों को पूछना चाहता है तब तक वे यक्षिणी द्वारा कही गयी स्वरूप वाली दिव्य कन्याएँ और हिरण का बच्चा सब वहाँ यक्षसेना से घिरे आ गये। हे देव! उन्हें देखकर दुष्ट भूत आदि की माया की आशंका वाले विक्रमशक्ति ने संदेह से मुझसे पूछा- यह क्या है! तब सिंहलाधीश के कार्य से आरम्भ कर उसे मैंने क्रमशः दोनों यक्षिणी कन्या और मृग का समाचार बता दिया। यक्षी के मुख से सुना वह और सबके एक मत से राजा के द्वेषी राजाओं का उद्यमादि तब मैंने उसे कह दिया। तब हम दोनों का और दोनों दिव्य कन्याओं का सम्मान करके उस प्रसन्न सामन्त ने युद्ध में सेना को सजा लिया। हे देव! क्षणभर में ही सेना की तूरी की भीषण ध्वनि सुनाई दी। क्षणभर में ही म्लेच्छों सहित शत्रु राजाओं की विशाल सेना दिखाई दी। एक-दूसरे का दर्शन, क्रोध से एक-दूसरे पर दौड़ पड़ना शुरू होने के साथ ही हमारी और शत्रु की सेना

दोनों में युद्ध आरंभ हो गया। तब यक्षी द्वारा भेजे गये उन यक्षों ने हमारे द्वारा शत्रुसेना को, अन्यों द्वारा हमारे भटों से आविष्टों द्वारा, अन्यों ने मित्रों से मरवा दिया। सेना की धूलिसमूह से व्याप्त, तलवार की धार की निरंतरता, वीरों के घोर गर्जन से रण में दुर्दिन (मेघमय दिन – बुरा दिन) हो गया। कटने से उछलकर गिरते सिरों से हमारी जयश्री ऐसी लगती थी मानो गंदों से खेल रही हो। क्षण भर में मरने से बचे वे भग्न (भागे) सैनिकों वाले राजा तुम्हारे सामन्त की सेना के सामने प्रणाम करके शरण में पहुँच गये ॥ 246–260 ॥

तब चारों दिशाओं में भगाये गये म्लेच्छों और चिताओं से द्वीपसहित भूमि पट गयी— समस्त भूमि के स्वामी आपके द्वारा। हे देव! अपने पतिसहित यक्षिणी ने प्रकट होकर मुझे और विक्रमशक्ति से इस प्रकार कहा— मैंने जो यह किया वह तो आपके प्रभु की सेवा ही है। इसी प्रकार पुनः बताएँ। वह मुझे वाणी से सूचित करें। आप इन देवनिर्मित दोनों कन्याओं से विवाह करें। इन पर कृपादृष्टि रखें और इस मृग का भी पालन करें। मेरा यही उपहार है— यह कहकर रत्नसमूह देकर यक्षी पति तथा सहचरियों सहित लुप्त हो गयी। दूसरे दिन परिवार के साथ तथा प्रचुर वैभव के साथ वह सिंहलेश्वर—कन्या मदनलेखा आ गयी। उस विक्रमशक्ति के साथ प्रकट होकर अपनी सेना में सप्रेम प्रणाम सहित वह प्रवेश करवाई गयी ॥ 261–267 ॥

दूसरे दिन उसे और तीनों लोक की आँखों के कौतुक उस हिरण को साथ लेकर वे दोनों दिव्य कन्याएँ आपके चरणों के दर्शन की इच्छा में हैं। सिद्धकार्य वह विक्रमशक्ति तब राजाओं के साथ चल पड़ा। हे देव! वह सामन्त यहाँ अब निकट ही आ गया है। आपको यह बताने के लिए हम दोनों को आगे भेज दिया था। इसलिए हे देव! सिंहलराज और यक्षिणी के अनुरोध से आप उन कन्याओं तथा हिरण के तथा राजाओं के सामने जाएँ। यह अनंगदेव ने कहा तो विक्रमादित्य राजा ने बड़ी कठिनाई से उस यक्षिणी की रक्षा का स्मरण किया। क्योंकि उपकार करके प्रत्युपकार की बात को सुनना वह तिनके बराबर भी नहीं मानता। बड़े लोग बहुत (उपकार) करके भी अत्यन्त न्यून मानते हैं। प्रसन्न होकर उसने सिंहलराज के दूत से युक्त अनंगदेव को हाथी, घोड़े, ग्राम, रत्न से भरपूर कर दिया ॥ 268–274 ॥

तब कुछ दिन बिताकर सिंहलराज की पुत्री और उन दोनों ब्रह्म कन्याओं के साथ लौटने के लिए वह राजा हाथी, घोड़े, वाहनों और पैदल सेना के साथ उज्जैन से चल पड़ा। जयवर्धन का अंजनागिरि नामक श्रेष्ठ हाथी, रणभट का कालमेघ नामक मदमत्त हाथी, सिंहपराक्रम का संग्रामसिद्धि हाथी और वीर विक्रमनिधि का रिपुराक्षस हाथी। जयकेतु का पवनजव अश्व, वल्लभशक्ति का समुद्रकल्लोल अश्व, बाहु का शरवेग अश्व और सुबाहु का गरुडवेग अश्व। कीर्तिवर्मा की कोकणी श्यामा कुवलयमाला घोड़ी, समरसिंह की बढ़िया सैन्धवी कर्का गंगालहरी घोड़ी—इस प्रकार उन राजाओं के प्रस्थान करने पर अपने-अपने हाथी-घोड़े उनके पास थे। राजा के चलने पर दण्डाधिकारियों की बातें भी यहाँ सुनायी दीं। भूमि सेना वाली, उससे उठते महाशब्दों से सब दिशाएँ एक हो रही थीं। चलती सेना की मसलन से गगन भी धूलभरा सुहाने लगा। सबकी वाणी में उसके अद्भुत प्रभाव की महिमा का बखान था। समस्त द्वीप के स्वामी उस राजा के मार्ग पर प्रस्थान करने पर ऐसा होने लगा ॥ 275–280 ॥

AA egkdfjo Jhl keno HKVV fojfr dFkk fjRI kxj dsfo"ke'khy
yEcd eanW jh rjx l aWkAA

AA rhl jh rj&AA

तब वह विक्रमादित्य उस जयसेना के पास पहुँचे जो अपने सेनानी (सेनापति) विक्रमशक्ति द्वारा अनुशासित थी। उसने आगे आकर बड़े उत्साह के साथ प्रणाम किया और राजा सहित अपनी सेना में प्रवेश किया। तब प्रतीहार ने सभा में निवेदन किया— यह गौड शक्तिकुमार हैं, यह कर्णाट जयध्वज हैं, यह लाट विजयवर्मा हैं, यह काश्मीर (के) सुनन्दन हैं, यह सिन्धुराज गोपाल हैं, यह भिल्ल विन्ध्यबल हैं, यह पारसीक (फारस के) निर्मूक हैं। हे प्रभो! ये सब प्रणाम करते हैं। तब सम्राट् ने सभी सामंतों और सैनिकों का सम्मान किया।। 1-6।।

उन सबके साथ दूसरे दिन उस कृती ने सेनासहित प्रस्थान किया। वह राजा उज्जयिनी नगरी में पहुँचा। सम्मानित कर राजाओं को अपने-अपने देश रवाना कर दिया। जब जगत् को आनंद देने वाले वसंतकालीन उत्सव आने पर पुष्पों के आभूषणों से लताओं को सजाती-सी, भ्रमरियों को गुंजार से संगीत का प्रसार करती-सी, वन पंक्तियों को पवन से नचाती-सी, कोयल मधुर ध्वनि से मंगल पाठ करती थी तब उस राजा विक्रमादित्य ने सिंहल की राजकन्या और दो दिव्य कन्याओं से शुभ दिन विवाह किया।। 7-11।।

सिंहलराज की कन्या का बड़ा भाई साथ में आया था। उस सिंहवर्मा ने विवाहयोग्य वह कन्या और प्रचुर रत्नराशि प्रदान की। उसी समय उन दोनों दिव्य कन्याओं की यक्षिणी मदनमंजरी ने आकर अगणित रत्नराशि प्रदान की। और बोली— हे देव! तुम्हारे उपकार का ऋण तो उतार सकती हूँ

foØekfnR; dFkk, ;@117

किन्तु अपनी भक्ति बताने के लिए मैं यह थोड़ा-सा भी नहीं कर पा रही हूँ। अतः इन दोनों लड़कियों पर और हिरण पर कृपा कीजिए। —यह कहा तो राजा ने उसका सम्मान किया और वह यक्षी लुप्त हो गयी।। 12-15।।

तब वे पत्नियाँ और द्वीपों सहित पृथ्वी को पाकर उस कृती राजा विक्रमादित्य ने निष्कण्टक राज्य का शासन किया। सुख से रहते हुए उद्यानों में विहार करते हुए, ग्रीष्म में सरोवरों में और धारायंत्रगृहों (फव्वाराघरों) में, मृदंगध्वनि से बढ़कर वर्षा में अन्तःपुर में, शरद में चन्द्रोदय के समय आपान से मनोहर महलों की छतों पर, काले गूगल से सुगंधित निवासगृहों में बिछे सुखद बिछौनों पर, हेमंत में राजा रनिवास से घिरा हुआ रहता था। ऐसे उस राजा का नगरस्वामी नामक एक चित्रकार था। सौ गाँव का यह स्वामी था। उसने अपनी चित्रकला से जगत् को जीत लिया था। वह चित्रकार इस राजा को दो-दो दिन में लिखकर (बनाकर) अलग अलग रूपभंगिमा वाली प्राभृतपुत्रिका (उपहार पुतली) देता था।। 16-21।।

भाग्य से एक बार उत्सव के कारण भूल से राजा के लिए पुत्रिका नहीं बनाई देने का दिन आने पर याद करके चित्रकार जब विचलित हो गया कि हाय अब प्रभु को मैं क्या दूँ। तब तक दूर से अकस्मात् एक पथिक आया और उसके हाथ में पुस्तिका (मोम की पुतली) रखकर जल्दी-से कहीं चला गया।। 22-24।।

वह चित्रकार कौतुक से जब तक खोलता है तब तक उसके अंदर पट पर बनी पुतली (फड़) देखी। उस अनोखे रूप वाली को देखकर ले जाकर वह राजा को दे दी। ऐसा उपहार आज मेरा सिद्ध हो गया है, यह सोचकर हर्षित था। राजा उसे देखते ही अचरज से उससे बोला— हे भद्र! यह रेखा तेरी नहीं। यह रेखा तो विश्वकर्मा की है। ऐसा रूप कोई मनुष्य कैसे बना सकता है! यह सुनकर चित्रकार ने पूरी बात बता दी। तब वह राजा सदा उस पुत्रिका (चित्र) के सिवा कुछ भी नहीं देखता था। उसे देखते हुए स्वप्न में उसने किसी द्वीप पर हूबहू वैसी ही कन्या को देखा। उत्सुकता से जब तक उससे वह संगम करता तब तक रात बीतने पर यामिक (पहरेदार) ने उसे जगा दिया।। 25-30।।

118@foØekfnR; dFkk, ;

जागा तो वह सपना टूटा और वह समागम का सुख भी टूटा। क्रोधित होकर राजा ने उस पहरेदार को नगरी से निकाल दिया। कहाँ है पथिक, उसकी पुस्तिका कहाँ, उसकी चित्रवाली पुतली कहाँ और उसका ही स्वप्न में सजीव दर्शन कहाँ! तो दैवीय (भाग्य निर्मित) कन्या है वह—यह कह रही है मुझे। उस द्वीप को मैं जानता नहीं तो उसे कैसे प्राप्त करूँ! यह सब सोचते राजा का मन कहीं भी नहीं लगता था। सेवकों से घिरा होने पर भी कामज्वर से जलता रहा। विजय होने पर संताप वाले उस राजा को क्षत्रिय (रक्षक) भद्रायुध ने धीरे-से उसका कारण पूछा तो राजा ने कहा—हे मित्र सुन तुझे बताता हूँ। तुम्हें तो मालूम ही है कि चित्रकार ने जो चित्रपुतली मुझे दी, उसके विषय में सोचते हुए मैं सो गया तो स्वप्न में लगा कि सागर पार कर किसी नगर में पहुँचा जो अत्यन्त सुंदर था। वहाँ मैंने सामने आयुध वाली अनेक कन्याएँ देखीं। मुझे देखकर उन्होंने—छोड़ो, छोड़ो— यह जोर-जोर से कलकल करने लगीं। तब प्रतीत हुआ कि कोई हड़बड़ाती तपस्विनी मेरे पास आकर अपने घर में मुझे ले जाकर संक्षेप में यह बोली—इधर यह मलयवती नाम की राजकुमारी मनचाहा विचरण करती हुई यह आ गयी है। पुत्र यह पुरुष से द्वेष करती है। आदमी को देखते ही लड़कियों से मरवा डालती है। इन सबसे रक्षा के लिए मैं तुझे अंदर ले आयी। यह कहकर उस तापसी ने मुझे नारीवेष पहना दिया। मैंने भी यह सहन इसलिए कर लिया कि वे कन्याएँ अवध्या (मारने योग्य नहीं) हैं। तब तक वहीं कन्याओं सहित राजकुमारी ने प्रवेश किया। तब देखता हूँ कि यह तो वही है जिसे मैंने चित्र में देखा था और सोचने लगा कि मैं धन्य हूँ कि चित्र में बनी इसे देखकर पुनः साक्षात् प्राणसमान को देख रहा हूँ।। 31-44।।

तब कन्याओं सहित राजकुमारी ने तापसी से कहा— हमने देखा है कि यहाँ किसी आदमी ने प्रवेश किया है। तब उस तपस्विनी ने भी मुझे दिखाकर उत्तर दिया— आदमी कहाँ? यह तो मेरी बहिन की बेटा मेहमान है। तब उस राजकुमारी ने स्त्रीरूप में मुझे देखकर पुरुष से शत्रुता त्यागकर काम के वश में हो गयी। निश्चित ही सोचती हुई वह थोड़ी रोमांचित हो गयी। मानो काम ने अवसर पाते ही तीरों से उसे वेध दिया। पलभर बाद वह राजकुमारी तपस्विनी से बोली— तो आर्ये, तुम्हारी बहिन की बेटा मेरी भी मेहमान नहीं है क्या? यह मेरे घर चले। सत्कार के बाद पहुँचा दूँगी। यह कहकर हाथ

पकड़कर वह मुझे अपने घर ले गयी। मुझे लगा कि मैं भी उसका चित्र पाकर—ठीक है— कहता चला गया। और उस चतुर वृद्धा तपस्विनी ने भी मुझे अनुमति दे दी। तब मैं वहाँ उस राजकुमारी के साथ ठहर गया। वह लड़कियों के साथ परस्पर विवाह आदि (के खेल से) मनोरंजन करती रहीं। पर मुझे ही देखती हुई उसने मुझे पल भर के लिए भी नहीं छोड़ा। जहाँ मैं नहीं वहाँ किसी लड़की का कोई काम नहीं करती।। 45-53।।

फिर उन लड़कियों ने उस राजकुमारी को वधू बनाकर मुझे वर बना दिया और लगा कि हम दोनों के विवाह की क्रीड़ा की। विवाह करके हम दोनों ने रात में निवास (कमरे) में प्रवेश किया। वहाँ वह राजकुमारी बेधड़क मेरे गले लग गयी और तत्काल स्वयं को प्रकट कर मेरे साथ आलिंगन करने लगी। अपना इष्ट सिद्ध होने से प्रसन्न थी वह। और मुझे देखकर पलभर के लिए लजा गयी। लाज दूर कर जब तक उससे संगम करूँ तब तक दुष्ट यामिक ने मुझे जगा दिया। इसलिए हे भद्रायुध! चित्र और स्वप्न में देखी उस मलयवती के बिना अब मेरा जीवन में उत्साह नहीं रहा। इस प्रकार कहते हुए राजा का सपना सच्चा समझकर वह प्रतीहार भद्रायुध उसे ढाढस देता हुआ बोला।। 54-59।।

यदि सब याद है तो वह सब ठीक-ठीक कपड़े पर (चित्र) बना दो। हे देव! वह नगर भी बना दो जिससे उपाय देखा जा सके। भद्रायुध के यह कहने पर राजा ने पट पर वह श्रेष्ठ नगर और पूरा विवरण उसी समय सब कुछ बना दिया। उस चित्रपट को लेकर उसी समय उस प्रतीहार ने नया मठ बनवाकर उसमें भित्ति पर लगा दिया। मठ में दूर देश से आये बन्दियों (भाट-चारणों) को ठहरने तक चहों रसों का भोजन, वस्त्र और दो स्वर्ण मुद्रा देने की व्यवस्था कर दी। मठ निवासी व्यवस्थापकों को यह आज्ञा दे दी कि जो कोई इस चित्र वाले नगर को जानता हो और वह आये तो मुझे बताना। इसी बीच मल्लिका (मोगरे) को प्रसन्न करने वाले पवन वाले ग्रीष्मवन की छाया में बैठे पथिक और खिले पाटल को देखकर गहन गर्जन करता हुआ काला मेघ केतकी के प्रचुर दाँतों वाला वर्षाकाल का मदभरा हाथी आ गया। उस समय पूर्वी पवन के समान प्रबल वेग से राजा विक्रमादित्य के विरह का दावानल बढ़ गया। तब उसकी गणिकाओं की ये आवाजें सुनाई देने लगीं— अरी हारलता हिम(बरफ) दे, चित्रांगि चन्दन लगा,

पत्रलेखा कमलपत्र का टंडा बिछौना कर, कंदर्पसेना केले के पत्तों से हवा कर। धीरे-धीरे बिजली जैसा विषम (असह्य) वर्षाकाल टंडा पड़ गया। परन्तु राजा का विरह की ज्वाला वाला कामज्वर शांत नहीं हुआ। दूर के पथिकों पथ पर चल पड़ो। प्रियजनों की प्रियाएँ केश गूँथने लगें, उनका समागम हो जाए। कलहंसों के द्वारा मानो ऐसे आदेश देती हुई खिलते कमलमुखों पर काश कुसुम से मुस्कुराता हुआ शरदऋतु आ गया। ऐसे समय दूर से एक बन्दी ने उस द्वारपाल के बनवाये मठ में भोजन के लिए प्रवेश किया। एक बार उसने इस मठ की प्रसिद्धि सुनी थी। उस शम्बरसिद्धि ने इस मठ में भोजन किया, कपड़े का जोड़ा प्राप्त किया। तब उसने भीत पर वह चित्रपट देखा। वहाँ चित्रांकित उस नगर को पहचानकर वह बन्दी चकित होकर बोला— अरे यह नगर किसने बनाया? क्योंकि यह तो केवल मैंने देखा है या वह जानता है जिसने यह चित्र बनाया। और किसी अन्य को मैं नहीं जानता। यह सुनकर मठ के लोगों ने यह बात भद्रायुध को बतायी। तब वह स्वयं आकर उस बन्दी को राजा के पास ले गया।। 60—77।।

राजा ने जब यह पूछा— क्या सुचमुच तूने वह नगर देखा है? तो शम्बर सिद्धि इस प्रकार बोला— मैंने मलयपुर नामक वह महानगर देखा है। पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए सागर पार कर द्वीप के बीच में देखा है। उस नगर में मलयसिंह नामक राजा है। उसकी मलयवती नामकी अनुपम पुत्री है। वह पुरुषद्वेषिणी (मरद भड़कनी) है। एक स्वप्न में किसी तरह विहार के लिए निकली तो किसी महापुरुष को उसने देख लिया। उसे देखते ही उसी समय वह डरे के समान बुरे ग्रह—सा पुरुषद्वेष उसके मन से निकल गया। उस पुरुष को अपने भवन में सपने में ही ले जाकर, उससे विवाह कर उसके साथ अपने कमरे में उसने प्रवेश किया। वहाँ उस पुरुष के साथ जब तक मिलन उत्सव वह करे तब तक वहाँ की दासी ने रात बीतने से उसे जगा दिया। तब क्रोध से उस दासी को निर्वासित करके सपने में देखे उस प्रियतम का स्मरण करती हुई विरह की आग से जलती हुई कोई गति न देखती हुई बेबस उठ—उठकर बिछौने पर शिथिल अंगोंवाली वह निढाल हो बार—बार गिर जाती है। गूँगी—सी, हवा (भूत) लगी—सी, तम (गुण और अंधेरे से) मोहित—सी पूछने पर सेवकों को कोई उत्तर भी नहीं देती है वह।

foØekfnR; dFkk, ;@121

यह ज्ञात कर माता—पिता ने बड़ी मुश्किल से प्रयास किया। तब अपनी भरोसे की सखी को उसने अपने सपने की बात बतायी। तब पिता ने ढाढस दिया तो उसने प्रतिज्ञा की कि यदि छह माह में वह मुझे नहीं मिलेगा तो मैं आग में प्रवेश कर लूँगी। आज पाँच महिने बीत गये। कौन जाने उसका क्या होगा? इस प्रकार ऐसा विवरण मैंने उस नगरी में सुना। इस प्रकार शम्बरसिद्धि ने जब पूरा विवरण बताया तो अर्थसिद्धि हो गयी। यह सोचकर राजा के प्रसन्न होने पर भद्रायुध बोला— कार्य सिद्ध हो गया। हे प्रभो! वह देश और वह राजा आपके वश में (अधीन) है। अतः जब तक छठा मास पूरा न हो, वहाँ जाइए। इस प्रकार उस प्रतीहार के कहने पर प्रचुर धन से सम्मान करके पूरी बात बताने वाले उस शंबरसिद्धि को आगे करके छोटी—सी सेना के साथ विक्रमादित्य प्रस्थित हुआ— जब सूर्य किरणों में और धन में पीलापन आया, नदियों में जल क्षीण हुआ यह मन में तय करके राजा आतंकरहित निश्चिन्त होकर तैयार होकर प्रिया की ओर प्रस्थित हुआ।। 78—95।।

क्रमशः जाकर सागर पार कर जब उस नगर में पहुँचा तो सामने कोलाहल करते व्याकुल लोगों को देखा। यह राजकुमारी मलयवती आज छह मास की अवधि पूरी होने पर प्रेमी प्राप्त न होने से अग्नि में प्रवेश कर रही है। पूछने पर राजा ने लोगों से यह सुना तो वह उस स्थान पर गया जहाँ चिता बनी हुई थी। उसे देखते ही लोगों के हट जाने पर उस राजकुमारी ने आँखों में अकारण अमृत बरसाने वाले उस (राजा) को देखा। स्वप्न में विवाह करने वाले वे मेरे प्राणेश्वर आ गये, यह शीघ्र ही पिता जी से कहो—उसने सखियों से यह कहा। उन्होंने जाकर उसके पिता को कहा तो वह राजा दुःख हटने से प्रसन्न होकर नम्र होकर राजा विक्रमादित्य के पास पहुँचा। उसी समय भुजा उठाकर समय के ज्ञाता शम्बरसिद्धि बन्दी ने ऊँची आवाज में यह पाठ किया।। 96—102।।

जय हो कि अपने तेज से भूतसमूह को जिन्होंने साध लिया। जो म्लेच्छों के वन के दावानल हैं, आपकी जय हो। जय हो देव, सातों सागर की सीमा वाली मानिनी मही के नाथ, जय हो। समस्त राजा नम्र होकर झुके सिरों द्वारा आप गुरु की आज्ञा धारण करते हैं, आपकी जय हो। जय हो विषमशील विक्रम(वीरता) के सागर विक्रमादित्य, आपकी जय हो।

122@foØekfnR; dFkk, ;

जब बन्दी ने यह कहा तो विक्रमादित्य का आगमन जानकर वहाँ राजा मलयसिंह ने पैर पकड़ लिये। आतिथ्यसत्कार किया गया। तब उसके साथ उसके भवन में प्रवेश किया। साथ में वह बेटी मलयवती भी थी जो मृत्यु से मुक्त हो गयी थी। और फिर उस राजा ने उस दामाद के साथ स्वयं को कृतकृत्य मानते हुए अपनी वह बेटी उस राजा विक्रमादित्य को दे दी। जैसी चित्र में, वैसी स्वप्न में और जैसी स्वप्न में वैसी ही प्रत्यक्ष देखकर उस मलयवती प्रिया को उसने अंक में पाया। उस राजा विक्रमादित्य ने यह अद्भुत तो पार्वती के प्रिय शिवजी की कृपा के देवतरु का फल माना। उसके बाद साकार निर्वृति मलयवती—सी उस वधू को लेकर चिरकालीन विरह की बेचैनी के समान सागर को पारकर सम्मान तथा उपहार लिए कई—कई राजाओं के पद—पद पर प्रणाम करने वाले हाथों के साथ राजा विक्रमादित्य अपनी नगरी उज्जयिनी को लौट आये। और वहाँ उसके प्रभाव को देखकर कि इच्छानुरूप चित्र के कौतुक को सच साबित कर दिया। इससे कौन चकित नहीं हुआ, कौन प्रसन्न नहीं हुआ, और किन—किन लोगों ने महोत्सव नहीं किया! ॥ 103—112 ॥

AA egkdf0 Jhl kēn0 HkVV fojfr dFkk! fjRl kxj dsfo"ke'khy
yEcd earhl jh rj& l āwKAA

AA pk&kh rj&AA

एक अन्य कथा है— तब इस विक्रमादित्य की कलिंगसेना नाम की सौत रानी इस प्रकार बोली। राजा ने मलयवती के लिए जो किया वह अद्भुत नहीं है। क्योंकि यह देव तो पृथ्वी पर सदा से विषमशील रूप में प्रसिद्ध है। क्या इसने आक्रमण करके बलपूर्वक मुझसे विवाह नहीं किया! मेरे रूप वाली पुतली देखकर काम के वशीभूत हो गया। इस निमित्त जो कथा तीर्थयात्री देवसेन ने मुझे कही थी वह मैं तुम्हें कहती हूँ सुनो ॥ 1—4 ॥

राजा ने मुझसे अविधि से विवाह कैसे कर लिया —इसलिए मैं दुखी थी तो मेरे पास आकर आश्वासन देते हुए वह तीर्थयात्री बोला— हे देवि! क्रोध मत करो। तुमसे बड़ी श्रद्धा से अत्यन्त हड़बड़ी में विवाह कर लिया इसकी आरंभ से कथा सुनो। तीर्थजल लाने वाला बनकर आपके स्वामी की सेवा करते हुए वन में दूर से मैंने एक बार विशाल वराह देखा। दाँत से विशाल और विकट मुख वाला तमाल के समान श्यामल छवि वाला उसका रूप ऐसा लग रहा था मानो शशिकलाओं को कृष्णपक्ष खा रहा हो। हे देवि! मैंने आकर राजा को बताया तो राजा भी उसी तरह उसके रस से आकृष्ट होकर आखेट के लिए निकल पड़ा। मृग—वन में पहुँचकर बाघ, मृग आदि का क्षय करने लगा तो मेरे बताने पर दूर से उस वराह को देखा। देखकर उसे अद्भुत और किसी कारण सूअर बना मानकर उच्चैःश्रवा अश्व के रत्नाकर नामक पुत्र पर चढ़ गया। मध्याह्न में सूर्य सदा एक मुहूर्त (दो घड़ी) आकाश में ठहर जाता है और उस समय अरुण (सूर्य का सारथि) घोड़ों को स्नान और पान हेतु छोड़ देता है। एक बार उच्चैःश्रवा रवि के रथ की सेवा

से छूटा तो वन में राजा की घोड़ी को देखकर उसके पास आ गया। उससे वह अश्व जन्मा। वायु के समान तेज उस अश्व पर बैठकर तेजी से राजा ने उस सूअर का दूर तक पीछा किया। वहाँ भी उसकी नजर से वह सूअर लुप्त हो गया। उच्चैःश्रवा अश्व के पुत्र अश्व से भी अधिक तेज गति का था वह सूअर। उसे न पाकर राजा साथियों को दूर छूटा जानकर पीछे-पीछे अकेले आते हुए देखकर मुझसे उसने पूछा-बता सकते हो कि हम कितनी दूर आ गये? हे देवि! यह सुनकर मैंने तब राजा को यह उत्तर दिया।। 5-17।।

हे प्रभो! तीन सौ योजन आ गये हैं हम दोनों। तब राजा ने पूछा तो फिर तू पैदल कैसे आ गया? राजा ने जब चकित होकर मुझसे पूछा तो मैंने कहा- हे देव! मेरे पास पैर पर लगाने का लेप है। उसकी बात सुनो। पहले कभी पत्नी के वियोग में तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़ा। मार्ग में साँझ के समय ऐसा देवालय मिला जिसमें उद्यान भी था। उसमें रात बिताने के लिए मैंने प्रवेश किया तो इसी बीच मैंने देखा कि एक स्त्री है। उसने आतिथ्यसत्कार किया और रात में उसने एक ओंठ आकाश में करके दूसरा धरती पर कर दिया। मुख फैलाकर मुझसे बोली कि ऐसा मुख तूने कहीं देखा है क्या? तब बिना डरे छुरा निकालकर भौंहे मटकाते हुए मैंने कहा- तूने ऐसा आदमी कहीं देखा है क्या ? ।। 8-23।।

तब सौम्य शरीर की होकर बिना विकार के मुझसे बोली- मैं चण्डी नाम की यक्षी हूँ। तेरे धैर्य से प्रसन्न हूँ। तो बता मुझे कि तेरा क्या प्रिय करूँ? उस यक्षिणी के ऐसा कहने पर मैंने कहा- यदि सचमुच संतुष्ट है तो ऐसा कुछ कर कि बिना परिश्रम के मैं सब तीर्थयात्रा कर लूँ। मैंने यह कहा तो उस यक्षी ने मुझे पैरों का लेप दिया जिससे मैं तीर्थों में जाता रहा और आज तुम्हारे पीछे दौड़ता रहा। उससे ही प्रतिदिन मैं यहाँ वनभूमि पर आकर फल खाकर फिर उज्जयिनी आकर आपकी सेवा करता हूँ। हे देवि! इस प्रकार मैंने राजा को बताया तो प्रसन्न दृष्टि से उसने कहा- मेरा अनुयायी योग्य है। फिर मैंने ही राजा को कहा- देव! यदि आप स्वादिष्ट फल खाएँ तो ले आऊँ। तब राजा ने मुझे आदेश दिया- न तो मैं खाऊँगा और न मेरे लिए कुछ भी उपयोगी है। तुम थक गये हो, थोड़ा-बहुत खा लो। तब वहाँ मैंने ककड़ी लेकर खा ली। उसे खाते ही मैं अजगर बन गया। हे देवि! मुझे

foØekfnR; dFkk, j@125

अचानक अजगर रूप में देखकर विषमशीलदेव को दुःख हुआ और आश्चर्य भी हुआ। वहाँ अकेले पड़े हुए उन्होंने भूतों के प्रधान वेताल का स्मरण किया। पहले देखकर ही नेत्र रोग ठीक करके वश में कर लिया था उसे। वह वीर वेताल याद करते ही आकर राजा से बोला- महाराज क्या आपने मुझे याद किया था? आज्ञा दीजिए। तब राजा ने कहा था- हे भद्र! मेरे इस कार्पटिक को अचानक अजगरी (अजरग रूप की प्राप्ति) हो गयी। इसे यथावत् कर दो। वेताल ने भी कहा- देव! मुझे ऐसी शक्ति नहीं है। शक्तियों की सीमाएँ होती हैं। वे पानी, विद्युत्, अग्नि को क्या नष्ट कर सकती हैं! तब राजा ने कहा- तो मित्र इस पल्ली (पाड़े-छोटे गाँव) में चलें। भीलों से शायद कोई उपाय ज्ञात हो जाए। यह विचारकर वेताल के साथ राजा उस पाड़े में गया। वहाँ उन्हें गहने पहने देखकर चोरों ने घेर लिया। उन पर पाँच सौ तीर चलाते हुए राजा के आदेश से भूतपति वेताल उन्हें खा गया। शेष भागकर अपने सेनापति के पास जाकर बोले तो एकाकिकेसरी नामक वह(सेनापति) क्रोधित होकर सेना सहित आया। एक सेवक के मुख से जानकर पहचानते हुए उस सेनापति ने आकर राजा के पैर पकड़ लिये। तब अपना परिचय दिया तो राजा ने भी अभिनंदन करके कुशल पूछकर सेनापति से कहा- मेरा कार्पटिक (तीर्थयात्री) वन में ककड़ी फल खाकर अजगर बन गया तो उससे उसकी मुक्ति का उपाय करो। राजा भी यह बात सुनकर उस सेनापति ने कहा- यह मेरा पुत्र देव का अनुयायी है। इसे बता दें। तब उसका बेटा उस वेताल के साथ मेरे पास आया। ओषधी के रस से पहले के समान मनुष्य बना दिया। तब हम सब प्रसन्न होकर राजा के पास पहुँचे और मैंने पैर पड़कर समाचार सुनाया तो राजा ने सब बताया। वह एकाकिकेसरी भीलों का सेनापति प्रार्थना करके अपने घर हमारे साथ राजा को ले गया।। 24-48।।

शबर का वह घर हमने देखा। वहाँ हाथीदाँत से ऊँचा बना, जिसकी छत बाघों के चमड़े से छवीली है। मोरपंख के कपड़े, गुंजाफल की माला के हार हैं। हाथियों के मद के बहाव से नारियों का शृंगार है। वहाँ स्वयं सेनापति की पत्नी ने राजा की सेवा की। वह मदमत्त हाथी के मद से महकते कपड़ों वाली और मोती आदि से अलंकृत थी। स्नान-भोजन करने के बाद राजा ने वृद्ध पुत्रों तथा युवा सेनापति को देखकर पूछा- हे सेनापति! यह मुझे

126@foØekfnR; dFkk, j

आश्चर्य है सो तुम बताओ। तू तो जवान है पर, तेरे ये पुत्र बूढ़े कैसे हो गये? राजा ने जब यह कहा तब शबरराज ने यह कहा— हे देव! यह बात बहुत बड़ी है। यदि कौतुक है तो सुनिये। मैं चन्द्रस्वामी नामक विप्र हूँ और मायापुरी में रहता था। पिता की आज्ञा से मैं किसी समय लकड़ी के लिए वन में गया। वहाँ मेरा मार्ग रोककर बाधा न डालता हुआ एक वानर बैठा था। दुखी आँखों से वह अन्य मार्ग बता रहा था। यह मुझे खाता नहीं है तो इसके बताये अच्छे मार्ग से जाता हूँ और इस बंदर का आशय देखूँ। यह सोचने के बाद उस मार्ग से मैंने प्रस्थान किया। पलट-पलटकर पीछे देखता हुआ वह बंदर मेरे आगे-आगे चलने लगा। दूर जाकर वह बंदर एक जामुन के पेड़ पर चढ़ गया और उसके पीछे सघन लताजाल पर मैंने नजर डाली। वहाँ मैंने एक बंदरी को देखा जो लता लपेट कर बँधी थी। मैंने समझा कि यह इसीलिए मुझे यहाँ लाया।। 49-60।।

तब मैंने पेड़ पर चढ़कर कुल्हाड़ी (फरसे) से लता की लपेट के फंदे को काट कर उस बन्दरी को मुक्त किया। तब पेड़ से उतरकर वानर और वानरी दोनों ने मेरे पैर पकड़ लिये। थोड़ी देर वानरी को मेरे पैरों पर लगी छोड़कर बन्दर ने जाकर दिव्य फल लाकर मुझे दिये। वह लेकर तथा इन्धन लेकर मैं घर आया। उस उत्तम फल को मैंने और पत्नी ने खाया। उसके खाते ही मेरे और पत्नी का बुढ़ापा और रोग चले गये। तब वहाँ हमारे देश में अकाल से हाहाकार मच गया। उससे परेशान होकर वहाँ के लोग जहाँ-तहाँ चले गये। भाग्य से मैं भी पत्नीसहित धीरे-धीरे इस जगह आ गया। उस समय यहाँ कांचनदंष्ट्र नामक एक शबर राजा था। उसके शस्त्र लेकर उसके आसरे में मैं नौकरी करने लगा। उन हथियारों को चलाने में मुझे आगे देखकर उस कांचनदंष्ट्र राजा ने सेनापति के पद पर मेरा अभिषेक कर दिया। एकनिष्ठ भक्ति से मैं उस स्वामी की सेवा करता रहा। उसके कोई पुत्र नहीं होने से अंतकाल में उसने मुझे ही राज्य सौंप दिया। यहाँ रहते हुए मुझे सत्ताईस सौ साल बीत गये। परन्तु उस फल के खाने से मुझे बुढ़ापा नहीं आया। चकित राजा को यह सब विवरण बताकर वह एकाकिकेसरी भिल्लराज पुनः यह कहने लगा।। 61-71।।

तो मैंने वानर द्वारा दिये गए फल से जो चिरजीवन पाया, आपके चरणों के दर्शन से उसका वह फल पूर्ण हो गया। इसलिए हे देव! मेरी प्रार्थना है कि

foØekfnR; dFkk, i@127

आपने घर आकर मुझ पर बड़ा अनुग्रह दिखाया। हे देव! आज मुझे संतोष है। मेरी क्षत्रिया पत्नी से उत्पन्न एक कन्या है, रूप में अतुल्य सुन्दरी, नाम है मदनसुन्दरी। वह कन्यारत्न आपके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं सुहाती है। तो वह मैं आपको देता हूँ। उससे आप विधिवत् विवाह कर लीजिए। मैं तो आपका दास हूँ। दो लाख धनुष तक आपके पीछे चला प्रभो! राजा ने “ठीक है” कहकर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। शुभ लग्न में उसने उसकी बेटी से विवाह कर लिया। मोती और कस्तूरी लदे सौ ऊँट उसने दिये। वहाँ सात रात रहकर मदनसुन्दरी और भीलसेना के साथ वह राजा प्रस्थित हुआ। इस बीच अश्व द्वारा राजा के अपहरण करने पर उस आखेट वन में स्थित हमारी सेना को प्रतीहारी भद्रायुध ने कहा—परेशान मत होओ। आपके स्वामी शीघ्र ही आ रहे हैं। इसका दिव्य प्रभाव ऐसा है कि कुछ भी अहित नहीं हो सकता।। 72-80।।

क्या तुम्हें याद नहीं कि अकेले ही जाकर पाताल से सुरुपा नामक नागकन्या से विवाह करके यहाँ आ गये। तब वह वीर गन्धर्वलोक जाकर लौट आया और वहाँ से गन्धर्वराज की कन्या तारावली को ले आया। यह कहकर भद्रायुध ने उन सबको ढाढस बँधाया और राजा का रास्ता देखते हुए वनद्वार पर ठहरे रहे। राजा ने भी शबर सैनिकों के साथ खुले मार्ग से उस मदनसुन्दरी की इच्छानुसार चलते हुए घोड़े पर बैठकर वेताल और मेरे साथ वन में प्रवेश किया, उस पहले देखे वराह को देखने की इच्छा से। 81-85।।

जब उसने प्रवेश किया तो वराह को सामने देखकर राजा ने उसे पाँच तीरों से मार डाला। उसके मारे जाते ही वेताल ने उसका पेट फाड़ डाला। देवि! अचानक उससे एक सुन्दर पुरुष निकला। राजा चकित होकर जब तक यह पूछे— ‘आप कौन हैं?’ तब तक चलते-फिरते पर्वत के समान वहाँ एक वनगज आ गया। वन गिराते हुए उस जंगली हाथी को राजा ने देखकर एक ही बाण से मर्म पर आघात कर गिरा दिया। वेताल ने उसका पेट भी फाड़ दिया तो उसमें से एक सर्वांगसुन्दरी नारी और दिव्य पुरुष निकला। जब तक राजा पूछे तब तक वराह के पेट से निकला आदमी बोला— राजन्! मैं अपनी बात बताता हूँ, सुनिये। 86-91।।

128@foØekfnR; dFkk, j

हम दोनों देवकुमार हैं। मेरा नाम भद्र है और यह शुभ है। हम दोनों ने भ्रमण करते हुए ध्यानमग्न मुनि कण्व को देखा। तब हमने हाथी और सूअर का रूप बनाकर खेल किया। मूर्खतावश हमने परेशान किया तो हम दोनों को मुनि ने शाप दिया—वन में इसी प्रकार हाथी और सूअर बने रहो। राजा विक्रमादित्य मारेगा तो तुम्हें मुक्ति मिलेगी। इस प्रकार हम दोनों हाथी और सूअर बने रहे। आज आपने हमें मुक्त कर दिया। यह स्त्री अपनी बात स्वयं बताती है। इस सूअर के कण्ठ का स्पर्श करोगे तो कृपाण बन जाएगी और हाथी की पीठ का स्पर्श करोगे तो ढाल बन जाएगी—यह कहकर वे दोनों गायब हो गये। वराह और गज को हाथ से छूने पर खड्ग और ढाल बन गये। पूछने पर तब उस स्त्री ने अपना विवरण यह बताया— मैं उज्जैन के वणिक्पति (बनियों के स्वामी) धनदत्त की पत्नी हूँ। जब मैं प्रासाद की छत पर सोयी थी तब यह हाथी निगलकर मुझे यहाँ ले आया। उसके भीतर पुरुष नहीं बना। पेट चीरने पर उससे मेरे साथ आदमी भी निकला। इस प्रकार उस दीन के कहने पर राजा ने उस स्त्री से कहा— धीरज रख। तुम्हारे पति के घर मैं तुझे पहुँचाता हूँ। मेरी रानियों के साथ यात्रा करते हुए निर्भय जा। यह कहकर वेताल द्वारा भिन्न मार्ग से जाती रानी मदनसुन्दरी को सौंप दी गयी।। 92—102।।

तब वेताल के लौटने पर उस वन में हम देखते हैं कि अकस्मात् दो राजकुमारियाँ हैं जिनके साथ प्रचुर भव्य साज—सामान है। मुझे भेजकर राजा ने उन महत्तरों (कंचुकियों) को बुलवाया और पूछा कि ये दोनों कन्याएँ कहाँ की हैं? तो वे बोले— कटाह नामक एक द्वीप है जो समस्त सम्पदाओं की पताका (सर्वोपरि) है। वहाँ का राजा गुणसागर अपने नाम को सार्थक करता है। उसकी रानी को गुणवती नाम की पुत्री हुई। उसके रूप के कारण निर्माता विधाता को भी आश्चर्य होता था। उसके पति के विषय में सिद्धों ने आदेश दिया कि वह सातों द्वीपों का स्वामी होगा। तब उसके पिता राजा ने मन्त्रियों से विचार—विमर्श किया और यह तय किया कि मेरी इस पुत्री के योग्य वर विक्रमादित्यदेव है। अतः पाणिग्रहण के लिए इसे उसके पास ही भेज दूँ।।103—108।।

यह तय कर उस राजा ने सेवक—सेविकाओं तथा धनसहित उस राजकुमारी पुत्री को नाव में बिठाकर सागर में रवाना कर दिया। सुवर्णद्वीप के निकट

foØekfnR; dFkk, i@129

पहुँचे तो राजकन्या सहित लोगों और नाव को दुर्भाग्य से शफर (महामत्स्य ह्वेल) निगल गया। भाग्य की गति से सागर की लहर ने उसे किनारे पर फेंक दिया। उस द्वीप से लगा वह महामत्स्य मर गया। उसे देखते ही लोग विभिन्न हथियार लेकर दौड़ पड़े। आश्चर्यजनक मत्स्य को मारकर उसका पेट फाड़ा। उसमें से लोगों से भरी पूरी वह विशाल नौका निकली। यह जानकर चकित होकर वहाँ उस द्वीप का राजा आया।।109—113।।

वह गुणसागर राजा का साला चन्द्रशेखर था। उसने लोगों से नाव के बारे में सही—सही जानकारी ली। तब उस राजा ने सब समझकर अपनी भानजी गुणवती को अपनी राजधानी में ले जाकर आनंद से उत्सव किया और दूसरे दिन विक्रमादित्यदेव को प्रदान करने का पहले से तय कर लिया था, अतः उस राजा ने अपनी उस पुत्री चन्द्रवती को उसके लिए धन—वैभवसहित उस गुणवती के साथ अच्छे मुहूर्त में वाहन पर बिठा दिया और रवाना कर दिया। वे दोनों सागर पार कर राजकुमारियाँ, उनके सेवक क्रमशः चलते हुए यहाँ पहुँच गये। यहाँ हमारे पहुँचते ही विशाल वराह और हाथी हम पर झपट पड़े तो हे प्रभो! हम इस प्रकार चिल्लाने लगे— हे लोकपालो! विक्रमादित्यदेव का ये स्वयंवरण करके दोनों कन्याएँ आयी हैं इसलिए उसकी धर्म से रक्षा करो। यह सुनकर स्पष्ट वाणी में उन वराह और गज ने हमसे कहा— आप धीरज रखो। राजा का नाम ले लिया है। अतः आपको अब कोई डर नहीं है। अभी यहीं उस राजा को आया देखोगे। यह कहकर वे दोनों हाथी—वराह वहाँ से चले गये जो दिव्य थे।। 114—122।।

इस प्रकार उन प्रधानों या कंचुकियों ने कहा कि यह हमारा वृत्तान्त है। तब हे देवि! उन्हें मैंने कहा— यह वही राजा है। तब तेरे पैरों पर पड़कर हर्षित लोगों ने वे दोनों गुणवती और चन्द्रवती राजकुमारियाँ उस राजा (विक्रमादित्य) को सौंप दीं। तब राजा ने भी वेताल को आदेश दिया कि मदनसुन्दरी के साथ ये दोनों—इस प्रकार तीनों को ले जाया जाये।। 123—125।।

पल भर में वेताल के आने पर उसके और मेरे साथ हे देवि! वह मार्ग छोड़कर ही (उबबट) चल पड़ा। हमारे जाते—जाते वन में सूर्य अस्त हो गया। उसी समय हमने वहाँ मुरज (ढोल या मृदंग) की आवाज सुनी। राजा ने जब पूछा कि यह ढोल की आवाज कहाँ से आ रही है। तब वह वेताल बोला—

130@foØekfnR; dFkk, j

हे देव! यहाँ एक देवकुल (बड़ा देवालय) है। विश्वकर्मा का बनाया वह दिव्य कौतूहल है। वहाँ से यह मुरज की आवाज आ रही है जो संध्याप्रेक्षणक (साँझ के नृत्यनाट्यादि उपरूपक) में हो रही है प्रभो! जब वेताल ने यह कहा तो राजा, वह वेताल और मैं कौतुक से वहाँ आये और घोड़ा बाँधकर हमने प्रवेश किया।। 126-130।।

वहाँ हमने देखा कि एक नागमणि के विशाल लिंग की पूजा की गयी है उसके सामने एक जलते दीपक या मशालों वाला प्रेक्षणीयक हो रहा है। दिव्य रूप वाली श्रेष्ठ नारियाँ वहाँ बहुत देर तक नृत्य करती रहीं। चारों प्रकार के वाद्य तथा गान-गान्धर्व (गीत गायक) योगी के साथ हो रहा था नर्तन। नृत्य-प्रस्तुति के बाद हमने आश्चर्य से देखा कि स्तम्भनर्तकियों में प्रवेश करके वे नर्तकियाँ लीन हो गयीं। और वे गायक और वादकादि भी वहाँ के चित्रांकित पुरुषों में विलीन हो गये। यह देखकर राजा के चकित होने पर वेताल ने यह कहा- विश्वकर्मा द्वारा निर्मित ऐसी दिव्य अनश्वर माया शाम-सुबह दोनों समय लगातार होती ही रहती है।। 131-135।।

उसके ऐसा कहने पर वहाँ अन्दर घूमते हुए हमें एक ओर विशेष रूप वाली स्तम्भपुतली दिखाई दी। राजा तो उसे देखते ही उसके लावण्य पर मोहित, शून्य और स्तब्ध हो गया और क्षणभर के लिए तो वह भी स्तम्भ पर उत्कीर्ण-सा हो गया। और बोला कि इस रूप वाली सजीव नारी को न देखूँ तो मेरे राज्य और जीवन का क्या मतलब! यह सुनकर वह वेताल बोला- इसे पाना कठिन नहीं है। कलिंगराज की पुत्री है यह और इसका नाम है कलिंगसेना। उसे देखकर उसके रूप के निर्माण के इच्छुक रूप(मूर्ति)कार ने यह सालभञ्जिका बनाई। वह वर्धमानपुरी (वर्तमान बदनावर, जिला-धार, मध्यप्रदेश) का निवासी है। इसलिए उज्जयिनी जाकर कलिंग के राजा से उसकी वह कन्या माँग लो अथवा हे स्वामी! उसका पराक्रम से हरण कर लो। वेताल की यह बात राजा ने मन में रख ली। तब यहीं रात बिताकर प्रातः हम प्रस्थित हो गये।।136-142।।

और चलते हुए अशोक वृक्ष के नीचे दो पुरुषों को देखा उन दोनों भव्य पुरुषों ने उठकर राजा को प्रणाम किया। कौन हो तुम दोनों! जंगल में किसलिए हो? ऐसा जब राजा ने उनसे पूछा तो उनमें से एक बोला- हे

देव! यह सुनिये, मैं कहता हूँ। मेरा नाम धनदत्त है। उज्जयिनी के वणिक् का पुत्र हूँ। मैं घर की छत पर किसी समय पत्नी के साथ सोया था। प्रातः जगकर जब देखता हूँ कि वह मेरी पत्नी उस घर में नहीं है और न अन्य किसी महल-उपवन में। उसका चित्त अन्य किसी नारी के समान नहीं है, उस पर विश्वास भी पूरा (दृढ़) है। "यदि मैं साध्वी हूँ तो निश्चय ही यह नहीं मुरझाएगी"-यह कहकर जो उसने मुझे दी थी वह माला भी अम्लान (ताजी) ही है। तो मैं नहीं जानता कि वह कहाँ गयी। कहीं उसे भूत आदि तो नहीं ले गया! यह सोचता हुआ, ढूँढता हुआ, चिल्लाता हुआ, रोता हुआ, उसके वियोग की आग में जलता हुआ बिना भोजन के रहता हूँ। बन्धुओं के आश्वासन देने पर थोड़ा आहार करने के अनन्तर ब्राह्मणों को भोजन करवाते हुए इस देवालय में ठहरा हुआ हूँ। 143-150।।

वहाँ कदाचित्त यह थका विप्र मुझसे बोला। मैंने तब स्नान-भोजन आदि द्वारा विश्राम करवाया। और तू कहाँ से आया -यह मैंने पूछा तो उसने बताया कि मैं वाराणसी के निकटवर्ती गाँव से हूँ। मेरे सेवक ने मेरा दुःख बताया तब यह फिर बोला- हे मित्र! मैं तो अपने अवसाद से भरा हूँ। तुम बिना प्रयत्न वाले तुम से क्या होना है? हे सखे! जो व्यवसायी होता है वह दुष्प्राप्य को भी पा लेता है। उठ तेरी पत्नी को हम दोनों मिलकर खोजते हैं। मैं तेरा मित्र हूँ।। 151-154।।

उसे कैसे खोजा जाए जिसकी दिशा तक ज्ञात न हो। जब मैंने यह कहा तो पुनः प्रेम से यह कहा- ऐसा नहीं है। क्या पहले केसट का अपनी रूपवती पत्नी से असंभव समागम नहीं हुआ! उसकी यह कथा सुनो। पाटलिपुत्र नगर में धनी ब्राह्मणपुत्र था। वह केसट नामक युवा ब्राह्मण रूप में मानो दूसरा काम था। वह अपने योग्य पत्नी पाने की इच्छा से माता-पिता को बिना बताये तीर्थ के बहाने घर से निकलकर विभिन्न देशों में घूमता रहा। क्रम से कदाचित् वह नर्मदा किनारे पहुँचा और देखा कि मार्ग से साधारण लोगों का विशाल समूह आ रहा है। और दूर से देखकर उनके बीच से एक प्रमुख वृद्ध ब्राह्मण ने आकर उस केसट को बड़े प्रेम से एकान्त में कहा- तुम से मैं कुछ चाहता हूँ। तुम्हारे लिए तो वह साध पूरी करना खेल है। मेरा उपकार पूरा करोगे यदि तो वह मैं बताऊँ। यह सुनकर केसट बोला- आर्य! आपका उपकार करने की बात आप बता सकें तो

निश्चय ही आपका मुझे उपकार करना ही है। तब वृद्ध ब्राह्मण बोला— हे पुत्र! सुन! मेरा एक पुत्र है। वह विरूपों और सुरूपों में आपके समान अग्रणी (पहला) है। दन्तुर, चपटी नाका वाला, काला, कातर (दीन) आँखों वाला, मोटे पेट वाला, टेढ़े पैर वाला, सुपड़े जैसे कानवाला—उस जैसे के लिए स्नेह से रूप का वर्णन करके ब्राह्मण से रत्नदत्ता कन्या मैंने माँग ली।। 155–165।।

और वह रूपवती कन्या देने का ब्राह्मण ने वचन दे दिया। अपने नाम के अर्थ को सार्थक करती उस रूपवती का उसके साथ पाणिग्रहण आज है। इसलिए ये हम आये हैं। मेरे पुत्र को देखकर कोई सम्बन्धी अपनी पुत्री नहीं देता है। परिश्रम बेकार हो जाता है। उपाय सोच रहा था कि यहाँ आप मिल गये। आपकी वाणी तत्काल फल गयी। अब मेरी इच्छा पूरी कर दें। हमारे साथ आकर उस कन्या का विवाह कर मेरे पुत्र को आज प्रदान कर दो। वधू के लिए आप ही योग्य अनुरूप हैं। यह सुनकर उसे “ठीक है” कहने वाले केसट को लेकर नावों से वह नर्मदा पार कर वृद्ध ब्राह्मण गया। एक नगर पाकर अपने अनुचरों सहित बाहर ही विश्राम करने लगा तब तक आकाश का पथिक सूर्य भी पर्वत पर जा बैठा। तब अन्धेरा फैलने पर पानी के पास वह केसट जैसे ही स्पर्श करने के लिए गया तो देखा कि एक भयंकर राक्षस खड़ा है। वह बोला— अरे मेरे केसट कहाँ जाता है? यह मैं तुझे खाता हूँ। उस राक्षस को तब केसट ने कहा— तू मुझे नहीं खाए तो तेरे पास फिर आऊँगा। ब्राह्मण को वचन दिया हुआ काम पूरा करके आऊँगा निश्चय ही। यह सुनकर वचन लेकर राक्षस ने उसे छोड़ दिया और वह भी बारात समुदाय में चला गया। तब उस वृद्ध विप्र ने उस वर की शोभा से मंडित केसट को लेकर जान (बाराती) लोगों के साथ नगर में प्रवेश किया। वहाँ रत्नदत्त के घर पर वेदी सजी हुई थी। उस घर में अनेक प्रकार के बाजे बज रहे थे। उसमें केसट को ले गये। तब केसट ने उस सुन्दरी से ठीक तरह से विवाह किया। पिता ने वह रूपवती कन्या और प्रचुर धन प्रदान किया। नारियों ने वर—वधू को एक जैसा देखकर प्रशंसा की और वह रूपवती भी अपने अनुरूप वर को पाकर प्रसन्न हुई।। 166–179।।

उसकी सखियाँ भी उसे देखकर कामातुर हो गयीं। तभी केसट दुःख से व्यथित हो गया। और रात में बिछौने पर भी चिन्तित होकर विमुख होकर

foØekfnR; dFkk, j@133

सोने का बहाना करता रहा। प्रिय को सब समझ रही थी वह। आधी रात में रूपवती को सोयी समझकर केसट निकलकर सत्य के पालन के लिए राक्षस के पास चला गया। वह रूपवती पतिव्रता भी उठकर स्वेच्छा से छिपती हुई अचरज भरी पति के पीछे—पीछे गयी।।180–183।।

केसट को आया देखकर उस राक्षस ने उससे कहा— बहुत अच्छा। सत्य का पालन किया। तू बड़ा हिम्मतवाला है केसट। तूने पाटलिपुत्र नगर, वहाँ के निवासी पिता को पवित्र कर दिया। तो आ मैं तुझे खाता हूँ। यह सुनकर अचानक पास पहुँचकर रूपवती ने यह कहा— मुझे खा ले। पति को खा लेगा तो मेरी क्या दशा होगी। राक्षस ने भी उससे कहा— तेरी गति भिक्षा रहेगी। तब उसने कहा— हे महाबली! मुझ नारी को भिक्षा कौन देगा? माँगने पर जो तुझे भिक्षा नहीं देगा तो उसके सिर के सौ टुकड़े हो जाएँगे। राक्षस के यह कहने पर वह बोली— तो तू ही दे मुझे यह पति की भिक्षा। न देने से वह राक्षस सिर के टुकड़े होने से तत्काल मर गया। तब वह रूपवती नारी उस अनोखे चरित्र वाले केसट को साथ लेकर घर आयी तब तक रात बीत गयी।। 184–190।।

दिन उगने पर भोजन करके उस बारात के लोग तब प्रस्थान कर वर—वधू के साथ नर्मदा किनारे पहुँचे। तब उस वधू रूपवती को नाव पर साथवालियों सहित बिठाकर वह मुखिया वृद्ध ब्राह्मण अन्य नाव पर बैठ गया। और आभूषण आदि अपने पास रखकर केसट को अलग नाव पर बिठाकर उस शठ ने नाव वालों के साथ समझौता कर लिया। तब वधू और जान (बारात) सहित वह ब्राह्मण नदी के पार चला गया। केवट लोग केसट को नदी के बीच दूर ले गये। तब अत्यन्त गहराई में उस केसट और नाव को डालकर वे सब हाथों से तैरते हुए चले गये क्योंकि वृद्ध ब्राह्मण से उन्हें धन मिल गया था। केसट को नौकासहित नदी की ऊँची तरंगों ने टेलते हुए हवा के जोर से सागर के किनारे फेंक दिया।। 191–196।।

तब आयु शेष होने से आश्वस्त होकर सोचने लगा— अरे उस ब्राह्मण ने मुझे उपकार का बदला चुका दिया। अरे उस अधर्मी की मूर्खता उसने ही नहीं कह दी। अन्य से विवाह करके पत्नी से पुत्र को मिला रहा है। यह सोचता हुआ परेशान होकर बैठा था तब तक आकाशचारिणी रात्रि विचरण करती

134@foØekfnR; dFkk, j

हुई आ गयी। रात में उसे नींद नहीं आयी। अंतिम प्रहर में आकाश में कलकल सुनकर देखा कि आकाश से एक सुंदर पुरुष सामने गिरा। परेशान हो गया केसट यह देखकर कि उसे गिरने से कुछ भी नहीं हुआ। यह समझकर उसने पूछा— आप कौन हो। तब उस आदमी ने उस केसट से कहा।। 197—201।।

तुम मुझे बताओ कि तुम कौन हो? तब मैं तुम्हें बताऊँगा। यह सुनकर केसट ने उसे अपना विवरण बता दिया। तब उस आदमी ने कहा कि तब तो तुम्हारी भी मेरे जैसी ही अवस्था है। तो अब मैं अपना वृत्तान्त तुम्हें बताता हूँ सखे! सुन!।।202—203।।

वेणा नदी के किनारे रत्नपुर नामक नगर है। वहाँ का कन्दर्प नामक मैं गृहस्थ धनवान् ब्राह्मण हूँ। ऐसा मैं साँझ के समय पानी के लिए वेणा नदी में उतरा। फिसलकर उसमें गिर गया और पानी के बहाव में बह गया। उस रात में दूर तक चला गया। दिन उगने पर आयु बल से किनारे के पास टूटे वृक्ष पर डाल दिया गया। डाली के आसरे से तट पर चढ़ गया और थोड़ी साँस लेकर पास में सूने विशाल माता मन्दिर को देखा मैंने। उसमें प्रवेश करके देखा कि भीतरी तेजस से भास्वर मैं माताओं को शान्त और भय से प्रणाम कर स्तुति करने लगा। हे देवि! भगवति! मुझ दीन की रक्षा कर। यह मैं तो आज आपकी शरण में आ गया हूँ। इस प्रकार कहकर नदी के बहाव से परेशान मैं विश्राम करते हुए धीरे—से दिन बीत गया। तब चाँदनी की सफेद भभूत लगाकर तारों की माला पहने चन्द्रमा का श्वेत कपाल वाली रौद्ररूपधारिणी रातरूपी तपास्विनी आ गयी। उसी समय ज्ञात होने लगा कि माताओं के बीच से निकलकर योगिनियों का समूह आपस में बात करने लगा कि आज हमें चक्रमेला में जाना है और यहाँ हिंसक जानवरों में इस ब्राह्मण की रक्षा कैसे होगी। इसलिए इसे ऐसे स्थान पर ले जाकर रख दें कि इसका भला हो फिर वापस इसे घर में ले आएँगी। 204—213।।

यह कहकर मुझे अलंकृत करके साथ लेकर आकाश मार्ग से लेकर किसी नगर में किसी धनी ब्राह्मण के घर वे गयीं। वहाँ देखता हूँ कि जब तक कन्या विवाह के लिए सजाई गयी है। वेद और लग्न का समय हो गया परन्तु बारात का पता नहीं। तब वहाँ दिव्य वरवेश में मुझे देखकर वहाँ के

सब लोगों ने कहा— लो यह आ गया वर। तब मुझे ही वेदी पर ले जाकर अलंकृत पुत्री को लाकर उसे उस गृहस्थ ब्राह्मण ने मुझे विधिपूर्वक दे दी।। 214—218।।

स्त्रियाँ आपस में बात करने लगीं— भाग्य से इस सुमना के मनलायक योग्य वर मिल गया। अब इसकी सुन्दरता सफल हो गयी। तब उस सुमना के साथ विवाह कर विभिन्न महान् औपचारिकताओं से सुखी मैं महल में सो गया। इसके बाद रात के अंतिम पहर में वे योगिनियाँ चक्रमेलक से आकर अपने ढंग से मेरा हरण कर आकाश में उड़ गयीं।। 219—221।।

आकाश में मुझे ले जाते हुए उनकी अन्य देवियों के साथ लड़ाई हो गयी तो मैं हाथ से छूट गया। मैं उस नगर को नहीं जानता जहाँ सुमना से मेरा विवाह हुआ और न यह मालूम कि अब क्या होगा। इस प्रकार भाग्य ने जो मुझे दुःख की लड़ी दे दी, वह आज तुम से मिलन के कारण सुखांत बन गयी। कन्दर्प के ऐसा कहने पर केसट ने उसे कहा— मित्र! डर मत, अब तुझ पर योगिनियों का प्रभाव नहीं है। मेरे पास ऐसी शक्ति है कि उसे कोई पराजित न कर सके। हम साथ—साथ ही भ्रमण करें, विधाता सब अच्छा करेगा।। 222—226।।

आपस में बात करते हुए उन दोनों की रात बीत गयी। तब प्रातः वे दोनों सागर पार कर चल पड़े। चलते—चलते भीमपुर नामक नगर में पहुँच गये वे दोनों केसट और कन्दर्प जो रत्ननदी के पास में है। वहाँ उन दोनों ने उस नदी के किनारे कलकल आवाज सुनकर जाकर देखा कि दोनों किनारों पर फैला (एक विशाल) मत्स्य है। समुद्र के तट पर फेंका हुआ और विशालकाय होने से बँधा हुआ जिसे हाथों में विभिन्न शस्त्र लेकर मांसार्थी लोग चीर रहे हैं। चीरने पर उसके पेट से एक स्त्री निकली। लोगों ने बड़े आश्चर्य के साथ उसे देखा और वह डरी हुई किनारे पर खड़ी थी। तब उसे देखकर कंदर्प प्रसन्न होकर केसट से बोला— मित्र यही वह सुमना है जिससे मैंने विवाह किया था।।227—232।।

पता नहीं मत्स्य के पेट में कैसे उसका वास हो गया। इसलिए जब तक बात साफ न हो जाए तब तक यहाँ चुपचाप ठहरे रहें। केसट ने कहा—

“ठीक है” और वे दोनों वहीं ठहरे रहे। तब लोगों ने सुमना से पूछा— “तू कौन है। यह क्या है।” तब बड़ी कठिनाई से वह बोली— मैं रत्नाकरपुर में जयदत्त नामक विप्रशिरोमणि की पुत्री हूँ। सुमना मेरा नाम है। रात में अपने अनुरूप किसी भव्य ब्राह्मणपुत्र से विवाह हुआ। उसी रात में मैं सोयी थी कि वह मेरा पति कहीं चला गया। मेरे पिता ने उसे खोजने का प्रयास किया परन्तु वह कहीं नहीं मिला। तब उसके वियोग की अग्नि शांत करने के लिए मैं नदी में जा पड़ी तो यह मत्स्य निगल गया और भाग्य से यहाँ पहुँच गयी। इस प्रकार जैसे ही उसने यह कहा तो लोगों के बीच से निकलकर एक विप्र उसे गले लगाता बोला— “मैं यज्ञस्वामी हूँ। आ बेटी आ, तू मेरी बहिन की बेटी है। तेरी माता का मैं सगा भाई यज्ञस्वामी हूँ।” — यह सुनकर मुख उघाड़कर उस सुमना ने उसे देखा और मामा को पहचानकर आँसू सहित पैर पकड़ लिये। क्षण भर रोने के बाद उससे बोली— मुझे लकड़ियों में दे दो। आर्यपुत्र के वियोग में अग्नि के अतिरिक्त मेरी गति नहीं है। समझाने पर भी वह अपने उस निश्चय से नहीं डिगी। इस प्रकार उसके चित्त की परीक्षा हो गयी तो वह कन्दर्प उसके पास पहुँचा। उसके पास में आने पर वह समझदार सुमना उसे पहचानकर उसके पैरों पर गिरकर रोने लगी। लोगों ने और उस मामा ने पूछा तो उस मनस्विनी ने बताया कि “यही मेरा वह पति है।” ।।233-245।।

तब सब प्रसन्न हो गये। यज्ञस्वामी उसे, उसके पति कन्दर्प को केसटसहित अपने घर ले गया। वहाँ उन्होंने अपनी पूरी बात बतायी। तब पूरे कुटुम्ब ने बड़े प्रेम से सेवा सत्कार किया। कई दिन बीतने पर उस कन्दर्प को केसट ने कहा— इच्छित पत्नी पाकर तू कृतार्थ हो गया है। इसलिए पत्नी के साथ अब तू अपने नगर रत्नपुर जा। “मैं अकृतार्थ हूँ। पुनः अपने देश में नहीं जाऊँगा। तीर्थों में ही भ्रमण करते हुए अपना यह शरीर बिता दूँगा सखे!” —यह सुनकर वहाँ स्थित यज्ञस्वामी ने केसट से कहा— “इस प्रकार विचलित होकर क्यों बोलते हो? सब कुछ जीवित रहने से ही मिलता है। उस प्रकार का कुसुमायुध का वृत्तांत है, वह बताता हूँ। सुनो।” ।।246-251।।

चण्डपुर नामक नगर में देवस्वामी ब्राह्मण था। उसकी अत्यन्त रूपवती कन्या थी जिसका नाम कमललोचना था। उसका शिष्य ब्राह्मणपुत्र था जिसका नाम कुसुमायुध था। उसस शिष्य और उस कन्या में आपस में प्रेम

था। एक बार पिता ने वह कन्या अन्य वर को देने का निश्चय किया। कन्या ने सखी के द्वारा तत्काल कुसुमायुध को कहलाया— “पिताजी मुझे किसी अन्य को देने का तय कर चुके हैं और आपको मैंने अपना पति पहले ही मान लिया है। अतः किसी तरकीब से मेरा यहाँ से हरण कर लो।” तब उसका अपहरण करने का तय कर रात में बाहर खच्चरी और नौकर कुसुमायुध ने खड़े कर दिये। अपनी इच्छा से निकलकर उस खच्चरी पर बैठकर तो वह सेवक उसके पति के पास नहीं ले गया। अपनी पत्नी बनाने के लिए दूसरी ओर से ले गया। रात में उस कमललोचना को वह दूर ले गया। प्रातः एक नगर में पहुँचकर उस सती ने उससे कहा— “कहाँ है तेरा स्वामी और मेरा पति। मुझे उनके पास क्यों नहीं पहुँचाता है।” यह सुनकर उस विदेश में गयी अकेली से वह धूर्त बोला— “मैं तुझसे विवाह करूँगा। उससे क्या मतलब? अब वह कहाँ है?” —यह सुनकर वह समझदारी से बोली— “तू ही मेरा केवल प्रिय है। तू ही यहाँ तत्काल मुझसे विवाह क्यों नहीं कर लेता? तब उसे नगर के उद्यान में बिठाकर वह बुरी नियतवाला बाजार से विवाह सामग्री लेने गया। तब तक खच्चरी सहित भाग कर वह कन्या किसी वृद्ध माली के घर में चली गयी। वहाँ अपना हाल सुनाया तो उस वृद्ध ने उसका सत्कार किया। वह दुष्ट नौकर भी उसे न पाकर उद्यान से लौट गया। जाकर स्वामी कुसुमायुध को पूछने पर कह दिया— तुम बहुत सीधे हो। स्त्रियों की टेढ़ी चाल नहीं जानते। जब तक वह निकली नहीं तब तक लोगों ने मुझे देख लिया। वहाँ उन अन्य लोगों ने मुझे रोक लिया और खच्चरी और उसका हरण कर लिया।। 252-266।।

भाग्य से किसी प्रकार अब भागकर मैं यहाँ आ गया। यह सुनकर सोचता हुआ वह कुसुमायुध चुप रहा। एक बार विवाह के लिए पिता ने प्रेरित किया तो जाते हुए वह उस नगर में पहुँचा जहाँ कमललोचना ठहरी थी। वहाँ निकट के उद्यान में जनसमूह (बारात) ठहरा था। वहाँ अकेले घूमते हुए उसे उस कमललोचना ने देख लिया। तब जिसके घर में ठहरी थी उस माली को उसने बताया। उसने जाकर सारी बात बतायी और उसके उस पति को ले आया। तब सब सामग्री एकत्र कर बहुत समय से उन वर-वधू का इच्छित विवाह तत्काल सम्पन्न कर दिया। उसके बाद कमललोचना की अप्राप्ति का कारण जो पापी नौकर था। उसे कुसुमायुध ने पकड़ लिया।

उधर जिस द्वितीय कन्या से विवाह के लिए आया था। उन दोनों वधुओं के साथ प्रसन्न होकर वह अपने देश में आ गया। इस प्रकार जो भव्य होते हैं उनका समागम अचानक, बिना सोचे हो जाता है। इसलिए केसट तू भी इसी प्रकार शीघ्र ही अपनी प्रिया को पा लेगा।। 267–274।।

यज्ञस्वामी के यह कहने पर इसके घर वे कंदर्प, सुमना, केसट कितने ही दिन ठहरे रहे। फिर अपने देश के लिए प्रस्थित हुए तो एक महावन में पहुँच गये। जंगली हाथियों के आने की भगदड़ में हम सब एक-दूसरे से बिछुड़ गये। उनमें से वह केसट अकेला दुखी होकर जाता हुआ काशीपुरी पहुँचा तो वहाँ कंदर्प मिल गया। उसके साथ वह अपने पाटलिपुत्र नगर में पहुँचा। पिता ने वहाँ अभिनन्दन किया और थोड़े समय वह ठहरा। उसने माता-पिता को रूपवती से विवाह से लगाकर अपनी और कन्दर्प की बात बता दी।। 275–279।।

इस बीच हाथी से डरकर भागी वह सुमना वन में चली गयी। वहाँ उसे दिन अस्त हो गया। रात आने पर हा आर्यपुत्र! हा तात! हा अम्बा! आदि चिल्लाती दुखी होती वन की अग्नि में अपना शरीर डालने की उसने ठानी। तब तक कन्दर्प पर कृपा करने वाला वह योगिनीसमूह अन्य योगिनियों को जीतकर अपने मंदिर पर आ गया। वहाँ कन्दर्प का स्मरण करके अपने विज्ञान से सब जानकर कि उसकी पत्नी वन में भटक गयी है। उन्होंने विचार-विमर्श किया कि कन्दर्प धीरपुरुष है। वह इच्छित वस्तु स्वयं प्राप्त कर लेता है। पर उसकी पत्नी वन में भटक गयी है और वह बाला अवश्य ही प्राण त्याग देगी।। 280–284।।

इसलिए उसे ले जाकर रत्नपुर ले जाकर छोड़ दें जिससे वह वहाँ कन्दर्प के घर में सपत्नी के साथ रहती रहे। यह विचार कर उस वन में जाकर उसे ढाढस बँधाया और उन योगिनियों ने सुमना को रत्नपुर ले जाकर छोड़ दिया। रात बीतने पर उस सुमना ने नगर में घूमती हुई भागते हुए लोगों से यह कहते हुए सुना— कंदर्प ब्राह्मण की पत्नी यह अनंगवती पति के कहीं चले जाने पर कुछ समय उसकी प्राप्ति की इच्छा करती रही। अब उसे न पाकर बेचारी निराश आग में गिरने को निकल पड़ी है और दुखी सास-ससुर उसके पीछे-पीछे भाग रहे हैं। यह सुनते ही सुमना ने उस चिता के स्थान

पर जल्दी से जाकर अनंगवती के पास जाकर उसे रोका।।285–290।।
“हे आर्य! साहस मत कर। तेरा वह पति जिन्दा है।” —यह कहकर आरंभ से उसका पूरा विवरण उसने बता दिया और कंदर्प की दी गयी रत्न की अंगूठी बतायी। तब सबने उसकी बात को सच मानते हुए उसका आभिनंदन किया। तब संतुष्ट अनंगवती और सुमना वधू का स्वागत करके कन्दर्प का पिता संतुष्ट होकर घर ले गया। तब तक सुमना को पाने के लिए भ्रमण करता कन्दर्प पाटलिपुत्र से बिना इच्छा के केसट को बिना कहे चला गया। उसके जाने पर केसट भी रूपवती के बिना दुखी माता-पिता को बिना बताये इधर-उधर भ्रमण के लिए रवाना हो गया। कन्दर्प भी घूमता हुआ भाग्य से नगर में पहुँच गया जहाँ केसट ने रूपवती से विवाह किया।।291–296।।

लोगों का कोलाहल सुनकर “यह क्या है?” —ऐसा पूछने पर उस कन्दर्प को वहाँ एक आदमी ने यह कहा— “यह रूपवती अपने पति केसट के बिना मरने को उद्यत है, उसका ही कोलाहल है। अब उसका विवरण सुनो।” यह कहकर केसट का विवाह, राक्षस की बात का कौतूहल, रूपवती सम्बन्धी बात बताकर वह आदमी फिर बोला— तब उस केसट को टग कर वह वृद्ध ब्राह्मण उस रूपवती को अपने पुत्र के लिए लेकर चला गया। केसट भी उससे विवाह कर कहाँ चला गया, यह पता नहीं चला। रूपवती भी मार्ग में केसट को न देखकर बोली— “क्या आर्यपुत्र नहीं दिखाई दे रहे हैं? सबके चले जाने पर।” यह सुनकर उस पुत्र को दिखाता हुआ वह वृद्ध ब्राह्मण बोला— “यही वह मेरा पुत्र, तेरा पति है पुत्रि! देख इसे।” तब रूपवती वहाँ स्थित वृद्धों से क्रोध से बोली— “यह कौन कुरूप मेरा पति है। कल जिससे मेरा विवाह हुआ, उस पति को यदि नहीं पाऊँगी तो अवश्य ही मैं मर जाऊँगी।” ।। 297–304।।

यह कहती हुई उसने अन्न त्याग दिया। तब उस वृद्ध ब्राह्मण ने राजभय से उसे पिता के घर छोड़वा दिया। वहाँ उस ब्राह्मण के बहाने सोचते पिता ने उस बेटी से कहा— “यह कौन है! कैसे पहचान हो तुझसे विवाह करने वाले की पुत्रि!” तब रूपवती ने कहा— “पिताजी! पाटलिपुत्र से देसट नामक ब्राह्मण का पुत्र केसट नामक मेरा पति है। राक्षस के मुँह से मैंने यह सुना था।” यह कहकर उसने पति और राक्षस वाली पूरी बात उसे कह दी। तब

उसके पिता को जाकर मरा हुआ राक्षस देखकर विश्वास हो गया और सन्तुष्ट हो गया कि वे दोनों वास्तव में पति-पत्नी हैं। पति की प्राप्ति हेतु पुत्री को विश्वास दिलाकर उसने किसी को खोज में केसट के पिता के पास पाटलिपुत्र भेज दिया। वे वहाँ जाकर शीघ्र ही लौटकर इस प्रकार बोले। हमने पाटलिपुत्र में निवास करते स्वामी देसट को देखा है। तेरा केसट बेटा कहाँ है—यह पूछने पर उसने रोते हुए हमें यह कहा— बेटा केसट यहाँ कहाँ है! वह आया भी तो कन्दर्प नाम मित्र के साथ आया। इधर रूपवती के दुःख से हमें बिना बताये कहीं चला गया। उसकी यह बात क्रम से सुनकर हम यहाँ आ गये। खोजी लोगों के ऐसा कहने पर रूपवती ने पिता से कहा— यदि आर्यपुत्र नहीं मिलते तो आग में प्रवेश कर लूँगी। हे तात! पति के बिना मैं कब तक रहूँ? यह कहती हुई को जब रोक नहीं पाया तब वह रूपवती आज आग में मरने के लिए निकल पड़ी।। 305—316।।

उसकी सखियाँ दोनों कन्याएँ भी उसके समान मरने निकल पड़ी। एक शृंगारवती नाम की है और दूसरी का नाम है— अनुरागवती। उस विवाह में उन दोनों ने उस युवक केसट को देखा तो उसके रूप पर लट्टू होकर उसे पति के रूप में संकल्प कर लिया था। इस प्रकार यहाँ यह लोगों का कोलाहल है— इस प्रकार उस पुरुष ने कन्दर्प को कहा तो वह उन तीनों की चिता के पास पहुँचा। तब दूर से ही कलकल हटाकर जल्दी से पास जाकर अग्नि की पूजा करती उस रूपवती से इस प्रकार बोला— “आर्ये! तुम ऐसा साहस मत करो। वह केसट तेरा पति जीवित है। मैं उसका मित्र कन्दर्प हूँ।” यह कहने के बाद वृद्ध ब्राह्मण के छल से नाव पर बैठने से शुरू कर केसट की सब बातें उसने बता दीं।। 317—322।।

तब बात पर विश्वास हो जाने पर वह रूपवती प्रसन्न होकर अपनी दोनों सखियों के साथ पिता के घर चली गयी। तब उसके पिता ने कन्दर्प की भी बड़ी आवभगत की और उसके अनुरोध पर वहीं सुरक्षित ठहर गया। तब तक भाग्य से वह केसट भ्रमण करता हुआ रत्नपुर पहुँच गया। वहाँ कन्दर्प का घर और उसकी दोनों पत्नियाँ रहती थीं। अपने घर से कन्दर्प की पत्नी सुमना ने दूर से उसे भ्रमण करते केसट को देख लिया। बड़े हर्ष से ससुर आदि से कहा— आर्यपुत्र का वह यह मित्र केसट आ गया। इससे सब ज्ञात हो जाएगा, शीघ्र बुलाइए। तब जाकर उन्होंने सब बातें बताकर उस केसट

को ले आये। उस सुमना को देखकर वह प्रसन्न हुआ।। 323—328।। पलभर विश्राम करने बाद उस सुमना को पूछने पर जंगली हाथी की हड़बड़ी से आरम्भ कर कन्दर्प सम्बन्धी पूरा विवरण बता दिया। उसका बड़ा सत्कार किया गया। कुछ दिन ठहरा रहा तब तक कन्दर्प के पास से हाथ में लेख (पत्र) लेकर एक आदमी आया कि जहाँ रूपवती से तेरा मित्र केसट विवाहित हुआ। वहीं कन्दर्प ठहरा हुआ है। वहीं रूपवती भी है। उस आदमी ने यह कहा जो पत्र का सार था। कन्दर्प के माता-पिता के सामने केसट ने अपने विवाह का वर्णन किया। तब दूसरे दिन उत्सव मनाकर कन्दर्प को लाने के लिए उसके पिता ने दूत भेजा और प्रिया प्राप्त करने के लिए केसट को भी भेजा। तब पत्रवाहक के साथ केसट भी उस देश (स्थान) पर गया जहाँ अपने पिता के घर वह रूपवती ठहरी हुई थी। वहाँ वह चिरकाल बाद रूपवती से मिला जो उसी प्रकार उत्साह में थी जिस प्रकार संताप दूर करने वाले बादल से चातकी होती है।। 329—335।।

कन्दर्प से मिलकर रूपवती की उन दो सखियों का भी विवाह हो गया जिनकी चर्चा पहले हुई है और उसकी प्रेरणा रूपवती ने ही दी। अनुरागवती, शृंगारवती और रूपवती को लेकर कन्दर्प से विदा लेकर केसट अपने देश चला गया। कन्दर्प भी दूत सहित रत्नपुर जाकर सुमना और अंगवती से मिला। फिर बन्धुओं से मिला।। 336—338।।

तब केसट और कन्दर्प रूपवती और सुमना प्रियाओं को पाकर अपने-अपने देश चले गये और विभिन्न भोगों को भोगते रहे। इस प्रकार धीरवान् लोग अज्ञात विषम दुःखावधि को भी पार करके अपने प्रिय तथा प्रियाओं से वियोग होने पर भी फिर मिल जाते हैं। इसलिए मित्र शीघ्र उठ खोजने चलें। कदाचित् तुझे भी पत्नी मिल जाए। भाग्य की गति कौन जानता है! मैंने भी मरी हुई पत्नी को जीवित पा लिया। इस प्रकार कथा कहकर उसने प्रोत्साहन दिया और सखा के पीछे चल दिया। पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए उसे प्राप्त कर लिया और वराह सहित हाथी को देख लिया। गजेन्द्र द्वारा निगलने के बाद उगली हुई विवश उसी अपनी वधू को मैंने देखा। उस चिरकाल से देखे और लुप्त हुए हाथी को खोजते हुए बड़े पुण्यों से मैंने आज आपके यहाँ दर्शन करलिये।। 339—343।।

उस वणिकपुत्र के इस प्रकार कहने के बाद विक्रमादित्य राजा ने गजवध से प्राप्त उस भार्या को लाकर सौंप दिया। वे दोनों पति-पत्नी विचित्र प्रकार के मिलन से प्रसन्न होकर परस्पर विवरण कहते हुए श्रीविषमशील की स्तुति से मुखर मुख वाले तब हो गये।। 344-345।।

AA egkdf0 Jhl keno HkVV fojfr dFkkI fjRI kxj dsfo"ke'khy
yEcd eapKkh rjx I i wkAA

A i kpoh rjx AA

तब उस विक्रमादित्य राजा ने उसके साथ आये बनिये के बेटे के मित्र से इस प्रकार पूछा- मरी हुई पत्नी भी जीवित मिल गयी, यह जो तुमने कहा, वह कैसे यह हमें विस्तार से कहो भद्र! राजा ने जब यह कहा तो वह वणिक के बेटे का मित्र बोला- हे देव! यदि कौतुक है तो सुनो, कहता हूँ सब।। 1-3।।

ब्रह्मस्थल के अग्रहारों (ब्राह्मणों का गाँवों) में प्रथम का निवासी मैं ब्राह्मणपुत्र चन्द्रस्वामी हूँ। मेरे घर में सुरूपा (रूपवती) पत्नी है। एक बार पिता की आज्ञा से काम से गाँव गया तो मेरी पत्नी को भिक्षा के लिए आये एक कापालिक ने देख लिया। उसके देखते ही उसे बुखार आ गया और शाम को मर गयी। तब मेरे बन्धुगणों द्वारा ले जाकर आया और अपने लोगों ने रोते हुए जो घटित हुआ वह मेरे सामने प्रस्तुत किया जिसे मैंने सुना। जब मैं चिता के पास गया तो वह कापालिक आया। उसके कन्धे पर नाचता खट्वांग (खोपड़ी वाला सौंटा) और डमरु की ध्वनि हो रही थी। भस्म फेंककर चिता की आग उसने बुझा दी। तब चिता के मध्य से मेरी पत्नी सही सलामत उठ खड़ी हुई। वह कपाली उसे ले चला और वह भी सिद्धि से आकर्षित होकर उसके पीछे भाग रही थी। उस पीछे जाने वाली का मैंने हाथ में धनुषबाण लेकर तेजी से पीछा किया और उसने गंगा किनारे की गुफा में जाकर भूमि में वह खट्वांग रखकर उसमें विद्यमान दो लड़कियों से प्रसन्न होकर बोला- तुम दोनों को पाकर भी मैंने जिसके बिना नहीं भोगा वही यह हाथ लग गयी। प्रतिज्ञा सिद्ध हो गयी। यह कहते हुए जब तक वह

उन दोनों को मेरी पत्नी दिखाए तब तक उसके खट्वांग को मैंने गंगा में फेंक दिया। अरे कापालिक! तू मेरी पत्नी का अपहरण नहीं कर सकेगा—यह कहते हुए मैंने खट्वांग के बिना सिद्धिरहित उस साधक को फेंक दिया। खट्वांग न पाकर वह धूर्त भागने लगा। तब धनुष खींचकर जहर बुझे तीर से मैंने उसे मार डाला।।4-15।।

पहले से ये पतित पापसिद्धि से ही संतुष्ट होकर शिव के आगम (तंत्र) में लीन रहने वाले पाखण्डी इसी प्रकार और पतित हो जाते हैं। इसके बाद अपनी पत्नी को तथा उन दूसरी दो कन्याओं को लेकर मैं घर आ गया तो सब बन्धु लोग आश्चर्य करने लगे। तब अपना परिचय पूछे जाने पर वे दोनों कन्याएँ अपना वृत्तान्त बताने लगीं—हम दोनों वाराणसी के राजा और सार्थवाह (विदेश व्यापारी) की पुत्रियाँ हैं। इसी कपाली ने सिद्धि की तरकीब से हमारा हरण कर लिया। इम अदूषित हैं और आपकी कृपा से मुक्त हो (छूट) गयी हैं। जब यह कहा तो दूसरे दिन मैंने उन्हें वाराणसी ले जाकर वह पूरा विवरण बताते हुए उनके बन्धुओं को सौंप दीं।। 16-20।।

तब आते हुए इस पत्नी वियोगी वणिक्पुत्र को मैंने देखा। तब इससे मिलकर मैं यहाँ आया। कापालिक गुफा से प्राप्त उबटन लगा धोने पर भी मेरी देह से वह दिखता हुआ गंध भी दे रहा था। इस प्रकार मरकर उठी पत्नी को मैंने पाया—यह कहने वाले उस विप्र को वणिक्पुत्र सहित सत्कार करके राजा ने भेज दिया। तब गुणवती, चन्द्रवती, मदनसुन्दरी को साथ लेकर अपने सैनिकों से मिलकर वह राजा विक्रमादित्य उज्जयिनी नगरी में आया। उनमें से गुणवती और चन्द्रवती से विवाह कर लिया।।21-25।।

तब राजा ने विश्वकर्मा के देवागार में स्थित स्तम्भपुतली को याद करते हुए प्रतीहार को आदेश दिया कि जिसकी नकल स्तम्भपुतली के रूप में देखी उस कन्या को कलिंगसेन से प्राप्त करने के लिए दूत भेज दो। राजा ने जब यह आदेश दिया तब प्रतीहार ने उसके सामने ही सन्देश देकर सुविग्रह नामक दूत को भेज दिया। कलिंग राज्य में जाकर उचित अवसर देखकर वह दूत राजा कलिंगसेन से इस प्रकार बोला— हे राजन्! श्रीविक्रमादित्यदेव आदेश देते हैं कि समझ लो तुम कि धरती पर जो भी रत्न हो वह हमारे पास आता है और तेरे पास कन्यारत्न है, इसलिए हमें समर्पित कर दो और

हमारी कृपा से अपना राज्य निष्कण्टक उपभोग करो (शृंगारप्रकाश-8 में कुन्तलराज को भी ऐसा ही सन्देश विक्रमादित्य द्वारा भेजा गया है— “पिबतु मधुसुगन्धि.....” इत्यादि)।। 26-31।।

यह सुनकर क्रोधित होकर वह राजा बोला— हमें ऐसा आदेश देने वाला विक्रमादित्य कौन होता है? उपहार में कन्या चाहने वाला गर्व से अन्धा है वह उसका नीचे पतन होगा। कलिंगसेन से यह सुनकर वह दूत बोला— प्रभु का सेवक होकर भी अपनी हैसियत नहीं समझते हुए तेजी बता रहे हो। अरे मूर्ख क्या उसके प्रताप की अग्नि में शलभ (पतंगा) बनना चाहता है (भस्म होना चाहता है)? यह कहकर वहाँ से आकर उस दूत ने कलिंगसेन की कही बात राजा विक्रमादित्य को कह दी। तब यह विषमशील राजा क्रोधित होकर सेनासहित तथा भूतों के प्रमुख वेताल के साथ कलिंग के राजा की ओर चल पड़ा। सेना की ध्वनि की अनुगूँज में दिशाएँ मानो उस कलिंग के राजा को यह कह रही थीं कि— ‘कन्या शीघ्र दे’ और वह उस प्रदेश में पहुँच गया।।32-37।।

अपनी सेना के साथ युद्ध के लिए तैयार और मार्ग रोके खड़े उस राजा को देखकर उस राजा विक्रमादित्य ने मन में यह विचार किया। इसकी बेटी के बिना मुझे तो संतोष नहीं है। तो ससुर को कैसे मारूँ। अब क्या उपाय करूँ? वेताल के साथ यह विचार कर उस वेताल की सिद्धि से अदृश्य होकर उसने राजा कलिंगराज के सोने के बाद रात में महल में प्रवेश किया। “अरे विषमशील से झगड़ा करके सो रहे हो”—हँसते हुए ऐसा कहकर उसे वेताल ने जगाया। और तब कलिंगराज ने उठकर देखा और पहचाना कि यह तो बड़ा साहसी है और इस राजा के साथ तो क्रूर वेताल भी है। तब डरता हुआ पैरों पर पड़ता हुआ कलिंगराज बोला— “अब मैं आपके वश में हूँ। हे देव! आदेश दें। मैं क्या करूँ?” मुझे स्वामी मानकर आदेश मानना है तो तेरी बेटी कलिंगसेना है न, वह मुझे दे। उसे राजा ने उत्तर दिया— “ठीक है” और कलिंगराज ने वह मान लिया। तब वेताल के साथ समर्थ राजा भी अपने शिविर में आ गया।।38-45।।

दूसरे दिन वह कलिंगराज बोला— हे देवि! राजा विषमशील को तेरे पिता ने तुझे विधिपूर्वक वैभव सहित शत्रु—विजय की इच्छा से नहीं बल्कि गहन

अनुराग से, देह के मूल्य से तेरा विधिवत् विवाह किया है। इस प्रकार देवसेन के कार्पटिक के मुख से सुनकर मैंने अपमान से उत्पन्न क्रोध त्याग दिया।। 46-48।।

इस प्रकार स्तम्भ की पुतली देखकर उससे मेरा विवाह हुआ। और राजा ने चित्र देखकर इस मलयवती से विवाह किया। इस प्रकार विक्रमादित्य की उस कलिंगसेना प्रिया ने पति का प्रभाव बताकर अपनी सौतों को आनंदित किया। इस प्रकार वह विक्रमादित्य उन सब पत्नियों के साथ अपने साम्राज्य में दृढ़ रहा।। 49-51।।

उसके बाद एक बार कोई राजकुमार दक्षिणापथ से आया। नाम था कृष्णशक्ति। उसे उसके गोत्र (कुल) के लोगों ने पराजित कर दिया था। वह सिंहद्वार पर आकर राजा के कार्पटिक का काम करने लगा। पाँच सौ राजकुमार उसके साथ थे। राजा के मना करने पर भी उसने प्रतिज्ञा की थी कि राजा विक्रमादित्य की बारह वर्षों तक मैं सेवा करूँगा। इस निश्चय के साथ सिंहद्वार पर अनुयायियों सहित सेवा देते हुए राजकुमार को ग्यारह वर्ष हो गये। बारहवें वर्ष में उसकी परदेस में रहने वाली पत्नी ने चिरवियोग से व्यथित होकर लेखपत्रिका भेजी। रात में जब राजा छिपकर वीरचर्या (रात्रि भ्रमण) कर रहा था। तब उसने सुना। उसने दीपक के प्रकाश में उस लिखी आर्या को पढ़ा जो इस प्रकार थी— हे नाथ! आपके विरह में अत्यन्त सन्तप्त होकर फैल गयीं इस कठोर हृदय वाली की उसाँसें तो लगातार निकलती रहती हैं। परन्तु प्राण नहीं निकलते।। 52-58।।

कार्पटिक की पढ़ी हुई इस आर्या को बार-बार सुनकर वह राजा अपनी राजधानी में जाकर सोचने लगा कि इस कार्पटिक की पत्नी परेशान है, यह भी परेशान है। अभी इसका काम पूरा नहीं हुआ है। इसके बारह बरस पूरे होंगे तब तक तो वह प्राण त्याग देगी। इसलिए मुझे देर नहीं करनी चाहिए, यह सोचकर राजा ने उसी समय दासी को भेजकर कार्पटिक को बुलवाया। उसी समय शासकीय आदेश लिखवाकर उसे यह आदेश दिया— ओंकारपीठ (ओंकारेश्वर) के मार्ग से हे भद्र! उत्तर दिशा में जा (ओंकारेश्वर से दक्षिण में है यह सब)। वहाँ इस आदेश से मेरे दिये इस गाँव (की जागीर) का उपभोग कर। नाम है उसका खण्डवटक (खण्डवा)। पूछते हुए जाने से तुम्हें

मिल जाएगा। यह कहकर राजा ने उसे शासनादेश का पत्र दे दिया। वह कार्पटिक भी सेवकों को बिना बताये रात में ही चला गया। लज्जा देने वाले एव गाँव के लिए जाने की मेरी क्या इच्छा हो सकती है? तो भी स्वामी की आज्ञा का पालन करना चाहिए इसलिए जाते हुए भी सन्तोष नहीं था। ओंकारपीठ से दूर जाकर वन में खेलती अनेक कन्याएँ देखीं तो उसने उनसे पूछा— अरे तुम्हें मालूम है कि खण्डवटक कहाँ है? यह सुनकर वे बोलीं— “वह हम नहीं जानतीं। दस योजन आगे हमारे पिता हैं— सौम्य। उन्हें पूछो। शायद वे जानते हों।” कन्याओं के यह कहने पर उस कार्पटी ने जाकर देखा कि उनका पिता भयंकर आकृति का राक्षस था।। 59-69।।

उसने उससे पूछा— “जरा बताइये यहाँ खण्डवटक कहाँ है?” वह राक्षस भी उसके धीरज से आकर्षित होकर उससे बोला— वहाँ तेरा क्या है? वह नगर तो बहुत समय से सूना (बेचिराग) है। फिर भी जाना हो तो सुनो कि यह तेरे सामने का मार्ग दो भागों में जाता है। उसमें से बायें मार्ग से जाएगा तो खण्डवटक के ऊँचे परकोटे तक ले जाने वाली पोल (मुख्यद्वार) मिलेगी। राक्षस ने यह कहा तो उसने वह प्रतौली पाकर उसमें प्रवेश किया। वह नगर सूना भयकारी, दिव्य और मनोहारी था।। 70-73।।

सात कक्षाओं से घिरे वहाँ के राजमहल में प्रवेश कर वह मणिकांचन से बने महल के ऊपर चढ़ा। उस पर रत्न का आसन देखकर उस पर वह बैठ गया। तभी हाथ में बेंत (लाठी) लेकर आये राक्षस ने कहा—“ अरे मनुष्य इस राजसिंहासन पर तू क्यों बैठा?” यह सुनकर वह धीर कार्पटिक कृष्णशक्ति बोला— मैं यहाँ का स्वामी हूँ। तुम सब कुटुम्बी लोग कर (लगान) देने वाले हो। विक्रमादित्य देव के शासनादेश में (तुम सब) मुझे मिले हो। यह सुनकर शासनादेश देखकर राक्षस ने उसे प्रणाम कर कहा— तुम यहाँ के राजा हो और मैं आपका प्रतीहार हूँ। विक्रमादित्यदेव की आज्ञा सर्वत्र अखंडित है। यह कहकर उस राक्षस ने सब अधिकारियों और प्रजा को बुला लिया। वहाँ मन्त्रिगण, राजसेवकादि आ गये और वह नगर चारों (हाथी, घोड़ा, पैदल, रथ) इस प्रकार की सेना से भर गया। सब उसे प्रणाम करने लगे। कार्पटिक प्रसन्न हुआ और वहाँ उसने राजगरिमा के साथ स्नान आदि किया। तब राजा होकर उसने चकित होकर सोचा— विक्रमादित्य राजा का यह कितना प्रभाव है। उस स्वामी की गम्भीरता की गरिमा अनोखी है कि

गाँव देता हूँ यह कहते हुए ऐसा दे देता है। इस प्रकार चकित होता हुआ वह राज्य करता हुआ (हमें लगा) उसके साथियों का उज्जैन में विक्रमादित्य ने पालन-पोषण किया। कई दिनों बाद विक्रमादित्य को प्रणाम करने के लिए वह उत्सुक कार्पटिक राजा आया जिसकी सेना से धरती काँप रही थी। 74-85।।

आकर पैरों पड़ा तो विक्रमादित्य ने कहा-पत्नी ने जो पत्र भेजा था। उसकी उसाँसों को जाकर रोक। यह कहकर उस राजा ने उस अद्भुत कृष्णशक्ति को साथियों सहित अपने देश भेज दिया। कुटुम्बियों को भगाकर बहुत समय से मिलने को उत्सुक पत्नी का अभिनंदन करके आकांक्षा से अधिक उसने परम राज्यलक्ष्मी को प्राप्त कर लिया था। ऐसा है वह अद्भुत चरित्रवाला राजा विक्रमादित्य। एक बार एक ब्राह्मण को देखा जिसके बाल ऊपर उठे थे। उससे पूछा- हे ब्राह्मण! तुम ऐसे क्यों हो? तब उस ब्राह्मण ने उसे अपना वृत्तान्त इस प्रकार बताया।। 86-90।।

हे देव! पाटलिपुत्र में अग्निस्वामी नामक ब्राह्मण था। उस महाग्निहोत्री का देवस्वामी नामक मैं पुत्र हूँ। दूर देश की विप्रकन्या से मेरा विवाह हुआ। बालिका होने से उसे उसके पिता के घर ही रहने दिया। समय बीतने पर उसके जवान होने पर घोड़े पर बैठकर एक सेवक साथ में लेकर उसे लाने के लिए ससुर के घर गया। ससुर ने मेरा सत्कार किया। एक सेविका को साथ लेकर घोड़े पर पत्नी को बिठाकर मैं रवाना हुआ। बीच मार्ग में घोड़ी से उतरकर वह मेरी पत्नी पानी पीने के बहाने नदी के किनारे गयी। बहुत देर तक नहीं आयी तो उसे देखने के लिए साथ के सेवक को वहाँ भेजा। जब वह भी नहीं आया तो मैं स्वयं गया। और उस सेविका को घोड़ी की रक्षा के लिए छोड़ गया। जाकर देखता हूँ कि मेरी पत्नी मेरे उस सेवक को खा गयी। उसकी हड्डियाँ बची थीं। उसका मुख रक्त से भरा था। परेशान होकर मैं घोड़ी के पास जाता हूँ तब तक वह सेविका भी उस मेरी घोड़ी को खा गयी। वहाँ से भागकर मैं चला गया। उस त्रास से अब तक मेरे रोम और केश नीचे नहीं लौटे। हे देव! मेरी यह गति है। तब यह कहते ब्राह्मण का विक्रमादित्य ने आज्ञा देकर त्रास दूर किया। अरे धिक्कार है इन साहसी नारियों का विश्वास नहीं। राजा ने जब ऐसा कहा तो एक अमात्य ने यह कहा।। 91-102।।

हे देव! बदजात स्त्रियाँ ऐसी ही होती हैं। आपने अग्निशर्मा ब्राह्मण की बात नहीं सुनी। यहीं सोमशर्मा का पुत्र अग्निशर्मा ब्राह्मण है। माता-पिता का प्राणसमान, मूर्ख समस्त विद्याओं में अशिक्षित। वर्धमानपुर के ब्राह्मण की बेटी से उसका विवाह किया। पिता धनी था। बच्ची है-यह सोचकर उसने नहीं भेजी। उसके जवान होने पर अग्निशर्मा को माता-पिता ने कहा-पुत्र अपनी पत्नी को क्या अब भी नहीं लाओगे? यह सुनकर माता-पिता को बिना पूछे ही वह मूर्ख अग्निशर्मा अकेला पत्नी की ओर चल पड़ा।। 103-107।।

उसके निकलते ही दाहिने टिटहरी या पपीहा मिला और गाय रंभाने लगी, सियारनी बायें चिल्लाने लगी। वह मूर्ख भी "जीव जीव" बोलता हुआ इनका अभिनंदन करने लगा। इसकी बात सुनकर अदृश्य शकुन देवता हँसने लगी। ससुर के स्थान पर पहुँचा और प्रवेश करते समय बायें पपीहा, बायीं सियारनी अशुभ बोली। फिर उसने "जीव जीव" कहते हुए उसका स्वागत किया। तब उस शकुन की प्रमुख देवी ने सोचा - अरे यह तो मूर्ख है कि अशुभ को शुभ मानकर अभिनंदन कर रहा है। तो ऐसा करना चाहिए कि इसके जीवित रहने तक इसके जीव की मुझे रक्षा करनी चाहिए। वह शकुन देवता यह विचार कर ही रही थी कि प्रसन्नतापूर्वक ससुर के घर में अग्निशर्मा ने प्रवेश किया। ससुर आदि ने पूछा- क्या अकेले ही आये हो? तो उसने कहा- घर में किसी को भी बताकर नहीं आया। तब उचित स्नान-भोजन कर रात होने पर सोने के कमरे में उसकी पत्नी सजसँवर उसके पास आयी। मार्ग के श्रम के कारण वह सो गया तो वह बाहर निकलकर सूली पर चढ़े अपने चोर उपपति के पास पहुँची। उसकी देह का आलिंगन किया तो उसमें प्रवेश किये भूत ने दाँतों से उसकी को नाक काट लिया। तब डर से वह भागी और सोये पति के पास म्यान में से निकली छुरी (लम्बा चाकू) रख दी और ऐसे रोने चिल्लाने लगी कि घर के भाई-बन्धु सुन सकें- "हाय हाय मर गयी, मर गयी मैं। इस पति ने बिना कारण कुछ उठा कर मेरी नाक काट डाली।" यह सुनकर उस लड़की के अपने परिवार के लोगों ने आकर उसे कटी नाक की देखा तो उस अग्निशर्मा की लकड़ी आदि से पिटाई कर दी। प्रातःकाल राजा को बताया तो पत्नी का शत्रु मानकर उस निर्दोष के वध का वधिकों को आदेश दे दिया गया। जब वह वधभूमि पर ले जाया गया तो रात में उसकी पत्नी के रात का विवरण देखने

वाली उस शकुन देवता ने सोचा— “अपशकुन का फल इसे मिल गया। पर इसने ‘जीव जीव’ कहा। (मालवा ग्रामों में सियारनी आदि के बोलने या छोटे शिशुओं के छींकने पर “जीवो” आज भी बड़ी-बूढ़ियाँ बोलती हैं।) इसलिए इसकी वध से रक्षा करती हूँ।” यह सोचकर आकाश से उस अदृश्य देवी ने कहा— हे वधिको! यह ब्राह्मणपुत्र निर्दोष है। इसे मत मारो। शूली पर चढ़े चौर के दाँत में लगी नाक को जाकर देखो। यह कहकर उस वधू की रात की सब हरकतें उसने उसे बता दीं।। 108-125।।

तब चोर के दाँत में लगी नाक को देखकर उस पर विश्वास कर प्रतिहार के द्वारा राजा को सूचित किया गया। तब उस अग्निशर्मा को वध से छोड़कर घर भेज दिया। और उस कुनारी वधू को पकड़कर दण्डित किया। ऐसी होती हैं स्त्रियाँ। यह जब मन्त्री ने कहा तो “बिल्कुल सही है” कहकर राजा विक्रमादित्य ने उसका अनुमोदन किया।। 109-128।।

तब राजा के पास स्थित धूर्त मूलदेव बोला—हे देव! कितनी ही बुरी नारियों में क्या कोई अच्छी नारी नहीं होती? कितनी ही विषलताओं में क्या कोई आम्रलता नहीं होती। जैसा कि मैंने स्वयं जो अनुभव किया वह सुनिये।। 129-130।।

पहले मैं शशि के साथ पाटलिपुत्र गया। यह मानकर कि यह नागरिक (सज्जनों) का क्षेत्र है तो उसकी बुद्धिमत्ता देखने की इच्छा थी। वहाँ बाहर तालाब पर कपड़े धोती एक स्त्री को देखकर मैंने पूछा— यहाँ पथिकों के ठहरने का स्थान कौन-सा है? उस बूढ़ी औरत ने मुझे वक्रोक्ति में उत्तर दिया। यहाँ किनारे पर चक्र हैं, पानी में मछलियाँ हैं और कमलों में भँवरे हैं। इसलिए हे पथिक! यहाँ मुझे कोई आवास दिखाई नहीं देता। तब चकित होकर शशि के साथ नगर में प्रवेश किया। वहाँ एक गरम पात्र में सामने रखी खीर के सामने रोते बालक को दरवाजे में बैठा देखकर शशि बोला। अरे यह बालक तो मूरख है कि सामने रखी खीर नहीं खाता और रो-रोकर स्वयं बेकार परेशान हो रहा है।। 131-136।।

यह सुनकर आँखें पोंछकर हँसता हुआ वह बालक बोला— मूरख तुम हो जो मेरे रोने के गुण नहीं समझते। खीर धीरे-धीरे स्वाद देती है और टंडी होती जाती है। उससे भी अधिक यह होता है कि ठण्डी होने से श्लेष्मा(कफ) नष्ट

foØekfnR; dFkk,;@151

होता है। ये गुण हैं मेरे रोने में। मैं मूर्खता से नहीं रो रहा। तुम गाँव वाले मूरख हो कि इसका मतलब नहीं समझते। बालक के ऐसा कहने पर अपनी समझदारी पर लज्जित होते हुए शशि और मैं आश्चर्य के साथ भागकर अन्यत्र गये। वहाँ भी आम के पेड़ के तने पर आम बीनने वाली श्रेष्ठ कन्या को देखा जिसने अपनी ओढ़नी जड़ पर रखी थी। हमने कहा— “अरी शुभे! कुछ आम के फल हमें भी दे।” तो उस कन्या ने कहा— “आम के फल गरम खाने हैं या ठंडे?” यह सुनकर अचरज से जानने की इच्छा से मैंने उस कन्या से कहा— “गरम खा लें फिर दूसरे भी खा लेते हैं सुन्दरी।” यह सुनकर उसने भूमि पर धूल में आम के फल फेंक दिये। मुख से फूँक-फूँककर धूल उड़ाकर वे फल हमने खाये। तब परिवारसहित वह लड़की हँसती हुई बोली। “पहले ये गरम आम के फल आपको दिये कि देने पर उनको फूँक फूँक कर खाते रहें। अब ये ठण्डे फल कपड़े में झेलो। इन्हें फूँकना नहीं पड़ेगा।” यह कहकर उसने अन्य फल हमारे आँचल में फेंक दिये।। 137-147।।

वे आम लेकर वहाँ से हम चकित होते हुए आगे बढ़े। तब अन्य साथियों और शशि को मैंने कहा— “इस चतुर लड़की का विवाह मुझसे ही होना चाहिए। मजाक का बदला लेने की धूर्तता अन्य क्या हो सकती है?” इस प्रकार मेरे कहने पर मेरे साथियों ने उस कन्या के पिता का घर खोज लिया। हम वेष बदलकर दूसरे दिन छिपकर गये। वहाँ वेद पढ़ते उस यज्ञस्वामी ब्राह्मण ने जो उस कन्या का पिता था ने आकर पूछा— “कहाँ से आये तुम लोग?” हमने कहा— “हम मायापुरी से विद्या के लिए यहाँ आये हैं।” यह कहा तो वह धनी ब्राह्मणों में उत्तम बोला— “तो यहीं चार मास तक मेरे घर में रहो। दूर देश से आये हो इसलिए कृपा करो।” ।। 148-153।।

यह सुनकर हमने कहा— “हे ब्राह्मण! आपकी बात मानेंगे यदि चार माह पूरे होने पर आप जो हम माँगें वह देंगे।” हमारे ऐसा कहने पर वह ब्राह्मण यज्ञस्वामी बोला— “मैं जो दे सकता हूँ वह निश्चित दे दूँगा।” उसके ऐसा वचन देने पर उसके घर रहने लगे। कहे अनुसार चार माह पूरे होने पर हमने कहा— “हम जाते हैं। आपने जो पहले कहा था वह दीजिए यह हमारी प्रार्थना है।” उसके “क्या” कहने पर शशि ने मेरी ओर इशारा करते हुए कहा— “हमारे इस मुखिया को अपनी बेटी दीजिए।” तब बात से बँधे उस यज्ञस्वामी ने सोचा— तो इसने मेरे साथ यह छल किया। पर बुराई क्या है?

152@foØekfnR; dFkk,;

गुणी है यह; यह सोचकर उस ब्राह्मण ने विधिवत् अपनी बेटी दे दी।।
154-159।।

रात में शयनागार में मैंने हँसते हुए उस वधू से कहा— “याद हैं वे ठण्डे और गरम आम?” यह सुनकर पहचानते हुए उसने मुस्कुराते हुए मुझे कहा— “गाँव के लोगों को नगर के लोग इसी प्रकार छलते हैं।” तब मैंने भी उसे कहा— “नागरिकता में सुखी रह। मैं ग्रामीण तुझे छोड़कर दूर जाता हूँ यह प्रतिज्ञा है।” यह सुनकर उसने भी प्रतिज्ञा की कि मैं भी निश्चित पकड़कर तुझे तुझसे उत्पन्न पुत्र द्वारा मँगवा लूँगी।।160-163।।

इस प्रकार परस्पर प्रतिज्ञा करके वह दूसरी ओर मुख करके सो गयी। उसके सोने पर मैंने अपनी अंगूठी उसकी अंगुली में डाल दी। उन सब साथियों से मिलकर मैं तब निकलकर उसकी चतुराई देखने की इच्छा से हम उज्जयिनी आ गये। उस विप्रपुत्री ने भी प्रातः जागकर मुझे न पाकर अंगुली में मेरे नाम की अंगूठी देखती हुई सोचने लगी।। “तो वह मुझे छोड़कर चला गया। उसने अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया। मुझे भी दुःख न करते हुए अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना चाहिए। इस अंगूठी पर मूलदेव नाम दिखाई देता है। तो निश्चय ही यह वही विख्यात धूर्त मूलदेव है। लोग लगातार कहते हैं कि वह उज्जयिनी में रहता है। तो वहाँ जाकर तरकीब से अपना काम साधना चाहिए।” यह तय करके वह पिता से बनावटी झूठ बोली— “पिताजी पति मुझे छोड़कर अचानक चला गया। उससे बिछुड़कर यहाँ मैं सुखी कैसे रह सकती हूँ। सो मैं इस मरे शरीर को कष्ट देती हुई तीर्थयात्रा पर जाती हूँ।”—यह कहकर उनकी इच्छा न होने पर भी बड़े प्रयास से पिता की स्वीकृति लेकर धन और सेवक लेकर चली गयी।।
164-172।।

धीरे-धीरे उज्जयिनी जाकर लोक की एक मात्र सुन्दरी का गणिका जैसा बहुमूल्य वेषधारण कर लिया। उस ब्राह्मण पुत्री ने अपना नाम सुमंगला रख लिया। और अपने साथियों को समझा दिया कि उन्हें क्या करना है? सेवकों ने उसके बारे में घोषणा कर दी कि यह सुमंगला नाम की गणिका कामरूप से आयी है। उसका वही उपभोग कर सकता है जो अधिकाधिक धन त्याग (कर दे) सके।। 173-175।।

वहाँ की उत्तम गणिका नाम था देवदत्ता, उसने आकर उसे अपना राजभवन जैसा विशाल भवन अलग से दे दिया। वहाँ रहकर सर्वप्रथम मेरे मित्र उसकी प्रसिद्धि से आकर्षित हुए मेरे मित्र शशि ने सेवक द्वारा कहलाया कि मेरा भाड़ा स्वीकार करो।।176-177।।

तब उस सुमंगला ने उसके ही द्वारा कहलाया कि जो हमारी बात माने उस कामुक को ही यहाँ प्रवेश मिलेगा। न हमें भाड़े से मतलब है और न अन्य पशुतुल्य लोगों से। “ठीक है”—यह कहकर संध्या समय शशि उसके घर गया। सर्वप्रथम वह द्वार पर पहुँचा और अपने आने की सूचना दी। द्वारपाल ने कहा— “हमारी स्वामिनी ने कहा वैसा करो। स्नान किया हो तो भी फिर स्नान करो, अन्यथा तुम्हें प्रवेश नहीं मिलना है।” यह सुनकर “ठीक है” कहते हुए स्नान स्वीकार कर लिया। तब उसका दासियों ने उबटन, सुगंधित लेप आदि किया। शान्ति से स्नान करवाया, तब तक पहला प्रहर बीत गया। स्नान के बाद दूसरे द्वार पर पहुँचा। तब द्वाररक्षक प्रहरी ने कहा— “तुमने स्नान कर लिया तो अब प्रसाधन या साजसज्जा कर लो।” उसके “ठीक है” कहने पर दासियों ने विभिन्न आहार में बहुत देर लगा दी। तब तक तीसरा प्रहर बीत गया। उसके बाद निवास घर के चौथे द्वार पर किसी तरह पहुँचा तो वहीं द्वारपाल ने उसे बुरा-भला कहकर झिड़क दिया— “अरे ग्रामीण कामुक निकल यहाँ से! दुष्टता करेगा? गणिका से नवमिलन क्या अंतिम प्रहर में होता है? काल जैसे उस द्वारपाल ने इस प्रकार तिरस्कार किया तो शशि का नूर उतर गया। और जैसा आया वैसा चला गया।। 178-189।।

इस प्रकार सुमंगला नाम रखकर गणिका रूप में उस ब्राह्मणकन्या ने अन्य भी अनेक कामी लोगों को छला। यह सुनकर कौतुक से दूत की आवाजाही करवाकर मैं बिल्कुल बनठन कर रात में उसके घर गया। वहाँ मैं द्वारपालों को मनोरंजन के लिए दान (धन) देते हुए उसके निवास के द्वार पर तत्काल पहुँच गया। समय होते ही द्वारपालों ने मुझे छोड़ा तो प्रवेश करके उस वेश्या के वेश में बिन पहिचानी अपनी प्रिया को मैंने देखा। पर पहचानकर उठकर स्वागत उस धूर्ता ने वेश्या के समान ही किया। और पलंग पर बिठाकर मेरा सत्कार किया। तब उस लोक(विश्व)सुन्दरी के साथ रात बिताई। उसके प्रेम से ऐसा बँधा कि उसके घर से मैं निकल नहीं सका। वह भी प्रेम से ऐसे

बँधी कि मेरे पास से हटी तक नहीं। कुछ दिन बीतने पर वह गर्भवती हो गयी। उसके पयोधर के अग्रभाग काले हो गये।। 190-196।।

तब उस चालाक स्त्री ने कूट लेख या जाली पत्र मुझे दिया, यह कहते हुए कि स्वामी राजा ने मेरे पास यह पत्र भेजा है, पढ़ लीजिए। तब मैंने खोलकर उस पत्र को इस प्रकार पढ़ा—“श्रीकामरूप से श्रीमान् राजा मानसिंह सुमंगला को आदेश देते हैं कि यहाँ इतने अधिक समय तक क्यों ठहर गयी? परदेस की उत्सुकता छोड़कर जल्दी आओ।” ।।197-199।।

इस प्रकार जब मैंने पत्र पढ़ लिया तो वह दुःखी-सी मुझसे बोली—“मैं जाती हूँ। मुझ पर क्रोध मत करना। मैं पराधीन हूँ।” यह बहाना करके वह पाटलिपुत्र चली गयी। “वह तो पराधीन है” —यह मानकर उस पर अनुरक्त होने पर भी मैं पीछे-पीछे नहीं गया। और उसने पाटलिपुत्र में रहते हुए समय आने पर पुत्र को जन्म दिया। उस शिशु ने बढ़ते हुए समस्त कलाएँ सीख लीं। जब उसकी आयु बारह बरस की हुई तो बाल चपलता (चंचलता) के कारण अपने हमजोली दासेरक (दासी के पुत्र) को लत्ता (लात) से कदाचित् पीट दिया। मारने पर रोते हुए उस दासीपुत्र ने क्रोध में कहा— “तू मुझे मारता है। अरे तेरे तो पिता का भी पता नहीं, लावारिस है। तेरी माँ तो यहाँ-वहाँ परदेस में भटकती रही और तू पैदा हो गया।” यह कहा तो लज्जित होकर उलझन में पड़कर जाकर माता से उसने पूछा— “माँ मेरे पिता कौन है? वह कहाँ है? बताइए।” तब ब्राह्मण की पुत्री उस माता ने पलभर उसे देखकर कहा— “तेरे पिता का नाम मूलदेव है। मुझे छोड़कर उज्जयिनी चला गये हैं।” यह कहकर उसने आरम्भ से अपना पूरा विवरण बता दिया। तब उस बालक ने कहा— “तो माताजी जाकर उन पिताजी को बाँधकर लाता हूँ और आपकी प्रतिज्ञा पूरी करता हूँ।” ।। 200-208।।

माता को यह कहकर वह बालक रवाना हो गया। उस (माता) ने मेरा परिचय बता दिया था। वह बालक यहाँ उज्जयिनी में आ पहुँचा। वहाँ मुझे पासों से खेलते हुए देखकर उसने बिल्कुल पहचान लिया। तब उस द्यूतशाला में आकर जुए में उसने सबको जीत लिया। सब चकित थे कि बालक होकर भी बड़ा धूर्त है यह तो। जुए में जीता हुआ धन वह माँगने वालों को दे देता था। अपनी तरकीब लगाकर रात में सोये हुए मुझे हल्के

(धीमे)—से कपास के ढेर पर रखकर सोने की खाट ले उड़ा। तब जागने पर मैंने स्वयं को बिना खाट के रुई के ढेर पर देखा तो अचानक मुझे लज्जासहित हँसी और विस्मय हुआ। हे देव! तब मैं बाजार में चुपचाप घूमने लगा तो देखा कि वही बालक उस खाट को बेच रहा है। पास में जाकर मैंने उससे पूछा— “यह खाट कितने दाम में देगा तू।” तो वह बालक मुझसे बोला— “हे धूर्त सरदार! यह खाट कीमत में नहीं मिलती। अपूर्व और अद्भुत वृत्तान्त से मिलती है।” यह सुनकर मैंने कहा— “तो तुझे अद्भुत बात बताता हूँ यदि अनुमति देते हो तो। यदि सचमुच सच समझोगे इसे, मुझ पर विश्वास न करके झूठ कहोगे तो तुम हरामी होगे और मैं यह खाट ले लूँगा।” ।।209-218।।

इस वचन के साथ तुझे विचित्र बात बताता हूँ सुन! पहले किसी राजा के देश में अकाल पड़ा वह नागों के वाहनों की फुहारों के जल सुअरनी की पीठ पर राजा ने स्वयं खेती की। वहाँ से उत्पन्न अनाज से वह राजा समृद्ध हो गया। प्रजा का अकाल शान्त किया और जनता ने पूजा की उसकी। मेरे ऐसा कहने पर हँसता हुआ वह बालक बोला—“नागों के वाहन मेघ हैं। सूअर की प्रेमिका पृथ्वी है। सुअर रूप में विष्णु हैं। उनकी प्रियतमा पृथ्वी है। उस पर बादलों के पानी से अनाज पैदा हुआ। इसमें अचरज क्या है?” ।।219-223।।

यह कहने पर मैं चकित रह गया तो वह धूर्त बालक फिर बोला— “अब मैं तुम्हें कहता हूँ कोई अपूर्व बात यहाँ। यदि जानकर उसे तत्त्वतः सत्य समझकर विश्वास करोगे तो तुम्हें यह खाट दे देता हूँ। अन्यथा तुम मेरे दास हो जाना।” मैंने कहा— “ठीक है।” तो वह बालधूर्त यह बोला— “हे धूर्तपति! पहले कभी कोई बालक उत्पन्न हुआ। उसने उत्पन्न होते ही उसके पैर के भार से पृथ्वी को कँपा दिया और उत्पन्न होते ही बूढ़ा होकर परलोक में पैर कर दिया।” बालक के यह कहने पर मैं कुछ न समझकर बोला— “यह झूठ है। इसमें कुछ भी सच नहीं है।” तब वह बालक मुझसे बोला— “हरि के उत्पन्न होते ही क्या वामनावतार में चरण से छूने से धरती नहीं काँप उठी? उसी समय बढ़कर उन्होंने अपना पैर स्वर्ग में नहीं कर दिया?” तो मैं तुमसे जीत गया और तुम दास हो गये।। 224-230।।

“यहाँ बाजार के ये सब लोग हम दोनों की बाजी के साक्षी हैं। अतः अब मैं जहाँ जाऊँ, मेरे साथ आओ।” —यह कहकर उस धीर बालक ने हाथ से मेरी भुजा पकड़ ली और वहाँ जितने लोग थे उन सबने उसकी गवाही दी। तब दाव से बँधे मुझे बाँधकर वह मेरे पीछे हो गया और पाटलिपुत्र नगर में अपनी माता के पास ले गया। और उसकी माता ने तब उसे देखकर मुझे कहा— “आर्यपुत्र! मैंने भी आज अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली। तुम्हारे पुत्र द्वारा बाँधकर तुम लाये गये हो।” यह कहकर उस साध्वी ने सबके सामने पूरा वृत्तान्त बता दिया। तब सभी बन्धुओं ने अपनी बुद्धि से अपनी लक्ष्य पाने वाली, पुत्र से सम्बन्धी अपवाद को धोने वाली का उत्सवसहित अभिनन्दन किया और मैं कृतार्थ हो गया। उस पत्नी और उस पुत्र के साथ बहुत दिन तक वहाँ रहकर मैं इस उज्जयिनी में आ गया।। 231—237।।

हे देव! ऐसी होती हैं पतिभक्त कुलांगना। सब स्त्रियाँ पापिनी बिल्कुल नहीं होतीं। मूलदेव के मुख से यह कथा सुनकर मंत्रियों सहित राजा विक्रमादित्य संतुष्ट हो गया। ऐसे आश्चर्य सुनते हुए, देखते हुए और करते हुए वह राजा विक्रमादित्य द्वीपों सहित पृथ्वी को जीतकर उपभोग करता रहा।। 238—240।।

AA egkdfo Jhl kenō HkVV fojfr dFkl fjRI kxj dsfo"ke'khy
yEcd ea i k poh rjx eafōekfnR; dFkk I ā wkAA

foØekfnR; dFkk, j@157

cgrdFkke ˆtjh
AA fo"ke'khy uke n'kexyEcdAA
AA i FkexxPNAA

गौर्या द्यूतजिता नीता कर्णे केतकिपत्रताम्।
शांभवी वः शशिकला भूयादानन्दसंपदे।।1।।
ततः श्रिया वियोगाग्निसंतापिततनुर्वने।
भ्राम्यन्कण्वमुनेः प्रायादाश्रमं नरवाहनः।।2।।
मनःप्रसादजनने प्रशान्ताशेषविप्लवे।
विवेक इव संतोषफले तस्मिंस्तपोवने।।3।।
प्रणम्य तेजसां राशिं सहस्त्रांशुमिवापरम्।
कण्वं दिव्यदृशा तेन तस्य चोपासितः क्षणम्।।4।।
तं मुनीन्द्रस्ततः प्राह द्रुहिणस्पर्धया पुनः।
कुर्वन्विमानं हंसालीमिव दन्तांशुसंचयैः।।5।।
राजसूनो श्रय धृतिं वल्लभां तामवाप्स्यसि।
संयोगान्ता भवन्त्येव वियोगाः पुण्यकर्मणाम्।।6।।
विधातुरानुकूल्येन प्राप्यन्ते हारिता अपि।
वने धनसुहृद्बन्धुदयिताराजसंपदः।।7।।
पुरा कैलासशिखरासीनः शीतांशुशेखरः।
समभ्येत्य जितैर्देवैः शतक्रतुपुरोगमैः।।8।।
पुरारिनिहितैर्देवदृप्तैर्दितिजदस्युभिः।
अवतीर्णैर्महाम्लेच्छैः स्वस्था देवास्तृणीकृताः।।9।।
प्रमाणमत्र भगवानिति देवगिरा हरः।
भूभारशान्त्यै प्रथमं माल्यवन्तं समादिशत्।।10।।

158@foØekfnR; dFkk, j

सोऽथ त्रिनयनादिष्टः पार्वतीवचसा क्षितौ ।
 उज्जयिन्या नरपतेः श्रीमतः प्राप पुत्रताम् ॥ 11 ॥
 राज्ञो महेन्द्रादित्यस्य स्वप्ने शर्वणे सूचितः ।
 सोऽभवद्विक्रमादित्यस्तनयो यशसां निधिः ॥ 12 ॥
 नाम्ना विषमशीलोऽसौ द्वितीयेनापि विश्रुतः ।
 सर्वशास्त्रास्त्रविद्यानां लेभे भाजनतां विभुः ॥ 13 ॥
 तस्मै महीपतिर्दत्त्वा श्रियं भूपतिविश्रुताम् ।
 ययौ वाराणसीं धीमान्कृतकृत्यः स्त्रिया सह ॥ 14 ॥
 राजा विषमशीलोऽथ जनके प्रशमं श्रिते ।
 शशास वसुधां धन्वी म्लेच्छोच्छादनदीक्षितः ॥ 15 ॥
 कुलक्रमागतस्तस्य बभूवा विपुलाशयः ।
 रुद्रायुधः प्रतीहारः सचिवश्च महामतिः ॥ 16 ॥
 स कदाचिद्गजघटामौलिलालितशासनः ।
 समानीतः समभ्येत्य विज्ञप्तो मन्त्रिणा पुरः ॥ 17 ॥
 योऽसावनङ्गदेवाख्यो विसृष्टो दक्षिणापथम् ।
 देवेन सोऽयमायातः स्वामिनं द्रष्टुमिच्छति ॥ 18 ॥
 इत्युक्त्वा नृपतेराज्ञां प्राप्य रूपमवेशयत् ।
 स द्वितीयं ततो दूतं हर्षविस्फारिलोचनम् ॥ 19 ॥
 स प्रणम्य महीपालं हेमसिंहासनस्थितम् ।
 सुमेरुचूडामणितां प्रयातमिव भास्करम् ॥ 20 ॥
 विजिज्ञापदीक्षमाणः कौतुकाद्वसुधाधिपम् ।
 किमयं वक्ष्यतीत्यन्तरुत्कण्ठाङ्कुरिताशयः ॥ 21 ॥
 देव दक्षिणदिग्भूपैर्युष्मच्छासनमालिका ।
 किरीटकोटौ विक्षिप्ता लक्ष्मीरक्षामहौषधिः ॥ 22 ॥
 क्रमेणाम्बुधिमुत्तीर्य यातोऽहं सिंहलेश्वरम् ।
 वीरसेनं भवद्भक्तिशीलं कुलगृहं श्रियः ॥ 23 ॥
 स मां त्वच्छासनं मूर्ध्नि निधायोत्फुल्ललोचनः ।
 प्राहास्ति मम सर्वस्वं कन्यारत्नमनुत्तमम् ॥ 24 ॥
 विक्रमादित्यदेवश्च रत्नानां भाजनं विभुः ।
 समर्पितेयं वचसा मया तस्मै सुमध्यमा ॥ 25 ॥

इत्युक्त्वा स सुतां राजा हरिणाक्षीमदर्शयत् ।
 कान्तां विनयवत्याख्यामुपाख्यानं रतिश्रियः ॥ 26 ॥
 कन्यां नवसुधाधूतलावण्यवसुधां ततः ॥
 तामहं त्वत्समुचितां दृष्ट्वा जातोऽतिविस्मितः ॥ 27 ॥
 तद्विवाहाहितोद्योगः सिंहलाधिपतिस्ततः ।
 भवते प्राहिणोदूतं मयि न्यस्तं महामतिः ॥ 28 ॥
 दूतेन सहितः क्षिप्रमहमारुह्य वारिधौ ।
 वाहनं तीरनिकटे प्रागपश्यं द्विधागतम् ॥ 29 ॥
 दोर्भ्यां देवात्समुत्तीर्य सागरं च तटस्थितः ।
 अपश्यं ललनां देव धनुषीं चित्तजन्मनः ॥ 30 ॥
 हेमरत्नविचित्राङ्गः सारङ्गस्तत्पुरो मया ।
 दृष्टश्चिरादविज्ञातो मारीचहरिणः पुनः ॥ 31 ॥
 ताभ्यां कृतकरालम्बो नीतः कामप्यहं भुवम् ।
 दूतेन सहितस्तेन दिव्योद्याने विभूषिता ॥ 32 ॥
 तत्र दिव्यसरस्तीरे हरार्चनरता मया ।
 दृष्टा वरवधूः कामा कन्या तरुणमंजरी ॥ 33 ॥
 सागरासलिलोद्भूतं पूजयित्वा महेश्वरम् ।
 दासीसहस्रानुगता सुन्दरी गन्तुमुद्ययौ ॥ 34 ॥
 तस्यां गतायां तद्वास्यः केयमित्यतिकौतुकात् ।
 मया यौवनदर्पान्धाः पृष्टा नो किञ्चिदूचिरे ॥ 35 ॥
 अभीष्टदेवताद्रोहे मुहुस्ताः शापिता अपि ।
 अवधीर्येव सावज्ञाद्विशालाः प्रययुः शनैः ॥ 36 ॥
 ततः श्रीविक्रमादित्यपादाब्जादथ शापिताः ।
 झटित्येवाप्तकम्पास्ता निवृत्ता गतिविभ्रमात् ॥ 37 ॥
 अथ प्रहवाः समभ्येत्य कीर्तितं त्वां प्रणम्य सा ।
 हृष्टा वराङ्गना प्राह मां स्तनाग्रकृताञ्जलिः ॥ 38 ॥
 सत्यं श्रीविक्रमादित्यो जयति त्रिजगज्जयी ।
 यत्प्रसादादहं मुक्ता तस्मादपि महाभयात् ॥ 39 ॥
 श्रुत्वेत्यहं तामपृच्छं कौतुकाविष्टमानसः ।
 कथं मत्स्वामिना भद्रे रक्षितासीति सादरम् ॥ 40 ॥

सावदच्छृणु सर्वाशा योषा त्रिदशशाखिनाम् ।
 यथा विषमशीलेन रक्षितास्मीति सादरम् ॥ 41 ॥
 अस्ति वैश्रवणभ्राता माणिभद्र इति श्रुतः ।
 तस्याहं वल्लभा भार्या यक्षी मदनमञ्जरी ॥ 42 ॥
 तेनाहं सह कान्तेन कदाचित्केलिलालिता ।
 रममाणा महीं भ्रान्त्वा विविधोद्यानमालिनी ॥ 43 ॥
 अथोज्जयिन्यां पुःपुः(?) किलासोपवने वन ।
 प्रियेणालिङ्गिता गाढं सुप्ताहं मदविह्वला ॥ 44 ॥
 अदूरवर्तिना स्वैरं तत्स्मशाननिवासिना ।
 खण्डकापालिकाख्येन दृष्टा कङ्कणमालिता ॥ 45 ॥
 मां दृष्ट्वा मन्त्रसिद्धोऽपि स निश्चेष्ट इवाभवत् ।
 वृद्धोऽप्यत्यन्तवृद्धेन मन्मथेन विनिर्जितः ॥ 46 ॥
 तथा विषविपाकेषु विषयेष्वथ चेतसः ।
 अपथ्येष्वतुरस्येव नाभिलाषः प्रशाम्यति ॥ 47 ॥
 ततो मयि प्रयातायां भर्त्रा सह निजां पुरीम् ।
 खण्डकापालिकश्चक्रे मदर्थं मन्त्रसाधनम् ॥ 48 ॥
 तस्याप्रतिहतैर्मन्त्रैरहं सत्रासकम्पिता ।
 कृष्यमाणा भुजङ्गीव भर्तारं शरणं गता ॥ 49 ॥
 सोऽप्यशक्तः परित्रातुं मां विषण्णमुखाम्बुजाम् ।
 न्यवेदयत्कुबेराय कापालिकविचेष्टितम् ॥ 50 ॥
 ततोऽब्रवीद्वैश्रवणो नाहं तद्द्वारणे क्षमः ।
 किमसाध्यं स्फुरद्भ्रान्तां मन्त्राणां वीर्यशालिनाम् ॥ 51 ॥
 धनदेनापि संत्यक्तो मद्भर्ता शरणं ययौ ।
 ब्रह्माणं सोऽपि तं प्राह दुर्जयोऽयं महाब्रवीत् ॥ 52 ॥
 किं तु श्रीविक्रमादित्यः समर्थस्तद्विनाशने ।
 भयकाले भवद्भार्या तमाक्रन्दतु भूमिपम् ॥ 53 ॥
 इति प्रजापतिवचः श्रुत्वा प्राप्ते स्वमन्दिरम् ।
 माणिभद्रे ततस्तेन कृष्टाहं व्रतिना निशि ॥ 54 ॥
 मन्त्रशक्तिसमाहूता श्मशानं प्राप्य भीषणम् ।
 खण्डकापालिकं घोरमपश्यं कृतमण्डलम् ॥ 55 ॥

प्रेतचक्रमहाकुण्डे क्षिपन्तं सर्षपाहुतीः ।
 तं दृष्ट्वा ककुभः सर्वा ज्वालालोला व्यलोकयम् ॥ 56 ॥
 शफरी जालबद्धेव तत्राहं तद्गयाकुला ।
 अभवं बान्धवत्यक्ता कम्पातङ्कतरङ्गिता ॥ 57 ॥
 देव श्रीविक्रमादित्य राजन्विषमशील माम् ।
 त्रायस्वाशरणां बालामिति भारं ततोऽभ्यधाम् ॥ 58 ॥
 अस्मिन्नवसरे सोऽपि वीरचर्याविनिर्गतः ।
 विलोलकुण्डलः खड्गी राजा राजीवलोचनः ॥ 59 ॥
 उत्साह इव साकारः प्रत्यक्ष इव विक्रमः ।
 गम्भीरमधुरोदारदृशा निर्वापयन्निव ॥ 60 ॥
 मां समाश्वास्य दलयंस्तमो दन्तांशुसंचयैः ।
 आदिदेशाशु पुरतो वेतालं तद्विनिग्रहे ॥ 61 ॥
 स तेनाग्निशिखाख्येन वेतालेनाशु घट्टितः ।
 खण्डकापालिकः प्राणांस्तत्याज व्याजबाधकः ॥ 62 ॥
 राजधानीं गते राज्ञि भूतवेतालमण्डली ।
 खण्डकापालिकं भोक्तुमाययौ हठनिर्भया ॥ 63 ॥
 ततो यमशिखो नाम वेतालो नेतुमुद्ययौ ।
 तत्सर्वं तत्प्रकोपाच्च तारमग्निशिखोऽवदत् ॥ 64 ॥
 मा मा त्वमेक एवैनं नय दुर्नयभाजनम् ।
 विक्रमादित्यपादाब्जैः शापितोऽसि मया सखे ॥ 65 ॥
 श्रुत्वेति स्थगितः सोऽथ प्रभावं पृथिवीपतेः ।
 पप्रच्छाग्निशिखं तस्य कौतुकाकुलिताशयः ॥ 66 ॥
 सोऽवदद्भुकिनीकारख्यो निशीथे द्यूतकृत्पुरा ।
 विक्रीणानो महामांसं श्मशानमिममागतः ॥ 67 ॥
 तन्मह्यमर्थानसो(?)थ ददौ निष्कम्पमानसः ।
 रूपं बलं च सप्ताहं गृहीत्वा मम संविदा ॥ 68 ॥
 तत्कारणं मया पृष्टः सोऽवदत्कितवाग्रणीः ।
 अस्म्यहं विजितो धूर्तैर्धूसराङ्गो दिगम्बरः ॥ 69 ॥
 देहीति वादिनां मध्ये वेद्यो द्यूतकृतामहम् ।
 शिलीभूतः स्थितो मूको योगीवानिमिषेक्षणः ॥ 70 ॥

उल्लुण्ठितश्मश्रुकेशस्तैर्लताभिः समाहतः ।
 लवणेनाम्बुना सिक्तस्तैर्मित्रैः पूर्वसेवितैः ॥ 71 ॥
 बहूपवासनिःस्पन्दः क्षिप्तः कूपे बलादहम् ।
 नरकायासदुःखानामिव संजातमन्दिरे ॥ 72 ॥
 तत्र दृष्टौ मया घोरविग्रहौ ब्रह्मराक्षसौ ।
 तावूचतुर्मासालोक्य मदृत्तान्तं निशम्य च ॥ 73 ॥
 आवाभ्यां वणिजः पूर्वं स्वमन्त्रेण प्रिये सुते ।
 तुल्यं गृहीते निर्भुग्मन्त्रौषधिबलक्रमे ॥ 74 ॥
 ततो विषमशीलस्य दृशैव पृथिवीपतेः ।
 पतितावन्धकूपेऽस्मिन्नावां संत्यक्तकन्यकौ ॥ 75 ॥
 संवत्सरोऽवधिस्तेन निर्दिष्टो नौ गतश्च सः ।
 सप्ताहशेषस्तस्मात्त्वमस्मद्भोजनमानय ।
 दत्ते सप्ताहमावाभ्यां भोजने मोक्ष्यसे भयात् ॥ 76 ॥
 श्रुत्वेति प्रतिपन्नं मां क्षुद्धिनाशो मुदान्वितम् ।
 तस्मादुज्जहत्तुः कूपात्ततोऽहं त्वामुपस्थितः ॥ 77 ॥
 त्वद्रूपत्वद्बलेनैव ताभ्यां भोजनमीप्सितम् ।
 दत्त्वाभ्येत्य प्रदास्यामि बलं रूपं च ते निजम् ॥ 78 ॥
 इत्युक्त्वा मदबलाकारो गत्वा राक्षसयोर्ददौ ।
 स्वयूथ्यानेव कितवान्सप्ताहं तूर्णभोजनम् ॥ 79 ॥
 तद्वत्त्वा स समभ्येत्य प्रादाद्रूपं बलं च मे ।
 पुनश्च याचितस्ताभ्यां भोजनं तर्जनक्रमैः ।
 प्रतार्य मां कौतुकिनं नीत्वा कूपे ततोऽक्षिपत् ॥ 80 ॥
 राक्षसाभ्यामहं तत्र गृहीतो भुजपञ्जरे ।
 अकार्षं सुचिरं युद्धं कम्पिताखिलभूतलम् ॥ 81 ॥
 ततोऽहं तौ ददौ युद्धश्रमाद्विश्रान्तविग्रहः ।
 कथयित्वा निजं वृत्तं स्थितो लज्जानतः क्षणम् ॥ 82 ॥
 अथाब्रवीत्स्मितमुखस्तत्रैको ब्रह्मराक्षसः ।
 अहो न द्यूतकारेण मायमा वञ्चिता वयम् ॥ 83 ॥
 एवंविधा भवन्त्येव कितवाः साहसव्रताः ।
 टेण्टाकरालवृत्तान्तमत्रैव कथयाम्यहम् ॥ 84 ॥

अभूद्वेण्टाकरालाख्यो द्यूतकृद्वञ्चनावधिः ।
 सदा महाकालगृहे रजन्यां स स्वयं किल ॥ 85 ॥
 तत्र दीपघृताभ्यक्तैरपूपैः कृतभोजनः ।
 महाकालानुगान्प्राह प्रतिमादीपसंस्थितान् ॥ 86 ॥
 अस्यां दीर्घत्रियामायां द्यूतक्रीडा स्वमायया ।
 इत्युक्त्वा पञ्च चिक्षेप पुनश्चित्रा वराटिकाः ॥ 87 ॥
 ताभिः स्वकल्पनावाग्भिर्जितो यक्ष इति क्षणात् ।
 प्राह हेमसहस्रं च निर्बन्धात्तमयाचत ॥ 88 ॥
 निरुत्तरं समालोक्य कूपे त्वां प्रक्षिपाम्यहम् ।
 इत्युक्त्वा भयसंत्रस्तः सुवर्णं तमदापयत् ॥ 89 ॥
 ततः क्रमेण तेनैव त्रासयन्सततं गिरः ।
 प्रतिमागणवेतालानजयत्काञ्चनप्रदान् ॥ 90 ॥
 ततः कदाचिद्भगवान्महाकालस्तमब्रवीत् ।
 पुत्र तुष्टोऽस्मि ते वीर व्रतेनानेन धीमताम् ॥ 91 ॥
 गच्छैतत्सरसस्तीर्थमत्र त्रिदशयोषितः ।
 क्रीडन्ति स्नातुमायातास्ताभ्यः कन्यामवाप्नुहि ॥ 92 ॥
 इति शर्वाज्ञया गत्वा दृष्टास्तास्त्रिदशाङ्गनाः ।
 जहार तासां वासांसि तास्तस्मै तां सुतां ददुः ॥ 93 ॥
 कन्यां कलावतीं नाम प्राप्य तां स्वर्गसुन्दरीम् ।
 ननन्द मदनोदारः स शंकरवरोर्जितः ॥ 94 ॥
 पुरा पुरंदरास्थाने सा चक्रे मनुष्यस्थितिम् ।
 तेनाभवच्छक्रशापात्सुन्दरी मर्त्यसङ्गिनी ॥ 95 ॥
 कदाचिदथ सा स्वर्गनृत्ते कौतुकिनं प्रियम् ।
 तं निनाय सनिर्बन्धं कृत्वा कर्णोत्पलायिताम् ॥ 96 ॥
 स तत्र रम्भां नृत्यन्तीं ददर्शायातलोचनाम् ।
 गन्धर्वगीतानुगतां कलाताललयोर्जिताम् ॥ 97 ॥
 ततो हास्याय नृत्यन्तं छागं सुरपतेः पुरः ।
 अपश्यद्विपुलाकारमीश्वरा हि स्मितप्रियाः ॥ 98 ॥
 गन्धर्वं मुनिशापेन तं दृष्ट्वा छागविग्रहम् ।
 अयं स मर्त्यश्चरतीत्यभवत्तस्य चेतसि ॥ 99 ॥

बहुकौतुकमालोक्य स्वर्गाद्भोगभुवं गतम् ।
 टेण्टाकरालो दयितां शक्तो मेने ततोऽधिकम् ॥ 100 ॥
 ततस्तमेव रोमन्थदलकूर्चमजं पुनः ।
 आपणाग्रे सुखासीनमुज्जयिन्यां ददर्श सः ॥ 101 ॥
 टेण्टाकरालस्तं दृष्ट्वा प्राह दर्शय मां सखे ।
 पुनर्नृत्तं सुरपुरे दृष्टस्त्वं हास्यकृन्मया ॥ 102 ॥
 इत्युक्त्वा सावलेपं तं प्रत्याख्यानरुषा ततः ।
 जघान लगुडेनाजं येन सोऽभूत्सशोणितः ॥ 103 ॥
 अथ शक्रपुरं गत्वा सुरेन्द्राय न्यवेदयत् ।
 द्यूतकारिनिकारं तं छागलः कोपकम्पितः ॥ 104 ॥
 शापान्तमुक्त्वा मुक्तेऽथ छागे गन्धर्वतां गते ।
 इन्द्रः कलावतीं प्राह धिक्त्वां दुर्नयकारिणीम् ॥ 105 ॥
 आनीतो दुर्विनीतोऽसौ त्रिदिवं मानुषस्त्वया ।
 तस्मादनल्पकं कालं योषा दारुमयी भव ॥ 106 ॥
 नरसिंहाभिधानेन राज्ञा नागपुरे कृते ।
 सुरालये तत्र भित्तौ पुत्रिका त्वं भविष्यसि ॥ 107 ॥
 तस्मिन्कालेन निःशेषं गते देवगृहे क्षयम् ।
 शापस्यान्तं समासाद्या पुनः स्वपदमेष्यसि ॥ 108 ॥
 इति शप्ता नतमुखी दुःखिता शतमन्युना ।
 टेण्टाकरालमभ्येत्य सा निजं शापमभ्यधात् ॥ 109 ॥
 शापवृत्तान्तमावेद्य तस्यां वृत्तं स्वकर्मणा ।
 श्रितां तां देवनिलयस्तम्भान्ते पुत्रिकाकृतिम् ॥ 110 ॥
 छागदुःखानलाक्रान्तं स निन्दन्निजसाहसम् ।
 आदाय रत्ननिचयं ययौ नागपुरं जवात् ॥ 111 ॥
 कलशान्त्संपूर्णान्भूमिगर्ते निधाय सः ।
 तस्थौ दम्भव्रतैस्तत्र प्रसिद्धिं परमां गतः ॥ 112 ॥
 अशेषप्राणिभाषाज्ञ इति राज्ञा स पूजितः ।
 अदर्शयद्रत्नपूर्णं तस्मै कलशपञ्चकम् ॥ 113 ॥
 तत्प्रत्ययात्स भूपालो मेने सर्वज्ञमेव तम् ।
 महेश्वरमिवाभ्येत्य सततं प्रणनाम च ॥ 114 ॥

कदाचिद्भुजा सार्धं देवायतनमेत्य सः ।
 दर्शनात्साश्रुनयनां दृष्ट्वा तां दारुपुत्रिकाम् ॥ 115 ॥
 उवाच धूर्तो भूपालं शान्तं शान्तममङ्गलम् ।
 इमं सुरगृहं तूर्णं कणशः क्रियतामिति ॥ 116 ॥
 तदाकर्ण्य महीपालः सामात्यस्तं ससंभ्रमः ।
 पप्रच्छ भगवन्ब्रूहि किमनिष्टं त्वयेक्षितम् ॥ 117 ॥
 सोऽब्रवीद्देव नो वाच्यमेतच्छृणु तथापि ते ।
 आयुषा क्षितिरासन्ना स्थितेऽस्मिन्ते सुरालये ॥ 118 ॥
 समुन्मूल्य क्षणेनैतद्विपुलं सुरमन्दिरम् ।
 अपरं क्रियतां राजन्नित्युक्त्वा विरराम सः ॥ 119 ॥
 ततस्तद्वचनात्तूर्णं तमुत्पाट्य सुरालयम् ।
 अन्यं महीपतिश्चक्रे हेमरत्नाधिकद्युतिम् ॥ 120 ॥
 अचिराच्छापमुक्ताथ स्वर्गं प्राप्य कलावती ।
 विस्मिताय महेन्द्राय स्ववृत्तान्तं न्यवेदयत् ॥ 121 ॥
 धिया टेण्टाकराले च शापात्तामाशु मोचिताम् ।
 श्रुत्वा तुष्टस्तमानाय्य शक्रस्तस्मै ददौ श्रियम् ॥ 122 ॥
 टेण्टाकरालचरितं प्रशंसामुखराननः ।
 बृहस्पतिस्ततः प्राह विहस्य मरुतां पतिम् ॥ 123 ॥
 एवंविधा भवन्त्येव द्यूतकाराः पदं धियः ।
 कुट्टिनीकपटो नाम बभूव द्यूतकृत्पुरा ॥ 124 ॥
 समस्तपापकोशस्य नरकक्षितिरक्षया ।
 गतासोस्तस्य गणिका कालेन यमसच्चिनि ॥ 125 ॥
 सुरार्चनाद्दिनं चैकं विदधाति च शक्रताम्
 भेजे पृष्टोऽथ तां पूर्वं दिनमेकं सुरेन्द्रताम् ॥ 126 ॥
 तत्र बुद्ध्या विनिश्चित्य दाता शर्वार्चनव्रतः ।
 स्नात्वा सर्वेषु तीर्थेषु चिरमासीत्सुरेश्वरः ॥ 127 ॥
 इति धूर्ता भवन्त्येव द्यूतकारमहाशयाः ।
 एतद्गुरोर्वचः श्रुत्वा विस्मितोऽभूत्पुरंदरः ॥ 128 ॥

AA bfr Vs Vldjkyk[; kf; dkAA1AA

द्यूतकारकथामेतामाकर्ण्य ब्रह्मराक्षसात् ।
 प्रयाते डाकिनीकेन वञ्चितः स्वयमाश्रमम् ॥ 129 ॥

कदाचिदथ कालेन क्षुत्क्षामेन मया द्विजः ।
 गृहीतो निशि चुक्रोश विक्रमादित्यमीश्वरम् ॥ 130 ॥
 तच्छ्रुत्वा स नृपोऽभ्येत्य खड्गेनाशु जघान तम् ।
 तत्क्षणं शरणायातं ररक्ष स कृपानिधिः ।
 ततः प्रभृति दासोऽहं तस्य भूमिपतेर्विभोः ॥ 131 ॥
 इत्यग्निशिखवृत्तान्तं श्रुत्वा यमशिखः स्मयात् ।
 मनसा विक्रमादित्यं प्रणनाम कृताञ्जलिः ॥ 132 ॥

AA bfr [k.Mdki kfydo/kAA 2AA

इत्यहं तेन भूपालमौलिलीढाङ्घ्रिणा स्वयम् ।
 रक्षिता वल्लभं प्राप्य परां निर्वृतिमागता ॥ 133 ॥
 साहं कीर्तिपताकेव राज्ञसतस्य यशोनिधेः ।
 त्रैलोक्यचारिणी नित्यमस्मिन्क्षपुरे स्थिता ॥ 134 ॥
 सिंहलेन्द्रेण तनयां वितीर्णा शौर्यशालिनीम् ।
 ज्ञात्वा विषमशीलाय सर्वे म्लेच्छशकाभिधाः ॥ 135 ॥
 हर्तुमभ्युद्यताः पापा विधेयं तत्र यत्क्षमम् ।
 इत्यस्मिन्भक्तिचिन्तैषा स च तान्निहनिष्यति ॥ 136 ॥
 यक्षाङ्गनायामुक्त्वेति विगतायामदृश्यताम् ।
 तद्विव्यकान्तायुगलं स च हेमकुरङ्गकः ॥ 137 ॥
 तद्वृत्तान्तं मया पृष्टा सा यक्षी प्राह मां पुनः ।
 पुरा घण्टनिघण्टाख्यौ दानवेन्द्रौ बभूवतुः ॥ 138 ॥
 त्रैलोक्यकण्टकौ मत्वा दुर्जयौ तौ प्रजापतिः ।
 असृजत्कान्तिसर्वस्वमिमं त्रिदशकन्यके ॥ 139 ॥
 एतद्दर्शनसंजातगाढमन्मथपावकौ ।
 ममैवेति ममैवेति भेदादिति गतौ क्षयम् ॥ 140 ॥
 त्यक्तं वैश्रवणायैते कान्ते कमलयोनिना ।
 उचिताय प्रदातव्ये विद्यायेत्यथ संविदम् ॥ 141 ॥
 माणिभद्रगृहे न्यस्ते कुबेरेण ततः स्वयम् ।
 पालयाम्यहमेवैते गुणैः को न वशीकृतः ॥ 142 ॥
 एतयोर्विक्रमादित्यो देव एवोचितः पतिः ।
 अयं च हेमहरिणो योग्यस्तस्यैव हर्षदः ॥ 143 ॥

foØekfnR; dFkk, ;@167

नक्षत्रं मृगशीर्षं तु कर्षन्तं केलिकौतुकात् ।
 दृष्ट्वा जयन्तं तनयं शक्रश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ 144 ॥
 स ध्यात्वा तद्विनोदाय काञ्चनं विश्वकर्मणा ।
 अकारयन्मणिमृगं पीयूषावाप्तजीवितम् ॥ 145 ॥
 सोऽयं पुरा दशास्येन विजित्य त्रिदशालयम् ।
 सार्धमिन्द्रजिता नीतो लङ्कां रत्नाङ्कतोरणाम् ॥ 146 ॥
 कालेन निहते तस्मिन्रणे रामेण रावणे ।
 दत्तो विभीषणेनायं मह्यमुत्सवसंगमे ॥ 147 ॥
 तमिमं रत्नसारङ्गं कन्ये चेमे सुलोचने ।
 विक्रमादित्यदेवाय नयेत्युक्त्वेव सा ददौ ॥ 148 ॥
 ततस्तामहमामन्थ्य वैदर्भभूपतिम् ।
 त्वच्छासनव्रतं वीरं सर्वं चास्मै न्यवेदयम् ॥ 149 ॥

॥ bfr ; {khl ekxedFkkAA 3AA

अत्रान्तरे संहतास्ते पापा म्लेच्छशकाधिपाः ।
 ज्ञात्वा तदर्थमायान्तीं सिंहलाधिपतेः सुताम् ।
 पथि तस्थुः सुसंरब्धाः सेनाच्छादितदिवत्तटाः ॥ 150 ॥
 ततो विदर्भराजेन तेषां विक्रमशक्तिना ।
 बभूव सुचिरं युद्धं विस्मयाद्वीक्षितं सुरैः ॥ 151 ॥
 ततः सा यक्षतनया सह गुह्यकसेनया ।
 सेनां विदर्भाधिपतेरविशद्विजयश्रिये ॥ 152 ॥
 अथ तेषु निरस्तेषु रणे भग्नेषु शत्रुषु ।
 आगताः पृथिवीपालाः सर्वे तद्वशवर्तिनः ॥ 153 ॥
 सिंहलेश्वरपुत्री च ते च त्रिदशकन्यके ।
 आयातास्त्वद्विवाहाय सहिता सर्वराजभिः ॥ 154 ॥
 इतः स कटकावर्तो वर्तते योजनत्रये ।
 प्रत्युद्गमनसत्कारस्तत्र देव विधीयताम् ॥ 155 ॥
 श्रुत्वेत्यनङ्गदेवेन कथितं पृथिवीपतिः ।
 आदिदेश महात्साहो यात्रासंरम्भदुन्दुभिः ॥ 156 ॥
 ततो गर्जद्गजानीकसंघादितदिगन्तरान् ।
 नातिदूरं निजपुराद्गत्वापश्यन्नरेश्वरान् ॥ 157 ॥

168@foØekfnR; dFkk, ;

नामानि देशभूपालैः सूचितैर्बन्दिभिः पुरा ।
प्रणम्यमानः सुमुखीं वरयित्रीं ददर्श सः ॥ 158 ॥
तां सिंहलेश्वरसुतां वीक्ष्य सारङ्गलोचनाम् ।
विप्रलब्धं स्मरं मेने रतिसौभाग्यगर्वितम् ॥ 159 ॥
परिणीयेन्दुवदनां ततस्तां पृथिवीपतिः ।
हेममौक्तिकरत्नानां कूटानप्यचलोपमान् ॥ 160 ॥
दिव्येनोद्वाहविधिना प्रयाते दिव्यकन्यके ।
कुलाधिदेवते कान्तं स्मरसौभाग्ययोरिव ॥ 161 ॥
तं दिव्यहरिणं हारिरत्नकान्तिविचित्रितम् ।
लब्ध्वा विवेश स्वपुरं सानुगो वल्लभासखः ॥ 162 ॥
अतः संभागसुभगःतां यदृच्छया ।
केनापि द्विजपुत्रेण ददर्शालेख्यपुत्रिकाम् ॥ 163 ॥
तां दृष्ट्वा चित्रफलके त्रैलोक्योन्मादनौषधिम् ।
स्वप्ने तामेव चापश्यत्खेत्यङ्क(?) इव लम्बिनीम् ॥ 164 ॥
नग्नकृपणकां ज्ञात्वा तां चित्रलिखितां प्रियाम् ।
राज्ञो मलयसिंहस्य पुत्रीं मलयवासिनः ॥ 165 ॥
कान्तां मलयवत्याख्यां विलासतिलकं रतेः ।
स्वयं गत्वा सहामात्यो लेभे हरिणलोचनाम् ॥ 166 ॥ ॥

bfr du; kprIV; i kfr%AA4AA

ततः कान्तां समादाय प्रत्यायाते निजां पुरीम् ।
राज्ञि श्रीविक्रमादित्ये बभूव जगदुत्सवः ॥ 167 ॥
देवी कलिङ्गसेनाथ तस्याग्रमहिषी रुषा ।
ईर्ष्याकलुषिता चक्रे गणानां दयितागसाम् ॥ 168 ॥
सा प्राह देवसेनाख्यं पत्युर्विभ्रमभाजनम् ।
वीरं कार्पटिकं भ्रातः स्वामी ते बहुवल्लभः ॥ 169 ॥
दृष्ट्वा मत्सदृशीं पूर्वमुत्कीर्णां सालभञ्जिकाम् ।
कलिङ्गराजं निर्जित्य जितकासी जहार माम् ॥ 170 ॥
आद्यायां भूपतिसुताः कान्तो नवनवो युवा ।
सेवते बत सौभाग्यं सन्तः कस्य वशे प्रियः ॥ 171 ॥

foØekfnR; dFkk, @169

इति देवीवचः श्रुत्वा प्राह कार्पटिकस्तथा ।
देवि स्वयं समायाति देवं दिव्याङ्गनाजनः ॥ 172 ॥
उच्चैःश्रवःकुले जातं पुरा राजा तुरङ्गमम् ।
ऊह्य श्रीविक्रमादित्यो मृगयारसिको ययौ ॥ 173 ॥
हतः पवनवेगेन तेनाश्वेन वने नृपः ।
अनुयातोऽहमेवैको योजनानां शतत्रयम् ॥ 174 ॥
पादलेपं ददौ यक्षः प्राङ्मह्यं मन्त्रतोषितः ।
तेन मे क्षणलङ्घ्याभूत्सुदूरापि वसुंधरा ॥ 175 ॥
ततोऽस्तशिखरं याते दिनेशे प्राह मां नृपः ।
अस्ति वह्निशिखाख्यो मे वेतालश्चिरसेवकः ॥ 176 ॥
गृहं तेन...विप्रस्य स्वानुमाक्रन्दिनं पुरा ।
मोचयित्वा निशाचर्या निर्गतोऽहं प्रसङ्गतः ॥ 177 ॥
समरक्षं सुविपुलाद्वेतालं नयनामयात् ।
ततः प्रभृति दास्ये मे सर्वत्राज्ञाधरोऽभवत् ॥ 178 ॥
इत्युक्त्वा भूभुजा ध्यातं तमपश्यमहं पुरः ।
वेतालं प्रबलज्वालाकरालानलमूर्धजम् ॥ 179 ॥
अत्रान्तरे फलाहारान्महाजगरतां गतः ।
अहं स्वभावशक्तिर्हि द्रव्याणां केन लक्ष्यते ॥ 180 ॥
ततः पल्लीपतिं शीघ्रं शबराधिपतिं नृपः ।
तत्र तं प्रार्थयामास प्रणतं सिद्धिमुक्तये ॥ 181 ॥
यस्य वानरदत्तेन फलेनापूर्वशक्तिना ।
यातो सप्तदशशती वत्सराणां किलायुषः ॥ 182 ॥
सोऽप्यपश्यत्पुरा मार्ग उद्यानं वानरं पुनः ।
दीनावलोकितं दुःखात्पतन्तं पादयोर्मुहुः ॥ 183 ॥
विचिन्तयन्निङ्गितज्ञः स ततः पूर्वमाशयम् ।
दिशो विलोक्य तज्जायामपश्यत्तद्विलम्बिनीम् ॥ 184 ॥
तरुशाखानिरुद्धां तां वेष्टयन्तीं स वानरीम् ।
अमोचयत्कपिः प्रीतो ननर्त च ततो मुदा ॥ 185 ॥
तस्मै कृतोपकाराय सोऽथ शाखामृगः फलम् ।
शबराय ददौ येन सोऽभवच्चिरजीवितः ॥ 186 ॥

170@foØekfnR; dFkk, j

एवंविधः स शबराधीशो नृपतिनार्थितः ।
दिव्यौषधेन केनापि चक्रे मां स्वस्थविग्रहम् ॥ 187 ॥
घोराजगरभावान्मां मोचयित्वा स भूभुजे ।
स्मरमुक्तावलीं कन्यां शबराधिपतिर्ददौ ॥ 188 ॥

AA bfr 'kcjjkti@hyk%AA 5AA

अत्रान्तरे गजक्रोडौ तत्र दर्पादभिद्रुतौ ।
राजा जघान तौ चाशु मुक्तशापौ बभूवतुः ॥ 189 ॥
इयं वातायने सुप्ता वणिक्पुत्रस्य वल्लभा ।
मयाकृष्य कराग्रेण पुरानीता सुलोचना ॥ 190 ॥
इत्युदीर्य तयोरेको गजरूपो महाभुजः ।
तां विन्यस्य ययौ व्योम्ना परेण सहितः क्षणात् ॥ 191 ॥
तयोः प्रयातयोर्मुक्तशापयोः सा वणिग्वधूः ।
पुत्रीवाश्वासिता राज्ञा तत्याज विपुलं भयम् ॥ 192 ॥

AA bfr xtojkg'kiefä%AA 6AA

अत्रान्तरे दिनारम्भे कन्यायुगमदृश्यत ।
रूपयौवनलावण्यविलासकुलमन्दिरम् ॥ 193 ॥
ततस्तदनुगाः पृष्टा मया कौतुकशालिना ।
ऊचुः कटाहद्वीपेशसुतेयं कमलेक्षणा ॥ 194 ॥
सप्तद्वीपपतेर्भार्या भाविनी भुवि विश्रुता ।
अस्याश्च मातुलसुता द्वितीयेयं मृगेक्षणा ॥ 195 ॥
गुरुभ्यां प्रहिते चैते विक्रमादित्यभूभुजे ।
अब्धौ भग्ने प्रवहणे निगीर्णे जलचारिणा ॥ 196 ॥
विधातुरानुकूल्याच्च मुक्ते धीवरदारितात् ।
मत्स्यादयं स देवः श्रीविक्रमादित्य एव किम् ॥ 197 ॥
इत्युक्तस्तत्परिजनैरहं तानवदत्तदा ।
अयमेव स भूपालः श्रीमान्कमललोचनः ।
यत्कृते यूयमायाता राजकन्यायुगानुगाः ॥ 198 ॥
इति मद्बचनं श्रुत्वा ते प्रणम्य महीभुजे ।
ददुर्विषमशीलाय हृष्टा राजसुताद्वयम् ॥ 199 ॥

foØekfnR; dFkk,;@171

AA bfr jkti@h}; yk%AA 7AA

ते कन्यके ततः प्राप्य विश्वकर्मसुरालयम् ।
प्रविश्यापश्यदत्यन्तकान्तामुत्कीर्णपुत्रिकाम् ॥ 200 ॥
तां दृष्ट्वा नयनानन्दसुधां भेजे सविस्मयः ।
देवो विषमशीलोऽपि मदनानलवक्रिते ॥ 201 ॥
तेन पृष्टः स वेतालः केयमित्यतिकौतुकात् ।
उवाच शिल्पिना देव कृतेयं सालभञ्जिका ॥ 202 ॥
कलिङ्गराजतनयामालोक्य सदृशाकृतिम् ।
सेयं कलिङ्गसेनाख्या रूपकारेण निर्मिता ॥ 203 ॥
श्रुत्वेति वेतालवचस्तत्प्राप्ति मानसः ।
अभूत्कलिङ्गयात्रायां प्रस्थानाममुखो नृपः ॥ 204 ॥
अत्रान्तरे समभ्येत्य वणिक्पुत्रो व्यजिज्ञपत् ।
तं देव मम नागेन हर्म्यस्था दयिता हता ॥ 205 ॥
तां विलासवतीं नाम नीतामालोक्य वल्लभाम् ।
कुञ्जरेन्द्रेण तेनाहं निखिलं व्याकुलोऽभवम् ॥ 206 ॥
ततो मां दुःखसंतप्तं कश्चिदभ्यागतो द्विजः ।
आश्वासयन्प्राह सखे मा विवृं ...वृथा कृथाः ॥ 207 ॥
भवन्त्यस्मिन्भवाम्भोधौ भ्राम्यतां कर्ममारुतैः ।
संयोगाश्च वियोगाश्च स्थायिनो न हि देहिनाम् ॥ 208 ॥
अभवत्ताम्रलिप्तायां देसटस्य द्विजन्मनः ।
तनयः केसटो नाम कन्दर्प इव मूर्तिमान् ॥ 209 ॥
कदाचित्तीर्थयात्रायां यातः पथि ददर्श सः ।
यत्र्यात्र (?) प्रस्थितान्विप्राञ्चिशेषोचितभूषितान् ॥ 210 ॥
तन्मध्यादवददृद्धः केसटं सुन्दराकृतिम् ।
भद्र वृद्धस्य कार्येऽस्मिन्सहायो मे सखे भव ॥ 211 ॥
अस्ति मे तनयो वक्रनासिको विकटाननः ।
लम्बोदरो दीर्घग्रीवो दन्तुरः खलतिः कृशः ॥ 212 ॥
तदर्थं धनलुब्धेन मया विप्रो महाधनः ।
सुतां रूपवतीं नाम याचितो धनशालिनीम् ॥ 213 ॥

172@foØekfnR; dFkk,;

विवाहः प्रस्तुतोऽद्यैव निशि तत्र ममात्मजम् ।
 दृष्ट्वा कुरूपसाकां ना(?)न जाने किं करिष्यति ॥ 214 ॥
 अतस्त्वं मन्मथाकारः साहाय्यं कर्तुमर्हसि ।
 मत्पुत्रार्थं परिणये प्राप्नुयाद्येन कन्यकाम् ॥ 215 ॥
 तच्छ्रुत्वा बाढमित्याह केसटः स्वच्छचेतसाम् ।
 कथं परोपकारेषु (क्रियते?) वाक्प्रवर्तते ॥ 216 ॥
 ततः सोष्णीषकुसुमा(.....?)कल्पितशेखरः ।
 कुसुमायुधसच्छायो नीतस्तेन द्विजालयम् ॥ 217 ॥
 विवाहवसुधां प्राप्य स ददर्श द्विजात्मजाम् ।
 रूपयौवनलावण्यैः पुनरुक्तविभूषणाम् ॥ 218 ॥
 सखीनां सह कन्याभ्यां कटाक्षकिरणैर्दृशः ।
 फुल्लेन्दीवरमालाङ्गं विदधानामिवोत्सवे ॥ 219 ॥
 तां दृष्ट्वा केसटस्याभून्मनसि स्मयशालिनः ।
 अहो मे दर्शनादस्या धन्यता नेत्रयोरभूत् ॥ 220 ॥
 ततः केसटमालोक्य शृङ्गारमिव रूपिणम् ।
 आजानुबाहुदीर्घाक्षं परिष्वक्तमिव त्विषा ॥ 221 ॥
 कर्णोपान्तमुपेत्यास्य तत्सख्यावूचतुः शनैः ।
 एकानुरागवत्याख्या परा शृङ्गारवत्यपि ॥ 222 ॥
 धन्य रूपवती यस्यास्त्वं कान्तप्रवरो वरः ।
 आवयोरपि कर्तव्यस्त्वया पाणिग्रहोत्सवः ॥ 223 ॥
 इति स्वैरे समाकर्ण्य निःश्वस्याचिन्तयन्मुहुः ।
 भवतीभिर्ममान्यस्मिन्मन्ये जन्मनि संगमः ॥ 224 ॥
 ध्यात्वा त्वेवं समासन्ने लग्ने निशि नदीतटे ।
 स्पष्टमम्भोविनिर्यातं सोऽपश्यत्पिशिताशनम् ॥ 225 ॥
 तं तु क्षामं तथालोक्य किं करोतीति कौतुकात् ।
 अभक्षिता रूपवती तमेवानुययौ शनैः ॥ 226 ॥
 सापि प्राप्य नदीतीरे राक्षसं तमभाषत ।
 तद्वाक्यविस्मितं रक्षः प्राह रूपवतीं ततः ॥ 227 ॥
 संत्रासातङ्कदुःखानां हस्ते न्यस्तेव वेधसा ।
 मामत्सि राक्षसपते कान्तोऽयं मुच्यतां विभो ॥ 228 ॥

एतद्वियोगाद्यत्सत्यं जीवितं निधनं मम ।
 तच्छ्रुत्वा राक्षसः प्राह स्त्री न वध्या ममाबले ॥ 229 ॥
 सावदद्गर्तृहीनायाः का मे वृत्तिर्निशाचर ।
 सोऽब्रवीत्सस्मितं सुभ्रु सदा वर्तस्व भिक्षया ॥ 230 ॥
 सापि को मे ददातीति प्रोवाच रजनीचरम् ।
 सोऽब्रवीच्छतधा यातु तत्तुभ्यं न ददाति यः ॥ 231 ॥
 ततो रूपवती प्राह भर्तृभिक्षां त्वमेव मे ।
 देहीति तन्निषेधात्तु तद्रक्षः शतधा ययौ ॥ 232 ॥
 मोचयित्वेति भर्तारं गत्वा तत्सहिता गृहम् ।
 निशां निनाय तद्वक्त्रविन्यस्तानिमिषेक्षणा ॥ 233 ॥
 प्रातर्जन्यावली यात्रारम्भे वृद्धद्विजन्मनः ।
 अवाप्य परिणीतां तां नावा गन्तुं समुद्ययौ ॥ 234 ॥
 मत्पुत्रोऽस्याः कुरूपोऽसौ केसटं वीक्ष्य न प्रियः ।
 भविष्यतीति स ध्यात्वा छलान्नद्यां तमक्षिपत् ॥ 235 ॥
 भ्राम्यमाणस्तरङ्गाद्यैः साऽयं दिनैस्त्रिभिः ।
 तीरं वियोगसलिले ममज्जापारदुस्तरे ॥ 236 ॥
 तां शशाङ्कवतीं ध्यात्वा यतो यत्त्रासशोषितः ।
 निधिना दृष्टनष्टेन विप्रलब्ध इवाभवत् ॥ 237 ॥
 ततोऽस्तशिखरं याते पदिमनीजीवितेश्वरे ।
 संदेहं दिक्षु यातासु शौकैरिव तमश्चयैः ॥ 238 ॥
 भ्राजिष्णुरत्नाभरणं सोऽपश्यत्पतितं दिवः ।
 पुरुषं यौवनोदारं विश्राममिव नेत्रयोः ॥ 239 ॥
 तं केसटोऽथ पप्रच्छ कोऽसीति प्रणयोदितम् ।
 निवेद्य निजवृत्तान्तं कान्ताविरहपीडितः ॥ 240 ॥
 संपृष्टः प्राह निःश्वस्य धैर्यमालम्ब्य विक्रियाम् ।
 त्यजैतां शृणु मे तुल्यां क ॥ 241 ॥
 ॥ 242 ॥
 ॥ 243 ॥

..... |
 || 244 ||
 |
 || 245 ||
 |
 || 246 ||
 |
 || 247 ||
 |
 || 248 ||
 |
 || 249 ||
 |
 || 250 ||
 |
 || 251 ||
 |
 || 252 ||
 |
स सततं नासौ त्वयि निरादरः || 253 ||

(इससे आगे 242 से 253 क्रमांक के श्लोक अप्राप्त हैं।)
 कलिङ्गसेना श्रुत्वेति दृष्ट्वा कार्पटिकोदितम्।
 सौभाग्यगर्वशैथिल्यं तत्याज मृगलोचना ॥ 254 ॥
 ततः श्रीविक्रमादित्यः पालयन्निखिलां महीम्।
कपूरध्वलाश्चकार यशसा दिशः ॥ 255 ॥
 अत्रान्तरे शत्रुजितः कश्चिदेत्य नृपात्मजः।
 चक्रे विषमशीलस्य सेवां द्वादशवार्षिकीम् ॥ 256 ॥
 चिरस्थितं राजपुत्रं सोऽथ कार्पटिकव्रतम्।
 तं खण्डकपटाभिख्ये व्यधादेत्य पुरे नृपम् ॥ 257 ॥

सर्वर्तुफलपुष्पादयं मणिकाञ्चनमन्दिरम्।
 स सर्वकामदं प्राप्य तत्पुरं विस्मितोऽभवत् ॥ 258 ॥
 ततः प्रतिनिवृत्ताय पुनश्चास्मै ददौ स्वयम्।
 चतुरम्भोधिपर्यन्तं चतुर्भागं भुवो विभुः ॥ 259 ॥
 अत्रान्तरे समभ्येत्य पुनः कश्चिदव्यजिज्ञपत्।
 देवं श्रीविक्रमादित्यं रोमाञ्चोद्भूतविग्रहम् ॥ 260 ॥
 कृष्णशक्तिरिति ख्यातो वाहं.....द्विजपुत्रकः।
 आगतः श्वाशुरावासाद्भार्यामादाय तत्स्थिताम् ॥ 261 ॥
 तुरङ्गीमधिरुह्यामस्या याने सुहृद्वृते।
 अभक्षयन्नरं साशु मद्भार्या गूढशाकिनी ॥ 262 ॥
 तां रक्ताक्तमहावक्त्रां दृष्ट्वाहं भयविह्वलः।
 देव त्वां शरणं प्राप्तः प्रमाणमधुना प्रभुः ॥ 263 ॥
 तच्छ्रुत्वा सस्मिते राज्ञि ध्वस्तायां च तदाज्ञया।
 शाकिन्यां तत्कथामध्ये प्राह मन्त्री नरेश्वरम् ॥ 264 ॥
 आलयः सर्वपापानां देव क्रूरतराः स्त्रियः।
 अग्निगर्भाभिधस्यासीत्प्रिया भार्या द्विजन्मनः ॥ 265 ॥
 सा चौररागिणी शूले चौरमुल्लम्बिनं पुरा।
 स्नेहदुःखस्मरावेशादालिलिङ्ग चुचुम्ब च ॥ 266 ॥
 तदा प्रविष्टो वेतालस्तस्याश्चिच्छेद नासिकाम्।
 छिन्ननासा च सा गत्वा पत्युर्वस्त्रान्तमग्रहीत् ॥ 267 ॥
 अनेन निगृहीताहमपापेत्यार्तराविणी।
 पित्रा मात्रा च सा सार्धं गत्वा राज्ञे न्यवेदयत् ॥ 268 ॥
 राज्ञादिष्टेऽथ तद्भर्तुर्निग्रहे रभसं स्थितः।
 तद्वृत्तं दिव्यपुरुषः कथयित्वा ररक्ष तम्।
 इति पापाः स्त्रियो देव भवन्ति कलुषाशयाः ॥ 269 ॥
 इत्युक्ते तेन भूपालं मूलदेवोऽप्यभाषत।
 पापा नैकान्ततो देव सन्ति साध्व्योऽपि योषितः ॥ 270 ॥
 मत्प्रसिद्धिं समाकर्ण्य धूर्तैर्लभ्यास्मि नो बलात्।
 इत्युद्वाहविधौ बद्धनियमां शङ्कितां सदा ॥ 271 ॥
 पुरा धूर्तः प्रसिद्धोऽहं युक्त्या धूर्तैरनिर्जिताम्।
 अवापं विप्रतनयां विवाहे छन्नवेषभृत् ॥ 272 ॥

ततस्तां विहितोद्वाहामवदं प्राज्ञमानिनीम् ।
 हा वञ्चितासि गच्छामि स्वतिते(?) विजितं मया ॥ 273 ॥
 इति ब्रुवाणं मां प्राह प्रस्थितं सा स्मितव्रता ॥
 गच्छ मत्सूनुना बद्धो न चिरात्त्वं भविष्यसि ॥ 274 ॥
 इति प्रतिज्ञां श्रुत्वाहं तस्या यातो निजां पुरीम् ।
 याति काले कदाचित्सा छन्ना तामाययौ पुरीम् ॥ 275 ॥
 तस्थौ च तत्र गणिकामिषेणालक्षिता क्षितौ ।
 कामुकान्साथ संप्राप्तान्धियैव विमुखान्व्यधात् ॥ 276 ॥
 पूर्वं यामे स्नानविधिं द्वितीये भोजनक्रमम् ।
 तृतीये मण्डनारम्भं चतुर्थे तु कथान्तरम् ॥ 277 ॥
 निजैः परिजनैः कृत्वा कामिनामिति वञ्चनाम् ।
 शीलसंरक्षणपरा तस्थौ मत्संगमाशया ॥ 278 ॥
 नवां वाराङ्गनां प्राप्तां श्रुत्वाहं तामशङ्कितः ।
 प्रविष्टः कामुको भूत्वा तद्गृहं स्मरमोहितः ॥ 279 ॥
 सा मां प्रौढं परिज्ञाय संगमं विदधे मया ।
 मत्तश्च गर्भं संप्राप्य प्रच्छन्ना स्वपुरं ययौ ॥ 280 ॥
 सासूताथ सुतं काले संप्रवृद्धिं कलानिधिम् ।
 मातुर्गृहात्समभ्येत्य मां द्यूतैः सोऽजयत्कृती ॥ 281 ॥
 स हारितानेकधनं बध्वा मां मातुरन्तिकम् ।
 निनाय सा च मां प्राह सा निजानां स्वसंगमम् ॥ 282 ॥
 तीर्णा मया प्रतिज्ञासौ प्रमाणमधुना भवान् ।
 इति ब्रुवाणां तां कान्तामभजं सत्यवादिनीम् ॥ 283 ॥
 इत्येवं सत्यशालिन्यो देव सन्ति पतिव्रताः ।
 मूलदेवो निगद्येति प्रणम्य प्रययौ नृपम् ॥ 284 ॥
 अथ श्रीविक्रमादित्यो हेलया निर्जिताखिलः ।
 म्लेच्छान्काम्बोजयवनात्रीचान्हूणान्सबर्बरान् ॥ 285 ॥
 तुषारान्पारसीकांश्च त्यक्त्वाचारान्विशृङ्खलान् ।
 हत्वा भ्रूभङ्गमात्रेण भुवो भारमवारयत् ॥ 286 ॥
 इत्येवं सत्यसम्पन्नाः प्राप्नुवन्ति समीहितम् ।
 नरवाहन कान्तां तामवाप्स्यसि धृतिं श्रियः ॥ 287 ॥

इति निशम्य कथां स मुनेर्वचः प्रियतमाविरहानलतापितः ।
 वनमहीषु चचार निजां पुरीमनुसरञ्शनकैर्नरवाहनः ॥ 288 ॥

AA bfr {keWnfoj fprk; kacgRdFkke ˆt; kãfo"ke'khyukek
 n'keksyËcd%l ekIrAA

cgrRdFkke ˆ t jh
AA fo"ke'khy uked nI ok yEcdAA
AA i gyk x@NdAA

शम्भु की वह शशिकला आपको आनन्दसम्पदा के लिये हो जिसे द्यूत में जीतने से पार्वती ने केतकि के पत्ते के समान कान में लगा लिया।। 1।।

तब श्री के वियोग की आग से संतप्त शरीर वाला नरवाहन वन में घूमता हुआ कण्व मुनि के आश्रम में गया।। 2।।

उस तपोवन में मन प्रसन्न हो जाता है, समस्त अशान्ति व कष्ट शान्त हो जाते हैं और विवेक के समान संतोष फल प्राप्त होता है।। 3।।

अन्य सूर्य के समान तेज के पुंज कण्व की उपासना की और उन्होंने पलभर के लिए उसे दिव्यदृष्टि से कृपा की।। 4।।

शत्रुओं से स्पर्धा से फिर मुनिवर ने उससे कहा— मानो दाँतों की किरणों से विमान—हंस की कतार बना रहे हों।। 5।।

राजपुत्र के प्रिय धैर्य को पुनः प्राप्त करेगा। पुण्यशाली लोगों के वियोग का समापन संयोग से ही होता है।। 6।।

विधाता अनुकूल हों तो हरण होने पर भी वन में धन, मित्र, बन्धु, प्रेमिका, राजसंपदा या राजत्व और सम्पदा प्राप्त हो जाती हैं।। 7।।

प्राचीनकाल में चन्द्रशेखर शिवजी जब कैलास के शिखर पर बैठे थे तब पराजित देवगण इन्द्र को आगे कर पहुँचे। और बोले— पुरारि द्वारा मार भगाये गये गर्वीले दैत्य दस्युओं ने जो महाम्लेच्छ हैं उन्होंने अवतार लेकर

(या उतरकर) स्वस्थ देवों को तिनका जैसा नष्ट कर मसल डाला। अब आप ही प्रमाण हैं। देवों के यह कहने पर शिवजी ने पृथ्वी के भार की शांति के लिए माल्यवान् नामक प्रमथ गण को आदेश दिया।। 8—10।।

तब वह शिवजी के आदेश और पार्वती की बात मानते हुए पृथ्वी पर उज्जयिनी के श्रीमान् राजा का पुत्र हुआ। राजा महेन्द्रादित्य को शिवजी ने सपने में सूचना दे दी। वह विक्रमादित्य पुत्र हुआ जो कीर्ति का कोश था। वह विषमशील नामक दूसरे नाम से भी प्रसिद्ध था। समस्त शास्त्र तथा आयुध विद्या उस राजा ने प्राप्त कर लीं। राजा की प्रसिद्ध लक्ष्मी उस विक्रमादित्य को देकर मेधावी राजा कृतकृत्य होकर पत्नी सहित वाराणसी चला गया। तब पिता के शान्त होने पर राजा विषमशील ने पृथ्वी का शासन किया। वह धनुर्धर म्लेच्छों को उखाड़ फेंकने में दक्ष था।। 11—15।।

उसके कुलक्रम से आते हुए प्रचुर आशय वाला प्रतीहार रुद्रायुध और सचिव महामति था। वहाँ किसी समय हाथियों के समूह के सिर द्वारा शासन या अनुशासन का पालन करने वाला अनंगदेव नामक (दूत) दक्षिण देश से आया। मन्त्री ने सामने आकर यह कहा कि वह आपके दर्शन करना चाहता है। यह कहकर राजा की आज्ञा पाकर हर्षसहित द्वितीय रूप दूत को प्रवेश करवाया। उसने स्वर्णसिंहासन पर आसीन राजा को प्रणाम किया जो सुमेरु की चूड़ामणि बने सूर्य के समान था। कुतूहल से राजा को देखते हुए अब यह क्या कहेगा— यह मन में उत्कण्ठा जगने लगी। हे देव! दक्षिण दिशा के राजाओं ने आपके शासन(आदेश) की माला अपने मुकुट के ऊपर रख ली है जो लक्ष्मी की रक्षा की महा ओषधि है।। 16—22।।

क्रमशः मैं सागर पार कर सिंहल के स्वामी वीरसेन के पास गया। वह लक्ष्मी का कुलसदन और आपकी भक्ति में लीन है। आपके शासन को अपने सिर पर धारण कर प्रसन्न नयनों से उसने मुझे कहा— मेरा सब कुछ है— सर्वोत्तम कन्यारत्न और विक्रमादित्य देव स्वामी रत्नों के पात्र हैं। यह सुन्दरी उसे समर्पित करने का वचन देता हूँ। यह कहकर उस राजा ने मृगनयनी पुत्री दिखाई। वह विनयवती नाम की कमनीय थी, रात की शोभा का उपाख्यान (अभिव्यक्ति) थी। वह कन्या नवीन अमृत की झटकी लावण्य की वसुधा थी। तब उसे मैं आपके योग्य देखकर अत्यन्त चकित हो गया। उसके विवाह का

काम सम्पन्न करने के लिए मेधावी सिंहलराज ने तब आपके पास मेरे साथ दूत भेजा। दूत के साथ शीघ्र ही वाहन पर बैठकर सागर में किनारे के पहले देखा कि वाहन के दो टुकड़े हो गये। भुजाओं से सागर पर कर भाग्य से किनारे लगे। हे देव! वहाँ मैंने ललना देखी जो कामदेव की कामठी थी। उसके सामने मैंने स्वर्ण-रत्न जैसे अनोखे अंगों वाला हिरण देखा। चिरकाल से अज्ञात मारीच-मृग पुनः दिखा हो मानो। वे दोनों हाथ पकड़कर मुझे किसी भूमि पर ले गयीं। मेरे साथ वह दूत भी था। वह उस दिव्य उद्यान में सुशोभित हो रही थी।। 23-32।।

मैंने वहाँ देखा कि दिव्य तालाब के तट पर शिवजी की पूजा में मग्न श्रेष्ठ वधू है जो कामिनी है, कन्या है, जो यौवन की मंजरी है। सागर के जल से निकले शिवजी की पूजा करके सहस्रों दासियों के साथ वह सुन्दरी जाने लगी। उसके जाने पर उसकी दासियों से "यह कौन है"—यह अत्यन्त कुतूहल से मैंने पूछा। परन्तु जवानी के गर्व में अन्धी वे कुछ भी नहीं बोलीं। इष्ट देव के विरोध में वे अभिशक्त होने पर भी उपेक्षा करके वे विशाला धीरे-धीरे चली गयीं। जब श्रीविक्रमादित्य के चरणकमलों की सौगन्ध दी तो झट से वे काँपती हुई लड़खड़ाती हुई लौट आयीं। तब आकर उसने आपकी प्रशंसा करते हुए झुककर प्रणाम किया। प्रसन्न होकर स्तनों को सामने हाथ जोड़कर मुझसे बोली— सचमुच श्रीविक्रमादित्य तीनों लोकों का विजेता है जिसकी कृपा से मैं उस महाभय से मुक्त हो गयी। यह सुनकर मैंने मन ही मन चकित होते हुए उससे पूछा— हे भद्रे! मेरे स्वामी ने कैसे तुम्हारी रक्षा की? तब उसने आदरसहित कहा— सुनो नारी की समस्त आशाएँ देववृक्षों (कल्पतरुओं) की हैं कि जिस प्रकार विषमशील ने बड़े आदर के साथ मेरी रक्षा की।। 33-41।।

कुबेर का भाई सुप्रसिद्ध माणिभद्र है। उसकी मैं प्रिय पत्नी यक्षी मदनमंजरी हूँ। उस कान्त के साथ रमण करते हुए क्रीडानिरत पृथ्वी पर घूमकर विभिन्न उद्यानों की माला बनी मैं तब उज्जयिनी के वन-उपवन में प्रिय के द्वारा आलिंगनबद्ध होकर मदभरी प्रगाढ़ निद्रा में सोयी हुई थी। खण्डकापालिक नामक निकटवर्ती श्मशान के निवासी द्वारा कंकण पहनी मैं देख ली गयी। मुझे देखकर मन्त्रसिद्ध होने पर भी वह अचेत-सा हो गया। वृद्ध होने पर भी परम वृद्ध कामदेव से जीत लिया गया तथा विष से पके विषयों में बिना

foØekfnR; dFkk, ;@181

परहेज के चित्त वालों में अभिलाषा शान्त नहीं होती। तब मेरे पति के साथ अपने नगर में जाने पर उस खण्डकापालिक ने मेरे लिए मन्त्रसाधना की। उसके प्रबल मन्त्रों से मैं परेशान होकर काँपती हुई नागिन के समान पति के शरण में गयी। मुझ दुखी मुखकमल वाली की रक्षा करने में वह भी अशक्त था। तब कापालिक की हरकत की बात कुबेर को कही। तब कुबेर ने कहा कि मैं उसे रोकने में सक्षम नहीं हूँ। शक्तिशाली तेजस्वी मन्त्रों के लिए असाध्य क्या है? कुबेर के बाद मेरे पति ब्रह्मा की शरण में गये। उसने भी उससे कहा— यह महा दुर्जय है। इसे जीतना कठिन है किन्तु श्रीविक्रमादित्य उसे नष्ट करने में समर्थ है। भय के समय तुम्हारी पत्नी उस राजा को पुकारे।। 42-53।।

माणिभद्र जब ब्रह्मा की यह बात सुनकर अपने घर आया तब उस व्रती ने रात्रि में मुझे आकर्षित कर लिया। मन्त्रशक्ति से बुलायी गयी मैंने भीषण श्मशान में पहुँचकर उस घोर खण्डकापालिक को देखा जिसने घेरा बना रखा था। प्रेत समूह के महाकुण्ड में सरसों की आहूति फेंकते हुए उसे देखकर समस्त दिशाओं को मैंने ज्वाला के समान डोलते हुए देखा। जाल में फँसी मछली के समान मैं वहाँ उसके डर से व्याकुल हो गयी। मानो बन्धुओं द्वारा परित्यक्त कम्पन और आतंक से तरंगित हो रही थी।। 54-57।।

हे देव श्रीविक्रमादित्य! राजन् विषमशील! मुझ बेसहारा बाला की रक्षा करो—यह कहा। उसी समय वह कमललोचन राजा भी हाथ में खड्ग लिए वीरचर्या के लिए निकला था, उसके कुण्डल डोल रहे थे, वह साकार उत्साह था मानो, विक्रम(शौर्य) मानो सामने आ गया है। गम्भीर, मधुर और उदार दृष्टि से मानो शांति दे रहा हो। दाँतों की किरणों के संग्रह से अन्धकार को चीरते हुए मुझे आश्वासन देकर उसके अनुशासन में सामने उपस्थित उस अग्निशिख वेताल को उसे तत्काल पकड़ने के लिए आदेश दिया। उस अग्निशिख नामक वेताल ने तेजी से खण्डकापालिक को घसीटकर पीस डाला। उस छली बाधक ने प्राण त्याग दिये। राजा जब राजधानी में चला गया। तब भूत-वेताल की मण्डली हठपूर्वक निर्भय होकर खण्डकापालिक को खाने के लिए आ गयी। तब वह सब यमशिख नामक वेताल ले जाने लगा तो क्रोध से तीखे स्वर में अग्निशिख उससे बोला।। 58-64।।

182@foØekfnR; dFkk, ;

इस बुरी कीर्तिवाले को तू अकेला ही मत ले जा। हे मित्र! तुझे विक्रमादित्य के चरणकमलों की सौगन्ध देता हूँ—यह सुनकर वह रुक गया। कौतुक से विचलित मन वाले उस यमशिख ने उस राजा का प्रभाव अग्निशिख से पूछा। वह बोला— प्राचीनकाल में आधी रात में डाकिनीक नामक जुआड़ी महामांस विक्रय करता इस श्मशान में आया।। 65—67।।

उसने सात दिन मुझे साथ लेकर बेधड़क धन, रूप, बल दिया। उसका कारण पूछने पर वह छलिया बोला— धूर्तो ने मुझे जीत लिया। अब जुआड़ियों के बीच मैं धूल-धूसरित और दिगंबर देह (शरीरमात्र वाला) कहलाता हूँ। मैं गूंगा पथराया योगी के समान एकटक देखता रहता था। वे मित्र डाढ़ी-बाल खींचकर लुढ़काते (घसीटते) हैं, नमक के पानी का छिटकाव करते हैं जिनकी पहले सेवा की थी। बहुत उपवास के कारण बिना साँस का हो गया। मुझे बलपूर्वक कुए में फेंक दिया। नरक से बढ़कर दुःख का वह घर बन गया।। 68—72।।

वहाँ मैंने विकट आकार के दो ब्रह्मराक्षसों को देखा। मुझे देखकर मेरा विवरण सुनकर बोले— हमने पहले अपने मन्त्र से वणिक की दो बेटियाँ हरण कर लीं, जब हम मन्त्र-औषधि के बल-क्रम का उपभोग कर रहे थे। तब राजा विषमशील की दृष्टि से हम दोनों कन्याएँ त्यागकर इस अन्धकूप में गिर गये। उसकी बतायी वर्ष भर की अवधि तो हमारी बीत गयी। एक सप्ताह शेष है। अब सप्ताह भर का भोजन दो तो तुम इस डर से मुक्त कर दिये जाओगे। यह सुनकर भूख दूर करने का उन्हें वचन देकर उस कुँए से बाहर फेंक दिया गया और तुम्हारे सामने आ गया। तुम्हारे रूप और तुम्हारे बल से ही उन्हें वांछित भोजन देकर लौटकर तुझे अपना रूप और बल दे दूँगा। यह कहकर मेरे बल जैसा दोनों राक्षसों को अपने झुंड के जुआड़ियों को भोजन में जल्दी-जल्दी देता रहा। यह देकर उसने आकर मुझे अपना रूप और बल दे दिया। पुनः उन दोनों ने भोजन माँगा तो उसने मुझ कौतुक करने वाले को ललकारकर कुँए में डाल दिया। वहाँ मुझे उन दोनों राक्षसों ने भुजाओं के पींजरे में पकड़ लिया। तब पूरी धरती को कँपाते हुए मैंने चिरकाल तक युद्ध किया। तब मैंने उन दोनों को युद्ध के श्रम से शरीर को विश्राम दे दिया। अपना वृत्तान्त कहकर थोड़ी देर के लिए लज्जा से झुका रहा। तब मुस्कराते हुए एक ब्रह्मराक्षस बोला— अरे इस जुआड़ी ने तो हमें

माया से छल लिया। ऐसे ही साहसी छली होते हैं। यहाँ मैं टेंटाकराल का विवरण कहता हूँ।। 73—84।।

एक टेंटाकराल नामक जुआड़ी छल (से बची) अवधि में सदा महाकाल सदन में रात में स्वयं दीपक के घी से चुपड़कर मालपुए या रोटियों का भोजन कर लेता था। महाकाल की प्रतिमा के दीए के लिए नियुक्त अनुचरों से बोला— इस लम्बी रात में अपनी माला से द्यूतक्रीड़ा हो। यह कहकर उसने अनोखी पाँच कौड़ियाँ फेंकीं। अपनी कल्पना की वाणी से पलभर में “यक्ष जीत गया” — यह बोला और उससे बेधड़क एक हजार स्वर्ण माँगे। उसे निरुत्तर देखकर “तुझे कुँए में फेंक दूँगा” — यह कहा तो डर से परेशान होकर उसने स्वर्ण दे दिये। तब लगातार कह-कहकर त्रास देते हुए प्रतिमा के गणों और वेतालों को जीतता गया जो बराबर स्वर्ण देते रहते थे। तब किसी समय भगवान् महाकाल ने उससे कहा— हे पुत्र! हे वीर! इस बुद्धिमत्तापूर्ण व्रत से सन्तुष्ट हूँ। इस तालाब के तीर्थ पर जा। यहाँ सुरसुन्दरियाँ क्रीडा कर रही हैं। वे स्नान के लिए आयी हैं। उनसे कन्या प्राप्त कर।। 85—92।।

शिवजी की यह आज्ञा पाकर जाकर उसने देवांगनाएँ देखीं। उनके कपड़े हरण कर लिए तो उन्होंने उसे कन्या दे दी। वह कन्या कलावती सर्वांगसुन्दरी थी। उस स्वर्गसुन्दरी को पाकर शंकर के वरदान से ऊर्जा पाकर उदार काम का आनन्द लिया और प्रशंसा की। प्राचीन काल में इन्द्रसभा में मानव स्थिति की थी उसने। अतः शाप से वह मानव की संगिनी हो गयी। एक बार स्वर्ग में नाच के समय अपने कौतुक के इच्छुक उस प्रिय को नीलकमल बनाकर कान में लगाकर बेहिचक ले गयी। वहाँ उसने बड़ी-बड़ी आँखों वाली रम्भा को नाचते देखा। वह गन्धर्व के गीत के अनुसार कलात्मक ताल-लय से प्रेरित नाच रही थी। तब वहाँ इन्द्र के सामने हास्य के लिए नाचते बकरे को देखा। वह बहुत बड़े आकार का था। ईश्वर को मुस्कराहट अच्छी लगती है। मुनिशाप से बकरे के रूप में गन्धर्व को देखकर—यह तो वही आदमी का आचरण कर रहा है यह चित्त में आया। बड़े अचरज से यह सब देखकर वह स्वर्ग से भोगभूमि पर आ गया। तब से वह समर्थ टेंटाकराल अपनी प्रिय पत्नी को और अधिक मानने लगा।। 93—100।।

तब उसी जुगाली करते पत्तों जैसी दाढ़ी वाले अज को उज्जैन में दुकान के सामने आराम से बैठे हुए देखा। उसे देखकर टेण्टाकराल ने कहा— हे मित्र! देवनगरी में जो हास्यभरा नाच मैंने तेरा देखा था, वह मुझे बता। यह कहकर उसके मना करने पर क्रोधित होकर गर्व से उस अज को लट्ट मार दिया। तब तो वह खून से लथपथ हो गया। तब इन्द्रनगरी जाकर देवेन्द्र को उसने जुआड़ी की करतूत निवेदन कर दी। तब क्रोध से काँपता वह बकरा शाप से मुक्ति पाकर गन्धर्व बन गया। तब अनीति करने वाली कलावती से इन्द्र ने कहा धिक्कार है तुझे कि उदण्ड मनुष्य को तू यहाँ ले आयी। अतः बहुत समय तक तू लकड़ी की नारी (पुतली) हो जा। नरसिंह नामक राजा ने नागपुर में जो देवालय बनवाया है। उसमें भीत पर पुतली हो जाएगी तू। कालान्तर में जब वह देवालय नष्ट हो जाएगा तब तेरे शाप का अन्त हो जाएगा। तब पुनः अपना पद प्राप्त कर लेगी। इन्द्र ने यह शाप दिया तो वह सिर झुकाकर दुखी खड़ी थी। उसने टेण्टाकराल को आकर अपने शाप की बात कह दी।। 101—109।।

अपने कार्य के कारण उसको शाप का विवरण जानकर और यह देखकर कि देवालय के स्तम्भ के छोर पर वह पुतली की आकृति बन गयी है। उसने बकरे के दुःख की अग्नि से परेशान अपने साहस की निन्दा करते हुए वह रत्नराशि लेकर तेजी से नागपुर पहुँचा। उसने रत्नों से भरे कलश धरती में गाड़ दिये। व्रत का छल कर रहने लगा और वहाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हो गया। समस्त प्राणियों की भाषा का जानकार है यह इसलिए राजा ने भी सत्कार किया। उसने राजा को रत्नों से भरे पाँच कलश (भूमिगत) बताये। इस विश्वास से वह राजा उसे सर्वज्ञ शिव के समान मानने लगा और उसके पास आकर नित्य प्रणाम करने लगा। एक बार राजा के साथ वह देवालय दर्शन के लिए आया। उसे देखते ही वह लकड़ी की पुतली आँसू बहाने लगी। तब उसने राजा से कहा— अमंगल शान्त हो, शांत हो। जल्दी से इस देवालय को (नष्ट कर) चूर—चूर कर डालो। यह सुनकर राजा ने पूछा— भगवन् बताइए, आपने क्या अनिष्ट देखा? तब उसने कहा— कहना तो नहीं चाहिए। फिर भी सुनो। इस देवालय के रहने पर तुम्हारी आयु के बराबर पृथ्वी रहनी है। इसी समय इस विशाल मन्दिर को नींव सहित नष्ट कर दूसरा मन्दिर बनवाओ। यह कहकर वह चुप हो गया। तब उसकी बात

foØekfnR; dFkk, i@185

मानकर शीघ्रता से उस देवालय को तोड़कर राजा ने स्वर्ण और रत्नों से पूर्व से अधिक चमकदार दूसरा मन्दिर बनवा दिया। तत्काल शापमुक्त होकर वह कलावती स्वर्ग में पहुँच गयी। राजा इन्द्र चकित हो गया तो उसने अपना विवरण बता दिया। टेण्टाकराल ने अपनी बुद्धि से, तरकीब से उसे शीघ्र ही शाप से मुक्ति दिला दी। यह सुनकर सन्तुष्ट होकर इन्द्र ने बुलवाकर उसे लक्ष्मी प्रदान की। टेण्टाकराल के चरित की प्रशंसा से मुखरे मुखर वाले बृहस्पति ने तब हँसकर इन्द्र से कहा— ऐसे बुद्धिमान होते हैं जुआड़ी। प्राचीन काल में एक कुट्टिनीकपट नामक द्यूतकार था। समस्त पापों के समूह का नरकभूमि की रक्षा द्वारा वह मर गया। उसकी गणिका पत्नी थी। एक बार यमनिवास में देवार्चन से एक दिन का इन्द्र पद मिल गया। पूछने पर उसने एक दिन का इन्द्रपद पहले भोगना चाहा। वहाँ बुद्धि से तप करके दान देते हुए शिवपूजा का व्रत किया। समस्त तीर्थों में स्नान कर वह बहुत समय तक इन्द्र बना रहा। इसलिए जुआ खेलने वाले महाशय धूर्त ही होते हैं। गुरुजी की यह बात सुनकर इन्द्र चकित हो गया।। 110—128।।

AA Vs Vkdjky vk[; kf; dk i wkZgpZAA1AA

ब्रह्मराक्षस से जुआड़ी की यह कथा सुनकर डाकिनीक से ठगा गया जब वह अपने आश्रम में गया। तब किसी समय भूख से त्रस्त होकर उसने रात में एक ब्राह्मण को पकड़ लिया। वह चिल्लाया और स्वामी विक्रमादित्य को आवाज लगायी। यह सुनकर राजा ने पहुँचकर तत्काल उसे मार डाला। शरणागत की दयानिधि ने तत्काल रक्षा की। तब से मैं उस स्वामी राजा का दास हूँ। अग्निशिख का यह विवरण सुनकर यमशिख ने चकित होकर मन से हाथ जोड़कर विक्रमादित्य को प्रणाम किया।।129—132।।

AA ^[k.Mdki kfydo/k* I eklr gp/kAA 2AA

186@foØekfnR; dFkk, i

इस प्रकार राजाओं के सिर जिसके पैरों को चाटते हैं, ऐसे उस राजा विक्रमादित्य ने मेरी रक्षा की तब अपने प्रिय पति को पाकर शान्ति प्राप्त की। उस यशोनिधि राजा की कीर्तिपताका के समान मैं इस यक्षपुर में रहती हूँ परन्तु तीनों लोकों में विचरण करती हूँ। सिंहलराज ने वीरांगना पुत्री विषमशील के लिए भेजी है। यह जानकर कि शक नामक म्लेच्छ पापी हरण के लिए तैयार हैं, अतः जो आपके योग्य हो वह करना चाहिए। इस प्रकार उस पर भक्ति की जो भावना है कि वह उन्हें मार डालेगा। वह यक्षी यह कहकर दिखाई देती रही। वे दोनों दिव्य कान्ताएँ और वह स्वर्णमृग—उनका विवरण मेरे पूछने पर उस यक्षी ने मुझे फिर कहा— प्राचीन काल में घण्ट और निघण्ट नामक दानवराज हुए।। 133—138।।

प्रजापति ने उन्हें तीनों लोकों का काँटा मानकर कान्ति की सर्वस्व ये दोनों कन्याएँ बनवायीं। इन्हें देखते ही वे दोनों कामाग्नि से जल उठे और मेरी ही हैं, मेरी, ही हैं, कहते हुए आपस में फूट पड़ने से नष्ट हो गये। तब ब्रह्माजी ने ये कन्याएँ कुबेर को सौंप दीं और कहा कि उचित व्यक्ति को दी जाएँ। तब स्वयं कुबेर ने माणिभद्र के घर में इन्हें रखा। उसने भी कहा— इनका मैं पालन करूँगा। गुण किसे नहीं वश में कर लेते? इन दोनों का उचित पति विक्रमादित्य देव ही है। और यह प्रसन्न करने वाला स्वर्णमृग उसके ही योग्य है। खेलने के कौतुक से मृगशीर्ष नक्षत्र को जयन्त जब खींचने लगा— यह देखकर इन्द्र चिन्तित हो गया। उसने विश्वकर्मा का ध्यान किया। उसने स्वर्ण का मृग बनवाया और अमृत से उसे जीवन दिया। प्राचीन काल में रावण ने जब स्वर्ग को जीता तो इन्द्रजीत उस स्वर्णमृग को अपने साथ लंका ले गया जो रत्नों से भरे तोरणद्वार वाली है। कालान्तर में राम द्वारा रण में रावण के मारे जाने पर उत्सव के अवसर पर विभीषण ने यह मुझे दे दिया। सो इस रत्नमृग और ये दोनों सुलोचना कन्याएँ तुम विक्रमादित्य देव के लिए ले जाओ और उन्हें दे दो! तब उससे विदा लेकर मैं विदर्भ के राजा के पास पहुँचा। वह आपके शासन में रहने का व्रत लिये हुए वीर है। उसे मैंने सब बताया।। 139—149।।

AA ; {khl ekxedFkk i wK/gpAA 3AA

foØekfnR; dFkk, i@187

इस बीच वे पापी म्लेच्छ शक राजा एकत्र हो गये। यह जानकर कि उसके (राजा विक्रमादित्य के) लिए सिंहलराज की बेटा आ रही है। वे विशाल सेना से दिशाओं के छोर को आच्छादित कर मार्ग रोककर खड़े हो गये। तब उनका विदर्भराज विक्रमादित्य के साथ बहुत समय तक युद्ध होता रहा जिसे देवगण चकित होकर देखते रहे। तब यक्षसेना के साथ वह यक्षपुत्री विजयश्री के लिए विदर्भाधिपति की सेना में घुस गयी। तब रणक्षेत्र में शत्रुओं के नष्ट होने या भाग जाने पर समस्त उसके अधीनस्थ राजा आ गये। सिंहलराज की पुत्री और वे दोनों देवकन्याएँ समस्त राजाओं के साथ विवाह के लिए आ गयीं। यहाँ से वह सेना की छावनी तीन योजन दूर है। इसलिए हे देव! उनकी अगवानी वहीं पर करें। अनंगदेव की कही बात सुनकर राजा ने आदेश दिया कि यात्रा—सम्बन्धी नगाड़े बजाकर महान् उत्सव मनाया जाए। तब गजसेना के गर्जन से दिशाओं को भरते हुए अपने नगर से अधिक दूर न जाकर राजाओं को उसने देखा। बन्दीगण पहले देश—देश के राजाओं के नाम बताते फिर वे प्रणाम करते। तब उसने वरण करने वाली सुमुखी को देखा। उस मृगनयनी सिंहलराज की पुत्री को देखकर रति के सौभाग्य रूप पति होने से गर्वित कामदेव को भी उसने छला हुआ समझा। तब राजा ने उस चन्द्रमुखी से विवाह कर स्वर्ण, मोती, रत्न के पर्वत के समान दिव्य ढेर सहित उन दोनों देवांगनाओं से भी विवाह किया। मानो कामदेव के सौभाग्यों की वे दोनों कुल की अधिदेवता हों। रत्नों की कान्ति से अनोखा दिव्य हरिण भी पाकर अपने अनुचरों और प्रियाओं के साथ अपनी नगरी में राजा ने प्रवेश किया। उनके साथ मनमाना संभोगसुभग सुख से रहने लगा। तब किसी ब्राह्मणकुमार ने चित्रांकित पुतली को देखा। उस तीनों लोक के उन्माद की ओषधि को चित्रफलक पर देखकर उसने स्वप्न में उसे ही अपने अंक से लगी देख लिया। उस चित्रांकित नग्न कृपणकाधारिणी का उसे ज्ञान हुआ कि वह मलय के निवासी राजा मलयसिंह की पुत्री है। उस मलयवती कान्ता को जो रति में विलासोत्तम थी। उस मृगनयनी को उसने अमात्य के साथ स्वयं जाकर प्राप्त किया।। 150—166।।

AA dU; kprqV; i kflr I Ei wkAA4AA

188@foØekfnR; dFkk, i

तब कान्ता को लेकर अपनी नगरी में राजा के विक्रमादित्य के आने पर पूरे जगत् में उत्सव हो गया। तब उसकी पटरानी देवी कलिंगसेना क्रोध से ईर्ष्या से दूषित होकर गणों का प्रेमापराध कर बैठी।।167–168।।

उसने पति के भ्रमणशील देवसेन नामक वीर कार्पटिक से कहा— भैया! तुम्हारे स्वामी की अनेक पत्नियाँ हैं। पहले कभी मेरे जैसी उकेरी गयी सालभंजिका (पुतली) को देखकर कलिंगराज को जीतकर उस विजेता ने मेरा अपहरण कर लिया। पहले तो राजकुमारियाँ, फिर नितनूतन यौवन वाला प्रिय कान्त सौभाग्यसेवन करता हुआ किसके वश में हो सकता है? देवी की यह बात सुनकर कार्पटिक ने कहा— देवि! दिव्य नारियाँ देव के पास स्वयं आती हैं। पहले कभी उच्चैःश्रवकुल में उत्पन्न अश्व पर बैठकर आखेटप्रेमी राजा श्रीविक्रमादित्य आखेट हेतु गया। वह अश्व राजा को पवनवेग से वन में ले गया। मैं अकेला पीछे—पीछे तीन सौ योजन तक गया। मन्त्र से संतुष्ट यक्ष ने पहले कभी मुझे पैरों का लेप दिया था। उससे दूर तक की भूमि मैं पलभर में पार कर लेता हूँ। सूर्यास्त के समय राजा ने मुझसे कहा— चिरकाल से मेरा सेवक वह्निशिख है। पहले कभी ब्राह्मण के घर से चिल्लाने की आवाज आने पर रात का विचरण त्यागकर प्रसंग से मैं निकल पड़ा। विशाल संकट से मैंने वेताल की रक्षा की थी। तब से वह मेरा दास बनकर सर्वत्र आज्ञाकारी हो गया।। 169–178।।

यह कहकर राजा ने ध्यान किया तो मैंने उसे सामने देखा। वह वेताल प्रबल विकट जलती आग के बालों वाला था इसी बीच फलाहार से मैं भारी बीमारी में पड़ गया। द्रव्यों की स्वाभाविक शक्ति को कौन देख सकता है? तब राजा ने शीघ्र ही गाँव के ठाकुर शबरराज से नम्र निवेदन किया कि सिद्धि द्वारा रोग से मुक्ति दे दे। पहले कभी वानर द्वारा दी गयी अपूर्व शक्ति वाले फल से उसकी आयु सत्रह सौ वर्ष हो गयी थी। उसने भी पहले मार्ग में उद्यान में (उछलते) वानर को देखा था जो दीनता से देखते हुए बार—बार पैरों पर गिर रहा था। उसके इशारे समझते हुए मतलब समझ गया। दिशाएँ देखकर उसकी पत्नी को उससे लगी वृक्षशाखा में बन्द लिपटी हुई देखा। तब उसे छुड़ाया तो वानर प्रसन्न होकर नाचने लगा और प्रसन्न होकर उपकार के बदले उसने फल शबर को दे दिया। जिससे वह चिरजीवी हो गया। इस प्रकार उस शबर स्वामी की राजा ने प्रार्थना की तो उसने किसी दिव्य

foØekfnR; dFkk, ;@189

औषध से मेरा शरीर स्वस्थ कर दिया। मेरी घोर बीमारी दूर कर शबरराज ने अपनी स्मरमुक्तावली नाम की कन्या राजा को दे दी।। 179–188।।

AA 'kcjjkti q-hykhk | Ei wkAA5AA

इसी बीच हाथी और वराह गर्व से झपटे, राजा ने उन्हें तत्काल मार डाला। वे शापमुक्त हो गये। यह उजालदान के सामने सोयी वणिकपुत्र की सुलोचना पत्नी को मैं पहले कभी अंगुलियों से खींचकर ले आया। यह कहकर उन दोनों में से एक गजरूप विशाल भुजा वाला उसको (कन्या को) छोड़कर, रखकर, पलभर में दूसरे वराह के साथ आकाश में चला गया। उन दोनों के शापमुक्त होकर जाने पर वाणिकवधू को राजा ने पुत्री के समान आश्वासन देकर उसका भारी भय दूर किया। (189–192)

AA xt&ojkg&'kki eqä | Ei wkAA6AA

इसी बीच प्रातःकाल रूप, यौवन, लावण्य, विलास की समूह दो कन्याएँ दिखाई दीं। तब कुतूहल से उनके अनुचरों से मैंने पूछा। तब वे बोलीं— कटाहद्वीप के स्वामी की पुत्री है यह कमलनयना। सप्तद्वीप के स्वामी की यह जगत्प्रसिद्ध पत्नी बनेगी और इसके मामा की बेटा है दूसरी मृगनयनी। ये दोनों इनके माता—पिता द्वारा राजा विक्रमादित्य के लिए भेजी गयी हैं। सागर में जलयान के टूट जाने पर जलचर इन्हें निगल गया था। विधाता की अनुकूलता से धीवर द्वारा विदीर्ण करने से मत्स्य से मुक्त हो पायीं। उनके परिजनों ने जब पूछा कि क्या यही वह श्रीविक्रमादित्य है? तब मैंने उन्हें कहा— यही वह कमलनयन राजा है जिसके लिए आप लोग राजकन्याओं के पीछे—पीछे आये हैं। मेरी यह बात सुनकर उन्होंने राजा को प्रणाम करके प्रसन्न होकर विषमशील को दोनों राजकुमारियाँ दे दीं। (193–199)

AA jkti i{h}; ykhk | Ei wkAA7AA

उन दोनों कन्याओं ने तब विश्वकर्मा देवालय पहुँचकर प्रवेश करके उकेरी हुई अत्यन्त कमनीय पुतली देखी। नेत्रों को आनन्द देने वाली सुधा उसे देखकर चकित होकर विषमशील देव भी कामाग्नि से घिर गया। उसने वेताल से बड़े अचरज से पूछा— यह कौन है? तब कारीगर ने कहा— हे देव!

190@foØekfnR; dFkk, ;

कलिंगराज की पुत्री को देखकर वैसी ही आकृति की यह कलिंगसेना के रूपाकार की शालभंजिका बनायी है। वेताल की यह बात सुनकर उसे पाने का मन करके कलिंगयात्रा के प्रस्थान की ओर राजा अग्रसर हो गया। इसी बीच वणिकपुत्र ने आकर उसे बताया— देव! राजमहलवासिनी मेरी पत्नी का नाग ने हरण कर लिया।। 200–205।।

गजेन्द्र द्वारा प्रिया विलासवती को अपहृत देखकर मैं व्याकुल हो गया। तब दुःख से संतप्त मेरे पास कोई ब्राह्मण आया और आश्वासन देते हुए बोला— मित्र! दुःख मत कर। इस भवसागर में कर्म के पवन से चक्कर खाते हुए शरीरधारियों के संयोग और वियोग स्थिर नहीं रहते। ताम्रलिपि में ब्राह्मण देसट का पुत्र केसट हुआ जो साकार कामदेव था। किसी समय तीर्थयात्रा में जाते हुए मार्ग में उसने देखा— विशेष उचित वेशभूषा वाले अन्यत्र जाते ब्राह्मण हैं। उनमें से एक वृद्ध सुन्दर आकार के केसट से बोला— हे भद्र! वृद्ध के इस काम में सहायक बनकर मेरे मित्र बन जाओ। मेरा एक पुत्र है। उसकी नाक टेढ़ी, मुख विकट, पेट मोटा, लम्बी गर्दन, निकले दाँत, गंजा और दुबला है। उसके लिए धन के लोभी मैंने महाधनी विप्र से उसकी धनशालिनी रूपवती पुत्री की याचना की। आज ही रात में विवाह उपस्थित हो गया है। वहाँ मेरे कुरूप पुत्र को देखकर वह न जाने क्या करेगी? तुम कामदेव जैसे आकार के हो। अतः तुम मेरी सहायता करने योग्य हो जिससे मेरे पुत्र के लिए विवाह में कन्या प्राप्त कर लो। यह सुनकर साफ दिल के केसट ने कहा— “ठीक है”। दूसरों के उपकार का वचन देकर पीछे नहीं हटते। तब पगड़ी, फूलों की माला से सेहरा पहनाकर कामदेव की आकृति के उस केसट को ब्राह्मण के घर ले गया। विवाहभूमि में पहुँचकर उसने ब्राह्मणकन्या को देखा— रूप, यौवन और लावण्य से दुगुनी विभूषित हो रही थी। वह सखियों के साथ दो कन्याओं की दृष्टि थी। कटाक्ष किरणों से उत्सव में मानो खिले नीलकमलों की माला पहना रही हो। उस कन्या को देखकर मुस्कुराते केसट के मन में आया— अहो! इस कन्या को देखने से मेरे नेत्र धन्य हो गये। तब रूपधारी शृंगार के समान केसट को देखकर, जो जाँघों तक लम्बे हाथ, लम्बी आँखों, मानो आभा से भरा हुआ है। उसकी दोनों सखियों ने दुलहे के कान में धीरे—से कहा— एक का नाम अनुरागवती है और दूसरी का शृंगारवती है। वह रूपवती धन्य है जिसका तू सुन्दर श्रेष्ठ

वर है। हम दोनों से भी तुम पाणिग्रहण का उत्सव कर लो। ऐसी स्वेच्छाचारी बात सुनकर निःश्वास लेकर वह फिर सोचने लगा। मैं मानता हूँ कि अन्य जन्म में मेरा आप तीनों से संगम होगा। यह सोचकर रात में नदी के तट पर लग्न आने पर पानी से निकलते हुए उसने एक पिशाच को देखा। उस दुर्बल को देखकर कौतुक से देखा कि यह क्या करता है? रूपवती को नहीं खाया। धीरे—धीरे उसके पास ही आया। नदीतट पर राक्षस को पाकर वह कन्या भी उससे बोली।। 206–227।।

संत्रास, आतंक और दुःख को विधाता ने हाथ में रख दिया था मानो। हे स्वामी! राक्षसपते! मेरे कान्त को छोड़ दो, मुझे खा लो। सच तो यह है कि इस वियोग के जीवन से तो मेरा मरना ही अच्छा है। यह सुनकर राक्षस बोला— हे अबल! स्त्री नहीं मारी जाती। उस स्त्री ने कहा— विना पति के मेरी जीविका क्या होगी निशाचर! वह मुस्करा कर बोला— हे सुन्दर भौंहों वाली! तब सदा भिक्षा से जीवन चलाना। उसने भी राक्षस से कहा— मुझे कौन देगा? वह राक्षस तब बोला— जो तुझे नहीं देता उसके सौ टुकड़े हो जाएँगे। तब रूपवती ने कहा— तुम ही मुझे पति की भिक्षा दे दो। उसके मना करते ही उस राक्षस के सैकड़ों टुकड़े हो गये। पति को छुड़ाकर उसके साथ घर जाकर रात भर उसके मुख पर एकटक नजरें टिकाये रही। प्रातःकाल जान(बारात) की यात्रा के आरम्भ में वृद्ध ब्राह्मण उस नववधू को नाव से ले जाने लगा। इस केसट को देखकर मेरा कुरूप पुत्र इसे अच्छा या प्रिय नहीं लगेगा। यह सोचकर उसने धोखे से उसे नदी में फेंक दिया।। 228–235।।

वह तरंगों के थपेड़े में भटकता हुआ तीन दिन बाद वियोग जल में डूबता—उतराता कठिनाई से तैरता हुआ किनारे लगा। वहाँ शशांकवती का ध्यान करके वह त्रास से सूख गया। देखकर छिप जाने से विधाता ने मानो छल लिया। तब सूर्य के ढलने पर दिशाओं के अन्धकारसमूह के शोक द्वारा संदेह में डाल दिये जाने पर चमकदार रत्नों के गहनों जैसे स्वर्ग से गिरते हुए भरपूर यौवन से परिपूर्ण पुरुष को देखा। वह दोनों आँखों का विश्राम था मानो। कान्ता के विरह से पीड़ित केसट ने अपना विवरण बताकर प्रेम से भरे उस व्यक्ति से पूछा— आप कौन हैं? पूछने पर उससे लेकर धैर्यधारण करके बोला— इस (मानसिक) विकार को छोड़ और तेरे जैसी मेरी कथा

वह सदा तेरा आदर करता है। कार्पटिक की कही बात सुनकर और देखकर मृगनयनी कलिंगसेना ने सौभाग्य के गर्व की शिथिलता को त्याग दिया। तब श्रीविक्रमादित्य ने पूरी पृथ्वी का पालन करते हुए अपने यश से दिशाओं को कपूर के समान सफेद कर दिया। इसी बीच किसी राजकुमार ने आकर शत्रुविजेता विषमशील की बारह वर्ष तक सेवा की। कार्पटिक (यात्री) का व्रत धारण किये उस राजकुमार को बहुत समय तक सेवा में लगा देखकर विक्रमादित्य ने खण्डकपट नामक नगर का उसे राजा बना दिया। वह नगर समस्त ऋतुओं के फलों से सम्पन्न था, वहाँ मणियों व काँच के महल थे, वहाँ समस्त मनोकामनाएँ पूरी होती थीं। उसे देखकर वह चकित हो गया। वहाँ से लौटने पर स्वामी(विक्रमादित्य) ने उसे पुनः चारों सागरों तक फैली पृथ्वी का चौथा भाग दे दिया ॥ 253-259 ॥

इसी बीच रोमांचित शरीर वाले विक्रमादित्य देव को पुनः किसी ने आकर सूचना दी— मैं कृष्णशक्ति नामक ब्राह्मणपुत्र हूँ। ससुराल में स्थित पत्नी को लेकर आया हूँ। मित्र के द्वारा पकड़ी गयी घोड़ी पर बैठी थी। वह छिपी शाकिनी (डाकन) मेरी भार्या तत्काल उस घोड़ी और उस मनुष्य को खा गयी। रक्त से भरे उसके विशाल मुख को देखकर मैं भय से विह्वल होकर हे देव! आपकी शरण में पहुँच गया। अब स्वामी ही प्रमाण हैं, जैसे चाहें वैसा करें। यह सुनकर राजा के मुस्कराने पर उसकी आज्ञा से शाकिनी नष्ट हो गयी। इस कथा के मध्य मन्त्री ने राजा से कहा— हे देव! नारियाँ समस्त पापों का घर हैं, वे अत्यन्त क्रूर होती हैं। अग्निगर्भा नाम की ब्राह्मण की प्रिय भार्या थी। वह चोर से प्रेम करती थी। प्राचीन काल में जब चोर को सूली पर लटका दिया तो स्नेह, दुःख, और काम के आवेश में उसने उससे आलिंगन किया और चूम लिया। तब उस शव के शरीर में वेताल ने प्रवेश कर उसकी नाक काट ली। कटी नाक की वह जाकर पति के आँचल में जाकर लग गयी। इसने मेरी नाक काटी। मेरा कोई अपराध नहीं है। इस प्रकार जोर-जोर से वेदना से चिल्लाती हुई माता-पिता के साथ जाकर राजा को निवेदन किया। राजा के आदेश पर उसके पति को तत्काल बन्दी बना लिया गया। वहाँ स्थित किसी दिव्य पुरुष ने सब असल बात बताकर उसकी रक्षा की। हे देव! कलकित पापी नारियाँ ऐसी होती हैं ॥ 260-269 ॥

उसके ऐसा कहने पर राजा से मूलदेव ने कहा— हे देव! नारियाँ केवल पापिन ही नहीं होतीं, सज्जन भी होती हैं, साधवियाँ भी होती हैं। मेरी प्रसिद्धि सुनकर “धूर्तगण मुझे बलपूर्वक नहीं पा सकते” इसलिये नियम में बँधी और विवाह में सदा आशंका वाली उसे पहले कभी मैं प्रसिद्ध धूर्त हूँ। अतः तरकीब से धूर्तों द्वारा अविजित उस ब्राह्मणपुत्री को छद्म वेश में मैंने विवाह में प्राप्त कर लिया। तब विवाह होने पर बुद्धि की अभिमानीनी को मैंने बताया— अरे छली गयी! जाता हूँ मैंने तुझे जीत लिया। यह कहकर जाते हुए सदा मुस्कुराने वाली उसने कहा— जा मेरा बेटा शीघ्र ही तुझे बाँध लेगा। उसकी यह प्रतिज्ञा सुनकर मैं अपनी नगरी में चला गया। समय बीतने पर कभी वह छिपकर उस नगरी में आयी। उस पृथ्वी पर वह वेश्या के बहाने छिपकर ठहर गयी। अपनी बुद्धि से उसने आये समस्त कामीजनों को लौटा दिया। प्रथम प्रहर में स्नान, द्वितीय में भोजन का क्रम, तृतीय में मण्डन करना, चतुर्थ में कहानियाँ उसके सेवकगण कहते हुए कामियों को टगते रहे। वह अपनी शीलरक्षा में लगी हुई मुझसे मिलने की आशा में ठहरी रही। नयी गणिका आयी है — यह सुनकर उस पर शंका न करते हुए काममोहित होकर मैं कामुक बनकर उसके घर में प्रवेश कर गया। उसने मुझ प्रौढ को पहिचानकर मेरे साथ संगम किया और मुझसे गर्भ पाकर छिपकर अपनी नगरी में चली गयी ॥ 270-280 ॥

समय आने पर उसने पुत्र को जन्म दिया। वह चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा। उस सिद्ध बालक ने माता के घर से आकर द्यूत में मुझे जीत लिया। अनेक प्रकार के धन के बदले मुझे बाँधकर वह अपनी माता के पास ले गया। तब उसने मुझे हमारे संगम के बारे में बताया और कहा कि मैंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली। अब आप ही प्रमाण हैं, देख लो। यह कहती हुई उस कान्ता को मैंने सत्यवादिनी पाया। हे देव! ऐसी सत्यपरायण पतिव्रताएँ होती हैं। राजा को मूलदेव यह कहकर चला गया। तब श्रीविक्रमादित्य ने शीघ्रता से सबको जीत लिया। म्लेच्छों, कम्बोज, यवन, नीच हूण, बर्बर, तुषार, पारसी आदि को जिन्होंने आचरण त्याग दिये, जो बेलगाम, उददंड हैं —उन सबको भौंह के इशारे मात्र से मारकर पृथ्वी का भार दूर कर दिया। इस प्रकार सत्यसम्पन्न लोग इच्छित को प्राप्त कर लेते हैं। हे नरवाहन! उस धैर्यवाली कान्ता को तू प्राप्त कर लेगा और लक्ष्मी भी प्राप्त कर लेगा।

प्रियतमा के विरह की अग्नि से तपे हुए उस मुनि की वाणी में कही गयी
कथा को सुनकर नरवाहन धीरे-धीरे अपनी नगरी की ओर जाते हुए वनभूमि
में विचरण करता रहा ॥ 281-288 ॥

AA {keUnzfojfp cgrdFkke ˆtjh enfo"ke'khy uked
nl ok yEcd I Ei wkAA

i fff'k"V&1
dFkl fjRI kxj%
AA enue ˆppk uke "k"BlkyEcd%AA

AA i FkeLrj 3x%AA

तथा च कथयाम्यत्र शृणु चित्रामिमां कथाम् ।
अस्तीह भुवनख्यातावन्तीषूज्जयिनी पुरी ॥135 ॥
राजते सितहर्म्यैर्या महाकालनिवासभूः ।
तत्सेवारससम्प्राप्तकैलासशिखरैरिव ॥136 ॥
सच्चक्रवर्तिपानीयः प्रविशद्वाहिनीशतः ।
यदाभोगोऽब्धिगम्भीरः सपक्षमाभृदाश्रितः ॥137 ॥
तस्यां विक्रमसिंहाख्यो बभूवान्वर्थयाख्यया ।
राजा वैरिमृगा यस्य नैवासन्सम्मुखाः क्वचित् ॥138 ॥
स च निष्प्रतिपक्षत्वादलब्धसमरोत्सवः ।
अस्त्रेषु बाहुवीर्ये च सावज्ञोऽन्तरतप्यत ॥139 ॥
अथ सोऽमरगुप्तेन तदभिप्रायवेदिना ।
कथान्तरे प्रसङ्गेन मन्त्रिणा जगदे नृपः ॥140 ॥
देव दोर्दण्डदर्पण शस्त्रविद्यामदेन च ।
आशंसतामपि रिपून्राज्ञां दोषो न दुर्लभः ॥141 ॥
तथा च पूर्वं बाणेन युद्धयोग्यमरिं हरः ।
दर्पाद्भुजसहस्रस्य तावदाराध्य याचितः ॥142 ॥
यावत्प्राप्ततथाभूततद्वरः स मुरारिणा ।
देवेन वैरिणा संख्ये लूनबाहुवनः कृतः ॥143 ॥

तस्मात्त्वयापि कर्तव्यो नासन्तोषो युधं विना ।
 काङ्क्षणीयो न चानिष्टो विपक्षोऽपि कदाचन ॥144 ॥
 शस्त्रशिक्षा स्ववीर्यं च दर्शनीयं तवेह चेत् ।
 योग्यभूमावटव्यां तन्मृगयायां च दर्शय ॥145 ॥
 राज्ञां चाखेटकमपि व्यायामादिकृते मतम् ।
 युद्धाध्वनि न शस्यन्ते राजानो ह्यकृतश्रमाः ॥146 ॥
 आरण्याश्च मृगा दुष्टाः शून्यामिच्छन्ति मेदिनीम् ।
 तेन ते नृपतेर्वध्या इत्यप्याखेटमिष्यते ॥147 ॥
 न चाति ते निषेव्यन्ते तत्सेवाव्यसनेन हि ।
 गता नृपतयः पूर्वमपि पाण्ड्वादयः क्षयम् ॥148 ॥
 इत्युक्तोऽमरगुप्तेन मन्त्रिणा स सुमेधसा ।
 राजा विक्रमसिंहोऽत्र तथेति तदमन्यत ॥149 ॥
 अन्येद्युश्चाश्वपादातसारमेयमयीं भुवम् ।
 विचित्रवागुरोच्छ्रायमयीश्च सकला दिशः ॥150 ॥
 सहर्षमृगयुग्रामनिनादमयमम्बरम् ।
 कुर्वन्स मृगयाहेतोर्नगर्या निर्ययौ नृपः ॥151 ॥
 निर्गच्छन्गजपृष्ठस्थो बाह्ये शून्ये सुरालये ।
 पुरुषौ द्वावपश्यच्च विजने सहितस्थितौ ॥152 ॥
 स्वैरं मन्त्रयमाणौ च मिथः किमपि तावुभौ ।
 दूरात्स तर्कयन्राजा जगाम मृगयावनम् ॥153 ॥
 तत्र प्रोत्खातखड्गेषु वृद्धव्याघ्रेषु च व्यधात् ।
 तोषं स सिंहनादेषु भूभागेषु नगेषु च ॥154 ॥
 तां स विक्रमबीजाभैर्महीं तस्तार मौक्तिकैः ।
 सिंहानां हस्तिहन्तृऋणां निहतानां नखच्युतैः ॥155 ॥
 तिर्यञ्चस्तिर्यगेवास्य पेतुर्वक्रप्लुता मृगाः ।
 लघु निर्भिद्य तान्पूर्वं हर्षं प्रापदवक्रगः ॥156 ॥
 कृताखेटश्च सुचिरं राजासौ श्रान्तसेवकः ।
 आगाच्छिथिलितज्येन चापेनोज्जयिनीं पुनः ॥157 ॥
 तस्यां देवकुले तस्मिंस्तावत्कालं तथैव तौ ।
 स्थितौ ददर्श पुरुषौ निर्गच्छन्थौ स दृष्टवान् ॥158 ॥

कावेतौ मन्त्रयेते च किंस्विदेवमियच्चिरम् ।
 नूनं चाराविमौ दीर्घरहस्यालापसेविनौ ॥159 ॥
 इत्यालोच्य प्रतीहारं विसृज्यानाययत्स तौ ।
 पुरुषौ द्वाववष्टभ्य राजा बद्धौ चकार च ॥160 ॥
 द्वितीयेऽहनि चास्थानं तावानाय्य स पृष्टवान् ।
 कौ युवां सुचिरं कश्च मन्त्रस्तावान्स वामिति ॥161 ॥
 ततस्तयोः स्वयं राज्ञा तत्र पर्यनुयुक्तयोः ।
 याचिताभययोरेको युवा वक्तुं प्रचक्रमे ॥162 ॥
 श्रूयतां वर्णयाम्येतद्यथावदधुना प्रभो ।
 अभूत्करभको नाम विप्रोऽस्यामेव वः पुरि ॥163 ॥
 तस्य प्रवीरपुत्रेच्छाकृताग्न्याराधनोद्भवः ।
 अहमेष महाराज वेदविद्याविदः सुतः ॥164 ॥
 तस्मिंश्च भार्यानुगते पितरि स्वर्गते शिशुः ।
 अधीतविद्योऽप्यानाथ्यात्स्वमार्गं त्यक्तवानहम् ॥165 ॥
 प्रवृत्तश्चाभवं द्यूतं शस्त्रविद्याश्च सेवितुम् ।
 कस्य नोच्छृङ्खलं बाल्यं गुरुशासनवर्जितम् ॥166 ॥
 तेन क्रमेण चोत्तीर्णं शैशवे जातदोर्मदः ।
 अटवीमेकदा बाणानहं क्षेप्तुं गतोऽभवम् ॥167 ॥
 तावत्तेन पथा चैका नगर्या निर्गता वधूः ।
 आगात्कर्णीरथारूढा जन्यैर्बहुभिरन्विता ॥168 ॥
 अकस्माच्च तदैवात्र करी त्रोटितशृङ्खलः ।
 कुतोऽप्यागत्य तामेव वधूमभ्यापतन्मदात् ॥169 ॥
 तदभयेन च सर्वेऽपि त्यक्त्वा तामनुयायिनः ।
 तद्भर्त्राऽपि सह क्लीबाः पलाय्येतस्ततो गताः ॥170 ॥
 तद्दृष्ट्वा सहसेवाहं ससंभ्रममचिन्तयम् ।
 हा कथं कातरैरेभिस्त्यक्तैकेयं तपस्विनी ॥171 ॥
 तदहं वारणादस्माद्रक्ष्याम्यशरणामिमाम् ।
 आपन्नत्राणविकलैः किं प्राणैः पौरुषेण वा ॥172 ॥
 इत्यहं मुक्तनादस्तं गजेन्द्रं प्रति धावितः ।
 गजोऽपि तां स्त्रियं हित्वा स मामेवाभ्यदुद्रुवत् ॥173 ॥

ततोऽहं भीतया नार्या वीक्ष्यमाणस्तया नदन् ।
 पलायमानश्च गजं तं दूरमपकृष्टवान् ॥174 ॥
 क्रमात्पत्त्रघनां भग्नां प्राप्य शाखां महातरोः ।
 आत्मानं च तयाच्छाद्य तरुमध्यमगामहम् ॥175 ॥
 तत्राग्रे स्थापयित्वा तां शाखां तिर्यक्सुलाघवात् ।
 पलायितोऽहं हस्ती च स तां शाखामचूर्णयत् ॥176 ॥
 ततोऽहं योषितस्तस्याः समीपमगमं द्रुतम् ।
 शरीरकुशलं चैतामपृच्छमिह भीषिताम् ॥177 ॥
 सापि मां वीक्ष्य दुःखार्ता सहर्षा चावदत्तदा ।
 किं मे कुशलमेतस्मै दत्ता कापुरुषाय या ॥178 ॥
 ईदृशे संकटे यो मां त्यक्त्वा क्वापि गतः प्रभो ।
 एतत्तु कुशलं यत्त्वमक्षतः पुनरीक्षितः ॥179 ॥
 तन्मे स कतमो भर्ता त्वमिदानीं पतिर्मम ।
 येनात्मनिरपेक्षेण हृता मृत्युमुखादहम् ॥180 ॥
 स चैष दृश्यते भृत्यैः सहागच्छन्पतिर्मम ।
 अतः स्वैरं त्वमस्माकं पश्चादागच्छ साम्प्रतम् ॥181 ॥
 लब्धेऽन्तरे हि मिलिता यास्यामो यत्रकुत्रचित् ।
 एवं तयोक्तस्तदहं तथेति प्रतिपन्नवान् ॥182 ॥
 सुरुपाप्यर्पितात्मापि परस्त्रीयं किमेतया ।
 इति धैर्यस्य मार्गोऽयं न तारुण्यस्य सङ्गिनः ॥183 ॥
 क्षणादेत्य च सा भर्त्रा बाला सम्भाविता सती ।
 तेन साकं सभृत्येन गन्तुं प्रावर्तत क्रमात् ॥184 ॥
 अहं च गुप्ततददत्तपाथेयः परवर्त्मना ।
 पश्चादलक्षितस्तस्य दूरमध्वानमभ्यगाम् ॥185 ॥
 सा च हस्तिभयभ्रष्टभङ्गाङ्गजनितां रुजम् ।
 पथि मिथ्या वदन्ती तं पतिं स्पर्शेऽप्यवर्जयत् ॥186 ॥
 कस्य रक्तोन्मुखी गाढरुढान्तर्विषदुःसहा ।
 तिष्ठेदनपकृत्य स्त्री भुजगीव विकारिता ॥187 ॥
 क्रमाच्च लोहनगरं प्राप्ताः स्मस्ते पुरं वयम् ।
 वणिज्याजीविनो यत्र भर्तुस्तस्या गृहं स्त्रियाः ॥188 ॥

स्थिताः स्मस्तदहश्चात्र सर्वे बाह्ये सुरालये ।
 तत्र सम्मीलितश्चैष द्वितीयो ब्राह्मणः सखा ॥189 ॥
 नवेऽपि दर्शनेऽन्योन्यमाश्वासः समभूच्च नौ ।
 चित्तं जानाति जन्तूनां प्रेम जन्मान्तरार्जितम् ॥190 ॥
 ततो रहस्यमात्मीयं सर्वमस्मै मयोदितम् ।
 तद्बुद्धवैव तदा स्वैरं मामेवमयमब्रवीत् ॥191 ॥
 तूष्णीं भवास्त्युपायोऽत्र यत्कृते त्वमिहागतः ।
 एतस्या भर्तृभगिनी विद्यतेऽत्र वणिस्त्रियाः ॥192 ॥
 गृहीतार्था मया साकमितः सा गन्तुमुद्यता ।
 तत्करिष्ये तदीयेन साहाय्येन तवेप्सितम् ॥193 ॥
 इत्युक्त्वा मामयं विप्रो गत्वा तस्यास्तदा रहः ।
 वणिग्वधू ननान्दुस्तद्यथावस्तु न्यवेदयत् ॥194 ॥
 अन्येद्युः कृतसंविच्च सा ननान्दा समेत्य ताम् ।
 प्रावेशयद्भ्रातृजायां तत्र देवगृहान्तरे ॥195 ॥
 तत्रान्तः स्थितयोर्नो च मध्यादेतं तदैव सा ।
 मित्रं मे भ्रातृजायायास्तस्या वेषमकारयत् ॥196 ॥
 कृततद्वेषमेनं च गृहीत्वा नगरान्तरम् ।
 भ्रात्रा सहाविशद्गेहं कृत्वा नः कार्यसंविदम् ॥197 ॥
 अहं च निर्गत्य ततस्तया पुरुषवेषया ।
 वणिग्वध्वा समं प्राप्तः क्रमेणोज्जयिनीमिमाम् ॥198 ॥
 तन्नान्दा च सा रात्रौ तदहः सोत्सवात्ततः ।
 मत्तसुप्तजनाद्गेहादनेन सह निर्गता ॥199 ॥
 ततश्चायं गृहीत्वा तां विप्रच्छन्नैः प्रयाणकैः ।
 आगतो नगरीमेतामथावां मिलिताविह ॥200 ॥
 इत्यावाभ्यामुभे भार्ये प्राप्ते प्रत्यग्रयौवने ।
 ननान्दुभ्रातृजाये ते स्वानुरागसमर्पिते ॥201 ॥
 अतो निवासे सर्वत्र देव शङ्कामहे वयम् ।
 कस्याश्वसिति चेतो हि विहितस्वैरसाहसम् ॥202 ॥
 तदवस्थानहेतोश्च वित्तार्थं च रहश्चिरम् ।
 आवां मन्त्रयमाणौ ह्यो दृष्टौ देवेन दूरतः ॥203 ॥

दृष्टवानाय्य च संयम्य स्थापितौ चारशङ्कया ।
 अद्य पृष्ठौ च वृत्तान्तं स चैष कथितो मया ॥204 ॥
 देवः प्रभवतीदानीमित्यनेनोदिते तदा ।
 राजा विक्रमसिंहस्तौ विप्रौ द्वावप्यभाषत ॥205 ॥
 तुष्टोऽस्मि वां भयं मा भूदिहैव पुरि तिष्ठम् ।
 अहमेव च दास्यामि पर्याप्तं युवयोर्धनम् ॥206 ॥
 इत्युक्त्वा स ददौ राजा यथेष्टं जीवनं तयोः ।
 तौ च भार्यान्वितौ तस्य निकटे तस्थतुः सुखम् ॥207 ॥
 इत्थं क्रियासु निवसन्त्यपि यासु तासु पुंसां श्रियः प्रबलसत्त्वबहिष्कृतासु ।
 एवं च साहसधनेष्वथ बुद्धिमत्सु सन्तुष्य दाननिरताः क्षितिपा भवन्ति ॥208 ॥
 इत्यैहिकेन च पुराविहितेन चापि स्वेनैव कर्मविभवेन शुभाशुभेन ।
 शश्वद्भवेत्तदनु रूपविचित्रभोगः सर्वा हि नाम ससुरासुर एष सर्गः ॥209 ॥
 तत्स्वप्नवृत्तनिभतो नभसश्च्युता या ज्वाला त्वयान्तरुदरं विशतीह दृष्टा ।
 सा कापि देवि सुरजातिरसंशयं ते गर्भं कुतोऽपि खलु कर्मवशात्प्रपन्ना ॥210 ॥
 इति निजभर्तुर्वदनाच्छ्रुत्वा नृपतेः कलिङ्गदत्तस्य ।
 देवी तारादत्ता प्राप सगर्भा परं प्रमदम् ॥211 ॥

AAbfr egkdfoJhl kenohkVVfojfrsdfkkl fjRI kxjs
 enue ˆppkyEcdsi fkeLrj³x%AA

AA dFkkl fjRI kxj dk enue ˆppk
 uked NBk yEcdAA

एक अनोखी कहानी कहता हूँ, सुनो। अवन्ती जनपद में विश्वविख्यात नगरी उज्जयिनी है। वह श्वेत भवनों से सुशोभित है। महाकाल की निवासभूमि है। उन भवनों को महाकाल की सेवा में वैसा ही रस प्राप्त होता है जैसा कैलास के शिखरों को प्राप्त होता है। वहाँ चक्रवर्ती (भँवरे पड़ते पानी वाली), सैकड़ों वाहिनियाँ (सेना और नदियों), विस्तार(कण) सागर—सा गम्भीर हैं, पंखदार पर्वत (अपने पक्ष के राजा) का आश्रय है। उसमें अपने नाम को सार्थक करने वाला विक्रमसिंह (यह विक्रमादित्य नामक नहीं होने से भिन्न प्रतीत होता है) नामक राजा था जिसके सामने कहीं शत्रुरूपी हिरण टिक नहीं पाते। उसका कोई विरोधी नहीं था। अतः युद्ध का उत्सव करने का उसे अवसर नहीं मिलता था। हथियारों और भुजशक्ति में अवज्ञापूर्ण होने से भीतर ताप था ॥135—139 ॥

इसके बाद उसके विचारों के ज्ञाता अमरगुप्त मन्त्री ने बात ही बात में राजा से कहा— हे देव! भुजाओं के गर्व और शास्त्र विद्या के मद की शत्रु चाहे प्रशंसा करे परन्तु राजाओं में यह दोष दुर्लभ नहीं है। जैसा कि पहले बाण ने युद्ध के योग्य शत्रु शिवजी की आराधना करके चाहा और दर्प से एक हजार भुजाओं वाले अर्जुन ने भी प्राप्त कर लिया, तो शत्रु मुरारिदेव ने युद्ध में उसकी भुजाओं का वन काट डाला। इसलिए आपको भी युद्ध के बिना असंतोष नहीं करना चाहिए। अनिष्ट करने वाले विपक्ष की तो कभी आकांक्षा करनी ही नहीं चाहिए। यदि आपको अपनी शस्त्रशिक्षा और अपनी वीरता दिखानी ही है तो वन की योग्य भूमि पर आखेट में दिखाओ कभी—कभी।

राजा के लिए आखेट भी व्यायाम के लिए माना जाता है। श्रम न करने वाले राजाओं के लिए युद्ध का मार्ग अच्छा नहीं है। वनवासी दुष्ट जानवर पृथ्वी सूनी चाहते हैं। इसलिए राजा उन्हें मारते रहें इसलिए आखेट चाहे और किये जाते हैं। उनका भी अति सेवन नहीं करना चाहिए। आखेट—सेवन का व्यसन होने पर पहले के पाण्डु आदि राजा भी नष्ट हो गये। मेधावी मन्त्री अमर गुप्त के ऐसा कहने पर राजा ने भी “ठीक है” कहते हुए उसकी बात मान ली। दूसरे दिन घोड़े, पैदल, कुत्ते, फंदे—पींजरे आदि से सब दिशाओं की भूमि भरते हुए प्रसन्नता से आखेट को की आवाज से आकाश गुँजाते हुए वह राजा शिकार के लिए निकल पड़ा।। 140—151।।

हाथी की पीठ पर बैठकर निकल रहा था कि बाहर सूने देवालय में दो पुरुषों को देखा जो निर्जन में साथ—साथ खड़े थे। वे दोनों आपस में मनमाना विचार—विमर्श कर रहे थे। राजा दूर से तर्क करता हुआ आखेट के लिए जंगल में चला गया। वहाँ उसने तलवार खींचकर बूढ़े बाघों पर चलायी। सिंहों की दहाड़ भूमि और पर्वतों तक फैल गयी। वह धरणी को उसके विक्रम के बीज की कान्ति वाले मोतियों से भर गयी जो हाथी मारने वाले सिंहों को मारे जाने से उनके नखों से बिखरे थे। टेढ़े—टेढ़े भागते हिरणों को तेजी से मारकर उस सरल मार्ग से जाते राजा को बड़ा हर्ष हुआ।।152—156।।

बहुत समय तक शिकार करने से सेवक लोग थक गये तो राजा अपने धनुष की डोरी ढीली करके फिर उज्जयिनी आ गया। उसे निकलते हुए देवागार में उस समय तक भी वे दोनों मनुष्य दिखाई दिये। ये दोनों क्या विचार—विमर्श कर रहे हैं? और वह भी इतने समय तक? अवश्य ही ये गुप्तचर हैं जो इतनी लम्बी बातचीत कर रहे हैं। यह विचारकर प्रतीहार भेजकर उन दोनों के पुरुषों को बुलवाया और उन्हें पकड़कर बाँध दिया। दूसरे दिन राजसभा में लाये गये तो पूछा— कौन हो तुम दोनों? तुम दोनों में इतनी देर तक क्या गुप्तवार्ता होती रहती है ? उन दोनों की अभय की याचना राजा ने स्वीकार कर ली तो उनमें से एक युवा बोलने लगा—हे प्रभो! यह वैसा का वैसा बताता हूँ, सुनिये। आपकी इस नगरी में करभय नाम का एक ब्राह्मण था। उसने प्रवीर पुत्र की इच्छा से अग्नि की आराधना की तो वेदविद्या का ज्ञाता मैं यह पुत्र उत्पन्न हुआ महाराज! ।। 157—164।।

foØekfnR; dFkk, i@203

पत्नी के पीछे—पीछे पिता भी स्वर्ग सिंघार गये तो शिशु ने विद्या प्राप्त करके भी अनाथ होने से मैंने अपना मार्ग छोड़ दिया। और जुए तथा शस्त्रविद्या में लग गया। गुरुजनों के अनुशासन के बिना किसका बचपन उच्छृंखल नहीं हो जाता? इस सिलसिले में बचपन बीतने पर भुजाओं का गर्व हो गया तो एक बार बाण चलाने के लिए मैं जंगल में गया। तब तक उस मार्ग से नगरी से निकली एक वधू वर्णीरथ (हाथ से खींची जाने वाली गाड़ी) पर बैठकर अनेक सेवकों सहित आ गयी। अचानक एक हाथी साँकल तुड़ाकर कहीं से आकर मद से उस वधू पर टूट पड़ा।। 165—169।।

उसके डर से उसके अनुयायी उसे छोड़कर उसके पतिसहित कायर भाग गये। यह देखकर अचानक मैंने हड़बड़ाहट में सोचा— अरे इन डरपोकों ने इस बेचारी को अकेली कैसी छोड़ दिया? सो मैं इस असहाय की इस हाथी से रक्षा करता हूँ। विपदा से रक्षा करने से पीछे हटने वाले के लिए प्राण या पौरुष से क्या मतलब? इसलिए मैं ललकारता हुआ उस हाथी की ओर लपका। हाथी भी उस स्त्री को छोड़कर मेरी ओर झपटा। तब मैं उस डरी स्त्री के देखते—देखते चिल्लाता हुआ, भागता हुआ उस हाथी को दूर तक खींच ले गया। क्रम से महावृक्ष की सघन पत्तों वाली टूटी शाखा पाकर स्वयं को उससे छिपाकर पेड़ों के बीच मैं चला गया। तब तेजी से वहाँ सामने शाखा टेढ़ी रखकर मैं भाग गया और हाथी ने उस शाखा का चूरा कर डाला। तब मैं तेजी से उस स्त्री के पास गया। शरीर से कुशल पर डरी हुई उस स्त्री से मैंने पूछा। उस दुखी ने भी मुझे देखकर प्रसन्नता से कहा— इस कायर आदमी को दे दी गई अब मेरी क्या कुशलता कि ऐसे संकट के समय मुझे छोड़कर कहीं भी चला गया नाथ। कुशल तो यह है कि तुम अक्षत कुशल दिखाई दिये। इसलिए वह मेरा कैसा पति? अब तो तुम ही मेरे पति जिसने अपनी परवाह न करते हुए मुझे मृत्यु के मुख से हरण कर लाये। वह सेवकों के साथ आता हुआ मेरा पति दिखाई दे रहा है। अतः अब तुम बेफिकर हमारे पीछे आओ। मौका पाते ही मिलकर हम जहाँ—कहीं चले जाएँगे। उसने ऐसा कहा तो मैंने “ठीक है” यह कहकर पीछे चल दिया। रूपवती होने पर भी, स्वयं को अर्पित कर दे तो इस पर भी नारी से मुझे क्या मतलब? यह जो धीरज का मार्ग है वह यौवन का साथी नहीं है। क्षणभर में आकर उस पति ने उस स्त्री का स्वागत किया और उसके साथ

204@foØekfnR; dFkk, i

सेवकों सहित चल दी और मैं भी गुप्त रूप से उसके द्वारा दिये गये पाथेय के साथ दूसरे मार्ग से पीछे-पीछे बिना दिखे दूर तक चला गया। वह भी रास्ते में झूठे ही हाथी के डर से भागने से अंग टूटने का रोग बताती हुई उस पति को छूने तक नहीं दिया।। 170-186।।

मन में गहरे असहनीय विष से भरी रक्त (क्रोध और स्नेह से लाल) मुख वाली किसका अनुपकार करती नारी नागिन-सी विकारमय हो जाती है? क्रमशः हम सब लोहनगर (वर्तमान लोहाना) नामक बस्ती में पहुँच गये। वहाँ उस नारी के पति का घर था। वहाँ व्यापार की जीविका थी उसकी। वहाँ हम सब बाहर देवालय में ठहर गये। वहाँ यह दूसरा ब्राह्मण मित्र मिल गया। नया-नया दर्शन होने पर भी हम दोनों में परस्पर विश्वास हो गया। जनम-जनम में पाये प्रेम को प्राणियों का चित्त ही पहचानता है।। 187-190।।

तब मैंने अपना पूरा रहस्य उसे बता दिया। यह जानकर तब मुझसे इसने यह साफ कह दिया। “चुप रह” जिस लिए तू आया है, उसका उपाय है। इस बनिया-स्त्री के पति की बहन है यहाँ। उसने धन लिया है और मेरे साथ जाने को तैयार है। तो उसकी सहायता से तेरा मनचाहा करूँगा। मुझे यह कहकर इस ब्राह्मण ने तब एकांत में उस वणिक्वधू की ननद को वास्तविकता बता दी। दूसरे दिन उस ननद ने उसे समझा-बुझाकर साथ में लेकर भाभी को देवालय में प्रवेश करवाया। वहाँ भीतर हम दोनों थे। इस मित्र को तभी उस भाभी का वेष पहना दिया।। 191-196।।

उसका वेष पहनाकर साथ लेकर दूसरे नगर में काम समझाकर भाई के साथ घर में प्रवेश किया। और मैं तब उस पुरुष वेषधारिणी वणिक्वधू के साथ निकलकर धीरे-धीरे इस नगरी उज्जयिनी में आ गया। और वह ननद उस दिन के उत्सव के बाद रात में उस मदमाते सोते लोगों वाले घर से निकल पड़ी। तब यह ब्राह्मण ढके छकड़े द्वारा उसे लेकर इस नगरी में आ गया और हम दोनों मिल गये। इस प्रकार हम दोनों की पत्नियाँ ताजे यौवन से भरी वे ननद-भाभी अपने अनुराग से समर्पित हो गयीं। इसलिए हे देव! घर में हम सब पर शंका करते हैं। किसी पर भी अविश्वास करता चित्त स्वयं ही साहस कर गया। इसलिए आवास और धन के लिए हम दोनों एकांत में देर तक बात करते रहे और आपने हमें कल दूर से देख लिया।।197-203।।

देखकर लाकर गुप्तचर की शंका में बाँधकर बिठा दिया और आज वृत्तांत पूछने पर वह मैंने बता दिया। अब स्वामी जैसा आदेश दें- यह जब इसने कहा तो राजा विक्रमादित्य ने उन दोनों ब्राह्मणों को कहा- मैं संतुष्ट हूँ। आप दोनों डरो मत। इसी नगरी में रहो। तुम दोनों को मैं ही पर्याप्त धन दे दूँगा। यह कहकर उस राजा ने उन दोनों को मनचाही जीविका दी और वे पत्नियों सहित दोनों उस राजा के पास सुख से रहने लगे। इस प्रकार जिस किसी लक्ष्मी व प्रबल शक्ति से बाहर जो हो उन साहसधन वाले और बुद्धिमानों को संतुष्ट होकर राजा लोग पर्याप्त दान देते रहते हैं।।204-206।।

AA egkdf0 Jhl kensHkVV fojfr dFkl fjRI kxj esvenue ˆppk
yæd esigyh rjæ iwkgpAA

i f'f' k'V&2
dFkkl fjRI kxj%
AA jRui Hkkuke I IreyEcd'AA

AA prfklRj³x%AA

गोमुखीयकथातुष्टं दृष्ट्वा तत्स्पर्धया किल ।
नरवाहनदत्तं तं मरुभूतिरथाब्रवीत् ॥1॥
प्रायेण चपलाः कामं स्त्रियो नैकान्ततः पुनः ।
वेश्या अपि च दृश्यन्ते सत्त्वाढ्याः किमुतापराः ॥2॥
तथा च देव विख्यातामिमामत्र कथां शृणु ।
विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके ॥3॥
तस्याभूतामभिप्रेते मित्रे हयपतिर्नृपः ।
राजा गजपतिश्चोभौ बहवस्वगजसाधनौ ॥4॥
शत्रुर्नरपतिर्भूरिपादातस्तस्य चाभवत् ।
मानिनो नरसिंहाख्यः प्रतिष्ठानेश्वरो बली ॥5॥
तं रिपुं प्रति सामर्षः स मित्रबलगर्वितः ।
चकार विक्रमादित्यः प्रतिज्ञां रभसादिमाम् ॥6॥
तथा मया विजेतव्यो राजा नरपतिर्यथा ।
स बन्दिमागधैर्द्वारि सेवको मे निवेद्यते ॥7॥
एवं कृतप्रतिज्ञस्ते मित्रे हयगजाधिपौ ।
समानीय समं ताभ्यां हस्त्यश्वक्षोभितक्षितिः ॥8॥
अभियोक्तुं नरपतिं नरसिंहं प्रसह्य तम् ।
स ययौ विक्रमादित्यो राजाखिलबलान्वितः ॥9॥

foØekfnR; dFkk, j@207

प्राप्ते तस्मिन्प्रतिष्ठाननिकटं सोऽप्यवेत्य तत् ।
नरसिंहो नरपतिः संनह्याग्रेऽस्य निर्ययौ ॥10॥
ततस्तयोरभूद्युद्धं राज्ञोर्जनितविस्मयम् ।
गजाश्वेन समं यत्र युध्यन्ते स्म पदातयः ॥11॥
क्रमाच्च नरसिंहस्य कोटिसंख्यपदातिभिः ।
भग्नं तद्विक्रमादित्यबलं नरपतेर्बलैः ॥12॥
भग्नश्च विक्रमादित्यः पुरं पाटलिपुत्रकम् ।
ययौ पलाय्य तन्मित्रे स्वं स्वं देशं च जग्मतुः ॥13॥
नरसिंहो नरपतिर्जितशत्रुर्निजं पुरम् ।
प्रविवेश प्रतिष्ठानं बन्दिभिः स्तुतविक्रमः ॥14॥
ततः स विक्रमादित्योऽसिद्धकार्यो व्यचिन्तयत् ।
शस्त्रैरजेयं शत्रुं तं जयामि प्रज्ञया वरम् ॥15॥
कामं केचिद्विगर्हन्तां मा प्रतिज्ञान्यथा तु भूत् ।
इति संचिन्त्य निक्षिप्य राज्यं योग्येषु मन्त्रिषु ॥16॥
निर्गत्य नगराद्गुप्तं मुख्येनैकेन मन्त्रिणा ।
सह बुद्धिवराख्येण राजपुत्रवरैस्तथा ॥17॥
पञ्चभिः कुलजैः शूरैः स कार्पटिकवेषभृत् ।
भूत्वा पुरं निजरिपोः प्रतिष्ठानं जगाम तत् ॥18॥
तत्र वारविलासिन्या नरेन्द्रसदनोपमम् ।
ययौ मदनमालेति ख्याताया वरमन्दिरम् ॥19॥
कृताह्वानमिव प्रांशुप्राकारशिखरोच्छ्रितैः ।
ध्वजांशुकैर्मृदुमरुद्विक्षिप्ताक्षिप्तपल्लवैः ॥20॥
प्रधाने पूर्वदिग्द्वारे विविधायुधशालिनाम् ।
गुप्तं सहस्रविंशत्या पदातीनां दिवानिशम् ॥21॥
अन्यासु दिक्षु तिसृषु द्वारि द्वारि मदोद्धतैः ।
दशभिर्दशभिः शूरसहस्रैरभिरक्षितम् ॥22॥
आवेदितः प्रतीहारैस्तथाभूतः प्रविश्य च ।
क्वचित्प्रविततानेकवराश्वश्रेणिशोभितम् ॥23॥
क्वचिदाबद्धमातङ्गघटासंघट्टसंचरम् ।
क्वचिदायुधसन्दर्भगम्भीराकारगुम्भितम् ॥24॥

208@foØekfnR; dFkk, j

क्वचिद्रत्नप्रभाभास्वदबहुकोषगृहोज्ज्वलम् ।
 क्वचित्सेवकसंघातसंतताबद्धमण्डलम् ।।25।।
 क्वचिदुच्चैः पठद्बन्दिवृन्दकोलाहलाकुलम् ।
 क्वचिन्निबद्धसंगीतमृदङ्गध्वनिनादितम् ।।26।।
 सप्तकक्ष्याविभक्तं तत्स पश्यन्सपरिच्छदः ।
 प्रापन्मदनमालाया वासप्रासादमुन्नतम् ।।27।।
 सा तं कक्ष्यासु साकूतनिर्वर्णितहयादिकम् ।
 श्रुत्वा परिजनान्मत्वा प्रच्छन्नं कंचिदुत्तमम् ।।28।।
 प्रत्युद्गम्य प्रणम्याथ साभिलाषं सकौतुकम् ।
 राजोचिते प्रवेशान्तरुपावेशयदासने ।।29।।
 सोऽपि तद्रूपलावण्यविनयाहृतचेतनः ।
 तामभ्यनन्ददात्मानमप्रकाश्यैव भूपतिः ।।30।।
 ततो मदनमाला सा स्नानपुष्पानुलेपनैः ।
 वस्त्रैराभरणैर्भूषं महार्हैस्तममानयत् ।।31।।
 दत्त्वा दिवसवृत्तिं च तेषां तदनुयायिनाम् ।
 आहारैस्तं ससचिवं नानारूपैरुपाचरत् ।।32।।
 निनाय च समं तेन दिनं पानादिलीलया ।
 आत्मानं चार्पयत्तस्मै सा दर्शनवशीकृता ।।33।।
 तथैवाराध्यमानोऽथ च्छन्नोऽप्यहरहस्तया ।
 स तस्थौ विक्रमादित्यश्चक्रवर्त्यचितैः क्रमैः ।।34।।
 याचकेभ्यो ददौ नित्यं वित्तं यावच्च यच्च सः ।
 दृष्ट्वा मदनमाला सा तत्तस्मै स्वमुपानयत् ।।35।।
 तेनोपभुज्यमानं च सा शरीरं धनं तथा ।
 मेने कृतार्थमन्यस्मिन्पुंस्यर्थे च पराङ्मुखी ।।36।।
 तत्प्रेम्णा ह्यपि तत्रत्यमनुरक्तं नराधिपम् ।
 आयान्तं नरसिंहं तं वारयामास युक्तिभिः ।।37।।
 एवं तया सेव्यमानः कदाचिन्मन्त्रिणं रहः ।
 राजा सहचरं सोऽत्र तं बुद्धिवरमभ्यधात् ।।38।।
 अर्थार्थिनी न कामेऽपि वेश्या रज्यति तं विना ।
 तासां लोभो हि विधिना दत्तो निर्माय याचकान् ।।39।।

इयं मदनमाला तु भुज्यमाने धने मया ।
 न विरज्यत्यतिस्नेहान्मयि प्रत्युत तुष्यति ।।40।।
 तदस्याः सम्प्रति कथं करोमि प्रत्युपक्रियाम् ।
 येन कामं प्रतिज्ञापि क्रमेण मम सेत्स्यति ।।41।।
 तच्छ्रुत्वा तं ब्रवीति स्म मन्त्री बुद्धिवरो नृपम् ।
 यद्येवं तदनर्घाणि यानि रत्नान्युपाहरत् ।।42।।
 प्रपञ्चबुद्धिर्भिक्षुस्ते तेभ्योऽस्यै देहि कानिचित् ।
 इत्युक्तो मन्त्रिणा तेन राजा तं प्रत्यभाषत ।।43।।
 दत्तैः समग्रैरपि तैर्नास्याः किञ्चित्कृतं भवेत् ।
 एतद्वृत्तान्तसंश्लिष्टा किं त्वस्यान्यत्र निष्कृतिः ।।44।।
 तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीन्मन्त्री देव किं तेन भिक्षुणा ।
 त्वत्सेवा सा कृतेत्येष तद्वृत्तान्तस्त्वयोच्यताम् ।।45।।
 इत्युक्तो मन्त्रिणा तेन राजा बुद्धिवरेण सः ।
 जगाद शृणु तत्रैतां तत्कथां वर्णयामि ते ।।46।।
 पूर्वं पाटलिपुत्रे मे प्रविश्यास्थानमन्वहम् ।
 भिक्षुः प्रपञ्चबुद्ध्याख्यः समुद्गकमुपानयत् ।।47।।
 अहं तथैव सततं वर्षमात्रं समर्पयन् ।
 भाण्डागारिकहस्ते तदनुद्घाटितमेव सत् ।।48।।
 एकदा भिक्षुणा तेन ढौकितं तत्समुद्गकम् ।
 दैवात्पाणेर्मम पतद्द्विधाभूतमभूद्भुवि ।।49।।
 निरगाच्च महारत्नं तस्मादनलभासुरम् ।
 प्राङ्मयेवापरिज्ञातं हृदयं तेन दर्शितम् ।।50।।
 तद्दृष्ट्वादाय चान्यानि तान्यानाय्य विभज्य च ।
 समुद्गकानि सर्वेभ्यो रत्नान्यहमवाप्तवान् ।।51।।
 ततः प्रपञ्चबुद्धिं तमप्राक्षं विस्मयादहम् ।
 किमहो सेवसे रत्नैरेवं मामीदृशैरिति ।।52।।
 अथात्र विजनं कृत्वा स भिक्षुर्मामवोचत ।
 अस्यां कृष्णचतुर्दश्यामागामिन्यां निशागमे ।।53।।
 श्मशाने साधनीया मे विद्या काचित्ततो बहिः ।
 तत्र साहायके वीर त्वदागमनमर्थये ।।54।।

वीरसाहाय्यनिर्विघ्नाः सुखलभ्या हि सिद्धयः ।
इत्युक्तो भिक्षुणा तेन तदहं प्रतिपन्नवान् ॥55॥
अथ हृष्टे गते तस्मिन्दिनैः कृष्णचतुर्दशी ।
आगात्सा श्रमणस्यास्य तस्यास्मार्षमहं वचः ॥56॥

ततः कृताहिनको भूत्वा प्रदोषं प्रतिपालयन् ।
कृतसंध्याविधिर्देवात्क्षिप्रं निद्रामगामहम् ॥57॥
तत्क्षणं गरुडारूढो भगवान्भक्तवत्सलः ।
हरिः पद्माङ्कितोत्सङ्गः स्वप्ने मामेवमादिशत् ॥58॥
प्रपञ्चबुद्धिरन्वर्थनामायं मण्डलार्चने ।
पुत्र श्मशाने नीत्वा त्वामुपहारीकरिष्यति ॥59॥
अतो वक्ष्यति यत्स त्वां जिघांसुर्मा स्म तत्कृथाः ।
त्वं पूर्वं कुरु शिक्षित्वा करिष्यामीति तं वदेः ॥60॥
ततस्तथा तं कुर्वाणं तच्छिद्रेणैव तत्क्षणम् ।
हन्यास्त्वं तदभिप्रेता सिद्धिस्तव भविष्यति ॥61॥
इत्युक्त्वान्तर्हिते विष्णौ प्रबुद्धोऽहमचिन्तयम् ।
हरेरनुग्रहाज्ज्ञातो वध्यो मायी मयाद्य सः ॥62॥
एवं विचिन्त्य यामिन्याः प्रथमे प्रहरे गते ।
कृपाणपाणिरेकाकी तच्छ्मशानमगामहम् ॥63॥
तत्र दृष्ट्वा तमभ्यागां भिक्षुमर्चितमण्डलम् ।
सोऽपि वीक्ष्याभ्यनन्दन्मामब्रवीच्च तदा शठः ॥64॥
मीलिताक्षः प्रसार्याङ्गं पत भूमाववाङ्मुखः ।
राजन्नेवं भवेत्सिद्धिर्द्वयोरप्यावयोरिति ॥65॥
ततोऽहं प्रत्यवोचं तं त्वमेवं प्रथमं कुरु ।
मह्यं दर्शय शिक्षितवा विधास्यामि तथैव तत् ॥66॥
तच्छ्रुत्वा श्रमणो मूढस्तथा भुवि स चापतत् ।
छिन्नं तस्य च निस्त्रिंशप्रहारेण मया शिरः ॥67॥
अथान्तरिक्षादुदभूद्भारती साधु भूपते ।
त्वया हि भिक्षुः पापोऽयमुपहारीकृतोऽद्य यत् ॥68॥
यास्य साध्या भवेत्सा ते सिद्धाद्य गगने गतिः ।
अहं धैर्येण तुष्टस्ते कामचारी धनाधिपः ॥69॥

तदस्मत्तो वृणीष्वान्यं वरं यमभिवाञ्छसि ।
इत्युक्त्वा प्रकटीभूतं प्रणम्याहं तमब्रवम् ॥70॥
यदा त्वामर्थयिष्येऽहमुपयुक्तं तदा वरम् ।
संस्मृतोपस्थितो भूत्वा भगवन्मे प्रदास्यसि ॥71॥
एवमस्त्विति मामुक्त्वा तिरोऽभूत्स धनाधिपः ।
लब्धसिद्धिश्च रभसात्स्वमन्दिरमगामहम् ॥72॥
इत्युक्तस्ते स्ववृत्तान्तस्तत्कुबेरवरेण मे ।
कार्या मदनमालायास्तेनास्याः प्रत्युपक्रिया ॥73॥
तदबुद्धिवर गच्छ त्वं तावत्पाटलिपुत्रकम् ।
वेषच्छत्रं समादाय राजपुत्रपरिच्छदम् ॥74॥
अहं च कृत्वा प्रत्यग्रां प्रियायाः प्रत्युपक्रियाम् ।
पुनरागमनायेह तत्रैवैष्यामि सम्प्रति ॥75॥
एवमुक्त्वा स सचिवं विक्रमादित्यभूपतिः ।
दिनकृत्यं स कृत्वा तं व्यसृजत्सपरिच्छदम् ॥76॥
तथैति च गते तस्मिंस्तां निनाय निशां नृपः ।
भाविविश्लेषसोत्कण्ठः समं मदनमालया ॥77॥
सापि दूरीभवन्तं तं शंसतेवान्तरात्मना ।
आलिङ्गती मुहुः सोत्का नास्यां निद्रामगान्निशि ॥78॥
ततः प्रातः स राजा तु विहितावश्यकक्रियः ।
नित्यदेवार्चनागारं विवेशैको जपच्छलात् ॥79॥
तत्र वैश्रवणं देवं संस्मृतोपस्थितं च सः ।
वरं प्राक्प्रतिपन्नं तं प्रणम्यैवमयाचत ॥80॥
प्रयच्छ देव तेनाद्य वरेणङ्गीकृतेन मे ।
सौवर्णान्पञ्च महतः पुरुषांस्तानिहाक्षयान् ॥81॥
येषामिष्टोपभोगाय च्छिद्यमानान्यनारतम् ।
तादृशान्येव जायन्ते तान्यङ्गानि पुनः पुनः ॥82॥
एवं भवन्तु तद्रूपाः पुरुषास्ते यथेच्छसि ।
इत्युक्त्वा स धनाध्यक्षो जगामादर्शनं क्षणात् ॥83॥
राजापि तत्क्षणं सोऽत्र देवागारे ददर्श तान् ।
स्थितानकस्मात्सौवर्णान्महतः पञ्च पूरुषान् ॥84॥

ततः प्रविष्टो निरगास्त्वां प्रतिज्ञामविस्मरन् ।
 द्यामुत्पत्य ययौ तावत्पुरं पाटलिपुत्रकम् ॥85॥
 तत्राभिनन्दितोऽमात्यैः पौरैरन्तःपुरैश्च सः ।
 तस्थौ कार्याणि कुर्वाणः प्रतिष्ठानस्थया धिया ॥86॥
 तावच्चात्र प्रतिष्ठाने प्राविशत्तस्य सा प्रिया ।
 चिरप्रविष्टं तं कान्तं वीक्षितुं देवसद्म तत् ॥87॥
 प्रविष्टा तत्र नाद्राक्षीत्प्रियं तं नृपतिं क्वचित् ।
 अद्राक्षीत्तु महोच्छ्रायान्सौवर्णान्पञ्च पूरुषान् ॥88॥
 तान्दृष्ट्वा तमनासाद्य दुःखिता सा व्यचिन्तयत् ।
 नूनं विद्याधरः कोऽपि गन्धर्वो वा स मे प्रियः ॥89॥
 यः संविभज्य मामेभिः पुंभिरुत्पत्य खं गतः ।
 तदेतैर्भारतुल्यैः किं तद्वियुक्ता करोम्यहम् ॥90॥
 इति संचिन्त्य पृच्छन्ती निजं परिजनं मुहुः ।
 तत्प्रवृत्तिं विनिर्गत्य तत्र बभ्राम सर्वतः ॥91॥
 न च लेभे रतिं क्वापि हर्म्योद्यानगृहादिषु ।
 विलपन्ती वियोगार्ता शरीरत्यागसम्मुखी ॥92॥
 मा विषादं कृथा देवि कोऽपि कामचरो हि सः ।
 देवो यदृच्छया भूयो भव्यां त्वामभ्युपैष्यति ॥93॥
 इत्यादिभिः प्रदत्तास्थैर्वाक्यैः परिजनेन सा ।
 आशवासिता कथमपि प्रतिज्ञामकरोदिमाम् ॥94॥
 षण्मासमध्ये यदि मे न स दास्यति दर्शनम् ।
 दत्तसर्वस्वया वह्नौ प्रवेष्टव्यं ततो मया ॥95॥
 इति प्रतिज्ञयात्मानं संस्तभ्याभूत्ततश्च सा ।
 अन्वहं ददती दानं ध्यायन्ती तं स्ववल्लभम् ॥96॥
 एकदा स्वर्णपुंसां च तेषामेकस्य सा भुजौ ।
 छेदयित्वा द्विजातिभ्यो ददौ दानैकतत्परा ॥97॥
 द्वितीयेऽह्नि च साद्राक्षीत्तादृशावेव तस्य तौ ।
 रात्रिमध्ये समुत्पन्नौ भुजौ संजातविस्मया ॥98॥
 ततः क्रमेण सान्येषां भुजौ दानार्थमच्छिनत् ।
 उत्पेदिरे च सर्वेषां पुनस्तेषां तथैव ते ॥99॥

अथ तानक्षयान्दृष्ट्वा विप्रेभ्यो वेदसंख्यया ।
 अध्येतृभ्यो ददौ छित्त्वा तद्भुजान्सा शुभान्वहम् ॥100॥
 दिनैश्चाल्पैर्गतां दिक्षु श्रुत्वा तां ख्यातिमाययौ ।
 तत्र सङ्ग्रामदत्ताख्यो विप्रः पाटलिपुत्रकात् ॥101॥
 स दरिद्रश्चतुर्वेदो गुणैर्युक्तस्तदन्तिकम् ।
 प्रतिग्रहार्थी प्राविक्षत्तदा द्वाःस्थनिवेदितः ॥102॥
 सा तस्मै वेदसंख्याकान्ददौ सौवर्णपुंभुजान् ।
 अर्चिताय व्रतक्षामैरङ्गैर्विरहपाण्डुरैः ॥103॥
 ततः स विप्रो दुःखार्ताच्छ्रुत्वा तत्परिवारितः ।
 तद्वृत्तान्तं महाघोरप्रतिज्ञान्तमशेषतः ॥104॥
 हृष्टो विषण्णश्चारोप्य सौवर्णानुष्टयोर्द्वयोः ।
 भुजानेतान्निवासं स्वं ययौ पाटलिपुत्रकम् ॥105॥
 अराजरक्षिते क्षेमं नास्मिन्मे काञ्चने भवेत् ।
 इति तत्र स संचिन्त्य प्रविश्यास्थानवर्तिनम् ॥106॥
 नृपतिं विक्रमादित्यं ब्राह्मणः स व्यजिज्ञपत् ।
 इहैवास्मि महाराज वास्तव्यो नगरे द्विजः ॥107॥
 सोऽहं दरिद्रो वित्तार्थी प्रयातो दक्षिणापथम् ।
 प्राप्तः परं प्रतिष्ठानं नरसिंहस्य भूपतेः ॥108॥
 तत्र प्रतिग्रहार्थी सन्प्रख्यातयशसो गृहम् ।
 अहं मदनमालाया गणिकाया गतोऽभवम् ॥109॥
 तस्याः सकाशे दिव्यो हि कोऽप्युषित्वा चिरं पुमान् ।
 गतः क्वाप्यक्षयान्दत्त्वा पुरुषानपञ्च काञ्चनान् ॥110॥
 ततस्तद्विप्रयोगार्ता जीवितं विषवेदनाम् ।
 देहं निष्फलमायास नाहारं चौरयातनाम् ॥111॥
 मन्यमाना गतधृतिः कथंचिदनुजीविभिः ।
 आशवास्यमाना व्यधित प्रतिज्ञां सा मनस्विनी ॥112॥
 यदि षण्मासमध्ये मां न स सम्भावयिष्यति ।
 तन्मयाग्नौ प्रवेष्टव्यं दौर्भाग्योपहतात्मना ॥113॥
 इति बद्धप्रतिज्ञा सा मरणाध्यवसायिनी ।
 ददात्यनुदिनं दानं सुमहत्सुकृतैषिणी ॥114॥

सा च दृष्टा मया देव विशृङ्खलपदस्थितिः ।
 अनाहारकृशेनापि शरीरेणातिशोभिता ॥115॥
 दानतोयार्द्रितकरा मिलितालिकुलाकुला ।
 दुःस्थिता कामकरिणो मदावस्थेव देहिनी ॥116॥
 मन्ये निन्द्यश्च वन्द्यश्च स कामी यो जहाति ताम् ।
 कान्तो येन विना सा च तनुं त्यजति सुन्दरी ॥117॥
 तयात्र मह्यं चत्वारः स्वर्णाः पुरुषबाहवः ।
 चतुर्वेदाय विधिवत्प्रदत्ता वेदसंख्यया ॥118॥
 तत्सुसत्त्रगृहं कृत्वा स्वधर्ममिह सेवितुम् ।
 इच्छामि तत्र देवेन साहाय्यं मे विधीयताम् ॥119॥
 इति तस्य मुखाच्छ्रुत्वा प्रियवार्तां द्विजस्य सः ।
 सद्योऽभूद्विक्रमादित्यस्तदाक्षिप्तमना नृपः ॥120॥
 आदिश्य च प्रतीहारं द्विजस्यास्येष्टसिद्धये ।
 विचिन्त्य दृढरागां च तां तृणीकृतजीविताम् ॥121॥
 प्रतिज्ञासिद्धिसाहाय्ये सहसोत्कः स्वकामिनीम् ।
 गणयित्वाल्पशेषं च तस्या देहव्ययावधिम् ॥122॥
 सत्वरं मन्त्रिनिक्षिप्तराज्यो गत्वा विहायसा ।
 प्रतिष्ठानं स नृपतिः प्रियावेश्म विवेश तत् ॥123॥
 तत्र ज्योत्स्नाच्छवसनां विबुधार्पितवैभवाम् ।
 कृशामपश्यत्कान्तां तां पर्वणीन्दुकलामिव ॥124॥
 सापि नेत्रसुधासारमत्किर्तमुपस्थितम् ।
 दृष्ट्वा मदनमाला तमुद्भ्रान्तेवाभवत्क्षणम् ॥125॥
 आलिङ्गन्ती ततो भूयः पलायनभयादिव ।
 कण्ठे भुजलतापाशमर्पयामास तस्य सा ॥126॥
 किं मामनागसं त्यक्त्वा गतवानसि निष्कृप ।
 इत्युवाच च तं बाष्पघर्घराक्षरया गिरा ॥127॥
 एहि वक्ष्यामि रहसीत्युक्त्वा सोऽभ्यन्तरं रहः ।
 तया सह ययौ राजा परिवाराभिनन्दितः ॥128॥
 तत्रात्मानं प्रकाश्यास्यै स्ववृत्तान्तमवर्णयत् ।
 नरसिंहनृपं युक्त्या जेतुमत्रागमद्यथा ॥129॥

यथा प्रपञ्चबुद्धिं च हत्वा खेचरतां ययौ ।
 यथा वरं धनाध्यक्षात्प्राप्य संव्यभजच्च ताम् ॥130॥
 यथा च ब्राह्मणाद्वार्तां श्रुत्वा तत्रागतः पुनः ।
 तत्सर्वमा प्रतिज्ञार्थादुक्त्वा भूयो जगाद ताम् ॥131॥
 तत्प्रिये नरसिंहोऽयमजेयोऽतिबली बलैः ।
 द्वन्द्वयुद्धेन जयं को हीच्छेत्क्षत्रियो भवन् ॥132॥
 तन्मे प्रतिज्ञासाध्यं यद्बन्दिभिर्द्वारवर्तिनः ।
 आवेदनं नृपस्यास्य तत्र साहायकं कुरु ॥134॥
 एतच्छ्रुत्वैव धन्यास्मीत्युक्त्वा राज्ञामुना सह ।
 संमन्य गणिकाथ स्वानाहूयोवाच बन्दिनः ॥135॥
 नरसिंहो यदा राजा गृहमेष्यति मे तदा ।
 द्वारसंनिहितैर्भाव्यं भवद्भिर्दत्तदृष्टिभिः ॥136॥
 देव भक्तोऽनुरक्तश्च नरसिंहनृपस्त्वयि ।
 इति वाच्यं च युष्माभिस्तस्य प्रविशतो मुहुः ॥137॥
 कः स्थितोऽत्रेति यदि च प्रक्ष्यत्युत्प्रेक्ष्य तत्क्षणम् ।
 स्थितोऽत्र विक्रमादित्य इति वक्तव्य एव सः ॥138॥
 इत्युक्त्वा तान्विसृज्याथ प्रतीहारीं जगाद सा ।
 नरसिंहो न राजात्र निषेध्यः प्रविशन्निति ॥139॥
 एवं कृत्वा पुनः प्राप्तप्राणनाथा यथासुखम् ।
 तस्थौ मदनमाला सा निःसंख्यं ददती वसु ॥140॥
 ततः श्रुत्वातिदानं तत्सौवर्णपुरुषोद्भवम् ।
 नरसिंहनृपो हित्वाप्यागाद्भ्रष्टुं स तद्गृहम् ॥141॥
 प्रतीहारानिषिद्धस्य तस्य प्रविशतोऽत्र च ।
 आ बहिर्द्वारतस्तारमूद्युः सर्वेऽपि बन्दिनः ॥142॥
 नरसिंहो नृपो देव प्रणतो भक्तिमानिति ।
 तच्च शृण्वन्स सामर्षः सशङ्कश्चाभवन्नृपः ॥143॥
 पृष्ट्वा च कः स्थितोऽत्रेति बुद्ध्वा तत्र स्थितं च तम् ।
 राजानं विक्रमादित्यं क्षणमेवमचिन्तयत् ॥144॥
 तदिदं प्राक्प्रतिज्ञातं द्वारि मद्भिनिवेदनम् ।
 निर्व्यूढममुना राज्ञा प्रसह्यान्तः प्रविश्य मे ॥145॥

अहो राजायमोजस्वी येनाद्यैवमहं जितः ।
 न च वध्यो बलेनासावेकाकी मे गृहागतः ॥146 ॥
 तत्तावत्प्रविशामीति नरसिंहो विचिन्त्य सः ।
 विवेशाम्यन्तरं राजा बन्दिवृन्दनिवेदितः ॥147 ॥
 प्रविष्टं तं च दृष्ट्वैव सस्मितं सस्मिताननः ।
 उत्थाय विक्रमादित्यः कण्ठे जग्राह भूपतिम् ॥148 ॥
 अथोपविष्टौ तौ द्वावप्यन्योन्यकुशलं नृपौ ।
 तस्यां मदनमालायां पार्श्वस्थायामपृच्छताम् ॥149 ॥
 कथाक्रमाच्च पप्रच्छ विक्रमादित्यमत्र सः ।
 नरसिंहः कुतोऽत्रेमे सुवर्णपुरुषा इति ॥150 ॥
 ततोऽत्र विक्रमादित्यो निहतश्रमणाधमम् ।
 साधिताकाशगमनं वित्तेश्वरवरेण च ॥151 ॥
 सम्प्राप्ताक्षयसौवर्णमहापुरुषपञ्चकम् ।
 कृत्स्नं कथितवानस्मै स्ववृत्तान्तं तमद्भुतम् ॥152 ॥
 नरसिंहोऽथ मत्वा तं महाशक्तिं नभश्चरम् ।
 अपापबुद्धिं वृतवान्मित्रत्वाय नृपो नृपम् ॥153 ॥
 प्रतिपन्नसुहृत्त्वं च कृताचारविधिं तदा ।
 राजधानीं निजां नीत्वा स्वोपचारैरुपाचरत् ॥154 ॥
 सम्मान्य प्रहितस्तेन राज्ञा च स नृपः पुनः ।
 गृहं मदनमालाया विक्रमादित्य आययौ ॥155 ॥
 अथ स निजौजःप्रतिमासम्पादितदुस्तरप्रतिज्ञार्थः ।
 गन्तुं चकार चेतो निजनगरं विक्रमादित्यः ॥156 ॥
 तेन समं सा जिगमिषुरसहा विरहस्य मदनमालापि ।
 त्यक्ष्यन्ती तं देशं ब्राह्मणसादकृत वसतिं स्वाम् ॥157 ॥
 ततस्तया साकमनन्यचित्तया तदीयहस्त्यश्वपदात्यनुद्भुतः ।
 स विक्रमादित्यनरेन्द्रचन्द्रमा निजं पुरं पाटलिपुत्रकं ययौ ॥158 ॥
 तत्र तेन सह बद्धसौहृदस्तस्थिवानस नरसिंहभूभृता ।
 अन्वितो मदनमालया तया प्रेममुक्तनिजदेशया सुखम् ॥159 ॥
 इति देव भवत्युदारसत्त्वो दृढरक्तश्च विलासिनीजनोऽपि ।
 अवरोधसमो महीपतीनां किमुतान्यः कुलजः पुरन्धिलोकः ॥160 ॥

इत्थं निशम्य मरुभूतिमुखादुदारामेतां कथां स नरवाहनदत्तभूपः ।
 विद्याधरोत्तमकुलप्रभवा च सास्य रत्नप्रभा नववधूर्व्यधित प्रमोदम् ॥161 ॥

AA bfr egkdfolJil kenohkVvfojfrsdFkkI fjRI lxjs
 jRui HkkyEcdsprfKlrj 3Xk9AA

AA dFkI fjRI kxj dsjRui Hkk uked I krosyEcd eapkfkh rj&AA

गोमुखीय कथा से सन्तुष्ट नरवाहनदत्त को देखकर उसकी स्पर्धा से उसे मरुभूति ने कहा— यद्यपि नारियाँ प्रायः चंचल होती हैं परन्तु ऐसा ही नहीं है। वेश्या भी सत्त्वसम्पन्न दिखाई देती हैं तो फिर अन्य की तो बात ही क्या? जिस प्रकार हे देव! यह प्रसिद्ध कथा सुनो— पाटलिपुत्र में विक्रमादित्य नामक राजा था। उसके दो मित्र प्रिय थे—राजा हयपति और राजा गजपति। दोनों के पास बहुत—से हाथी—घोड़े थे। उसका शत्रु प्रचुर पैदल सैनिकों वाला बलवान् और अभिमानी नरसिंह नामक प्रतिष्ठान का राजा था। अपने बल पर गर्व करने वाले विक्रमादित्य ने उस शत्रु से ईर्ष्या करते हुए अचानक यह प्रतिज्ञा कर ली— ‘उस राजा नरपति को इस प्रकार जीत लेना है कि जिस प्रकार बन्दियों—चारणों द्वारा द्वार पर वह मेरा सेवक बनाया जाता है।’ इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वे दोनों मित्र हयपति और गणपति दोनों अपनी हाथी—घोड़ों से युक्त सेनासहित पृथ्वी को विकल करते आ गये। उस राजा नरसिंह पर भीषण आक्रमण करने के लिए वह राजा विक्रमादित्य पूरी सेना के साथ चल दिया।। 1—9।।

जब प्रतिष्ठान के समीप पहुँचा तो यह समाचार पाकर राजा नरसिंह भी सेना तैयार कर उसके सामने निकल पड़ा। तब उन दोनों राजाओं में आश्चर्यजनक युद्ध हुआ। हाथी—घोड़ों के साथ ही पैदल सैनिक युद्ध करने लगे। धीरे—धीरे राजा नरसिंह के करोड़ों संख्या के पैदलों वाली सेना ने उस विक्रमादित्य की सेना को भगा दिया। और विक्रमादित्य पाटलिपुत्र नगर की ओर भाग गया। और उसके मित्र भी भागकर अपने—अपने देश चले गये। राजा नरसिंह ने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर अपनी प्रतिष्ठान

foØekfnR; dFkk, i@219

नगरी में प्रवेश किया। उसके बन्दियों ने उसकी वीरता की स्तुति की। तब उस विक्रमादित्य ने काम असिद्ध होने पर सोचा। शस्त्र से न जीते गये उस शत्रु को बुद्धिबल से जीतना अच्छा है।। 10—15।।

चाहे कोई निन्दा करें परन्तु मेरी प्रतिज्ञा व्यर्थ न जाए— ऐसा सोचकर योग्य मंत्रियों को राज्य सौंपकर गुप्त रूप से नगर में निकलकर एक बुद्धिवर नामक मुख्यमंत्री और श्रेष्ठ राजपुत्रों (राजपूतों) तथा पाँच कुलीन वीरों के साथ वह तीर्थयात्री (कार्पटिक) का वेष धारण कर अपने शत्रु के नगर प्रतिष्ठान में पहुँचा। वहाँ वह मदनमाला नामक विख्यात गणिका के राजमहल जैसे घर पर गया। समुन्नत परकोटे और ऊँचे शिखरों पर लगी पताकाओं द्वारा धीर कोमल समीर द्वारा मानो कोमल पत्ते दिखते हों, ऐसी हिलती पताकाओं द्वारा मानो आह्वान कर रहा हो।। 16—20।।

पूर्व के प्रधान द्वार पर विभिन्न हथियार वाले पैदल रात—दिन छिपे रहते थे। अन्य तीनों दिशाओं में द्वार—द्वार पर मदमत्त दस—दस हजार वीर रक्षा कर रहे थे। प्रतीहार द्वार सूचना भेजकर प्रवेश कर देखा कि कहीं अनेक श्रेष्ठ घोड़ों की कतारें शोभित हो रही हैं, कहीं बँधे हुए हाथियों के बादलों का समूह झूम रहा है। कहीं हथियारों के विस्तार के साथ गम्भीर आकार के लोग गुँथे (जुटे) हैं, कहीं रत्नकांति से चमकते अनेक कोठों वाले घर उजले हो रहे हैं, कहीं सेवकों के समूह से मंडलियाँ हैं, कहीं बन्दीगण ऊँची आवाज में प्रशंसापाठ से कोलाहल कर रहे हैं, कहीं शास्त्रीय संगीत वाले मृदंग की आवाज हो रही है। इस प्रकार विभागों सहित सात कक्षाओं में विभक्त मदनमाला के समुन्नत निवास महल में वह पहुँचा।। 21—27।।

वह मदनमाला विभाग में सप्रयोजन घोड़े आदि का निरीक्षण कर रही थी तब उसने सेवकों से यह सुनकर कि कोई उत्तम छिपा हुआ है यह मानकर सामने जाकर प्रणाम करके अभिलाषा और कौतुक के साथ प्रवेश करवाकर भीतर उस राजा को उचित आसन पर बिठाया। उसके रूप, लावण्य, विनय से लुट गये मन वाले राजा ने उसका स्वयं को प्रकट न करते हुए अभिनन्दन किया। तब मदनमाला ने उसका स्नान, पुष्प, तेल, फुलेल, बहुमूल्य वस्त्र, अलंकारादि से बड़ा सम्मान किया। उसके अनुयायियों को दिन का खर्चा दिया और सचिवों सहित सब का विभिन्न पकवानों से सम्मान

220@foØekfnR; dFkk, j

किया। पान आदि क्रीड़ा करते हुए उसके साथ दिन बिताकर देखकर ही वशीभूत उस गणिका ने स्वयं को उसके लिए अर्पित कर दिया। इसी प्रकार प्रतिदिन सम्मान करती रही। और वह विक्रमादित्य भी वहाँ चक्रवर्ती के समान ठहरा रहा। याचकों को जितना जब तक वह धन देता था— वह देखकर मदनमाला वह सब उसे समर्पित करती रही। उस राजा को वह धन तथा शरीर का उपभोग करने दे रही थी और इसमें स्वयं को कृतार्थ मान रही थी और दूसरे किसी आदमी के लिए वह विमुख हो गयी थी।। 28-36।।

उसके प्रेम में इतनी डूब गयी कि वहाँ आये राजा नरसिंह को भी उसने तरकीब से मना कर दिया। इस प्रकार जब सेवा होती रही तब एक बार साथ के बुद्धिवर मंत्री को एकांत में उस राजा ने कहा— वेश्या को अर्थ से अनुराग होता है, काम से नहीं। उन्हें विधाता ने याचक बनाकर लोभ दिया है। मैं इसके इतने धन का उपभोग कर रहा हूँ। पर अतिस्नेह के कारण विरक्त नहीं हो रही, बल्कि संतुष्ट हो रही है। तो अब इसका बदले में उपकार कैसे करूँ? जिससे मेरी प्रतिज्ञा और इच्छा भी यह क्रमशः पूरी करती रहे।। 37-41।।

यह सुनकर बुद्धिवर मंत्री ने उस राजा से कहा— यदि ऐसा है तो जो बहुमूल्य रत्न आपका प्रपंचबुद्धि भिक्षु लाया है, उनमें से कुछ इसे दे दो। मंत्री के यह कहने पर राजा ने उत्तर दिया— हम वह सब देकर भी उसका भार नहीं उतार सकते। इस बात को मिलाकर इसका अन्य कोई उपादान हो। यह सुनकर वह मंत्री बोला— देव! उस भिक्षु से क्या? उसे बतावें कि उसने आपकी सेवा की है। मंत्री बुद्धिवर ने जब यह राजा को कहा तो राजा ने कहा— सुनो, इसकी एक कथा तुम्हें सुनाता हूँ। पहले मेरे लिए पाटलिपुत्र में प्रवेश करके प्रपंचबुद्धि भिक्षु एक पेट्टी लाया। मैं इसी प्रकार लगातार वर्षभर बिना खोले भण्डारी को देता रहा। एक बार उस भिक्षु ने वह पेट्टी उपहार में दी तो धरती पर गिरने से उसके दो टुकड़े हो गये। उससे एक महारत्न निकला जो अग्नि जैसा चमकदार था। पहले तो उसे देखकर मुझे समझ में नहीं आया। उसे देखकर अन्य पेट्टियों को मँगवाकर और तोड़कर उन सबसे मैंने रत्न प्राप्त किये। तब चकित होकर प्रपंचबुद्धि से मैंने पूछा— “अरे ऐसे रत्नों से मेरी सेवा क्यों कर रहे हो?” तब वहाँ से सबको हटवाकर

उस भिक्षु ने मुझे कहा— आने वाली इस कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात में श्मशान में मुझे कोई विद्या साधनी है तो बाहर वहाँ सहायता के लिए हे वीर! तुम्हारा आगमन चाहता हूँ। वीर की सहायता से सिद्धियाँ निर्विघ्न और सरलता से मिल जाती हैं। उस भिक्षु ने यह कहा तो मैं तैयार हो गया।। 42-55।।

इसके बाद प्रसन्न होकर उसके जाने पर कुछ दिनों के बाद वह कृष्ण—चतुर्दशी आ गयी। तब उस श्रमण की वह बात मुझे याद आ गयी। तब दैनिक धार्मिक कृत्य करके साँझ की प्रतीक्षा करते हुए संध्याविधिपूर्ण की और भाग्य से तत्काल मुझे नींद आ गयी। उसी समय गरुड पर बैठे भक्तवत्सल भगवान् हरि ने, जिनकी गोद में कमल चिह्न था, स्वप्न में मुझे यह आदेश दिया। “यह प्रपंचबुद्धि नाम जैसा ही प्रपंची है। हे पुत्र! श्मशान की मंडलपूजा में ले जाकर यह तेरा उपहार (बलि) दे देगा। वह तुझे मारना चाहता है। अतः वह जो कहे वह मत करना। कहना कि तुम पहले करके दिखाओ, तब करूँगा। वह जब वैसा करे तो उसके मार्ग से ही उसी समय तू उसे मार डालना तो उसे मिलने वाली सिद्धियाँ तुझे मिल जाएँगी।” यह कहकर विष्णु के अन्तर्धान होने पर मैं जाग गया और सोचने लगा— विष्णु की कृपा से मैंने उस मायावी को जान लिया। यह सोचकर रात के पहले प्रहर बीतने पर हाथ में तलवार लेकर अकेला मैं उस श्मशान में गया। वहाँ जाकर देखा कि भिक्षु ने मण्डल की पूजा की। उसने भी देखकर मेरा अभिनन्दन करते हुए मुझे उस शव ने कहा— “आँखें बन्द कर शरीर फैलाकर नीचा मुख करके गिर जा। हे राजन्! इस प्रकार हम दोनों की सिद्धि और ऋद्धि होगी।” तब मैंने उसे उत्तर दिया— “तू ही पहले करके बता और सिखा। तब मैं वैसा करूँगा।” यह सुनकर वह मूर्ख श्रमण(साधु) धरती पर गिर गया। तब मैंने तलवार के प्रहार से उसका सिर काट डाला। (ऐसी ही कथा वेतालपंचविंशति में भी है, कथासरित्सागर—12/32। लेखक ने विक्रमादित्य और विक्रमादित्य के बाद के श्री विक्रमसेन की एकता बताकर उज्जैन के विक्रमादित्य से पाटलिपुत्र के विक्रमादित्य को परवर्ती बता दिया है।) तब अन्तरिक्ष से वाणी सुनाई दी— “साधु राजन्! कि तूने इस पापी भिक्षु को उपहार बना दिया। यह जो साधना चाहता था वह आकाश गति तुझे सिद्ध हो गयी। मैं मनमानी यात्रा करने वाला कुबेर तेरे धैर्य से

प्रसन्न हूँ। इसलिए हमसे अन्य जो चाहो वरदान माँग लो।” यह कहकर वह प्रकट हुआ तो मैंने प्रणाम कर उसे यह कहा— “मैं उपयुक्त वरदान तुमसे चाहता हूँ कि जब भी मैं चाहूँ तब उपस्थित होकर दे दोगे।” “ऐसा ही हो हो” —यह मुझे कहकर वह कुबेर लुप्त हो गया। सिद्धि प्राप्त कर मैं तेजी से अपने भवन में गया। इस प्रकार मैंने तुझे अपनी कुबेर के वरदान की बात बताई। इसलिए इस मदनमाला के उपकार का बदला मुझे चुकाना चाहिए।। 56—73।।

इसलिए हे बुद्धिवर! तू पाटलिपुत्र जा। छिपे वेश में राजपुत्र समूह को भी ले जा। और मैं भी प्रिया के उपकार का बदला तत्काल चुकाकर वहीं आता हूँ।” उस राजा विक्रमादित्य ने सचिव को इस प्रकार कहकर दैनिक पूजा करके उसे साथियों सहित रवाना कर दिया। “ठीक है” —यह कहकर उसके जाने पर राजा वह रात बिताकर मदनमाला से होने वाले वियोग की उत्कंठा के साथ, वह भी दूर होने की बात मन से कहती हुई उत्कंठित होकर आलिंगन करती रही। उसे रात में नींद नहीं आयी।। 74—78।।

तब प्रातःकाल में उस राजा ने आवश्यक कामकाज करके प्रतिदिन देव के आराधना घर में जप के बहाने प्रवेश किया। वहाँ कुबेर देव को याद किया तो उपस्थित हुआ। उससे पहले कहे अनुसार प्रणाम कर वर माँगा। हे देव! मैंने जो चाहा था वह वर आज दे दीजिए। पाँच महान् अक्षय सुवर्ण पुरुष उनके इष्ट उपभोग के लिए काटने पर भी लगातार वैसे ही अंग पुनः—पुनः उत्पन्न होते जाएँ। “ऐसा ही हो। जैसी तेरी इच्छा है उस रूप के पुरुष हो जाएँ।” —यह कहकर वह कुबेर पलभर में लुप्त हो गया। राजा ने भी उसी क्षण उस देवालय में उन पाँच सुवर्ण पुरुषों को देखा। तब प्रवेश के बाद निकला, अपनी प्रतिज्ञा को न भूलते हुए आकाश में उड़ता हुआ पाटलिपुत्र नगर में पहुँच गया।। 79—85।।

वहाँ अमात्यों, नागरिकों और रनिवास ने उसका अभिनंदन किया। वह वहाँ प्रतिष्ठान को ध्यान में रखते हुए काम करने लगा। तब तक वहाँ प्रतिष्ठान में उसकी उस प्रिया ने प्रवेश किया कि देवालय में उस प्रिय को प्रवेश किये बहुत देर हो गयी, उसे देखने के लिए। प्रवेश किया तो राजा कहीं दिखाई नहीं दिया। बल्कि बड़े—बड़े पाँच सुवर्ण पुरुष दिखाई दिये। उन्हें देखकर

और राजा को न पाकर उसने सोचा— निश्चय ही मेरा प्रिय या तो विद्याधर है अथवा गन्धर्व है। जो मुझे इन पुरुषों में बाँट कर उड़कर आकाश में चला गया। तो उससे बिछुड़कर इन भार जैसों का क्या करूँ? यह सोचकर अपने सेवक को बार—बार पूछा, वह जहाँ आता—जाता था वहाँ निकलकर भटकती रही सब दूर। महल, घर, उद्यान कहीं भी उसका मन नहीं लगा। वियोग से दुखी होकर रोती हुई वह शरीर त्यागने को तैयार हो गयी।। 86—92।।

तब सेवक उसे आश्वासन देते हुए ये वाक्य कहने लगे— “हे देवि! परेशान मत होओ। वह तो कोई कामचर था। वह देव अपनी इच्छा से फिर आप भव्या के पास आ जाएगा।” इस प्रकार किसी तरह आश्वासन दिये जाने पर उसने यह प्रतिज्ञा की। “छह माह में यदि वह मुझे दर्शन नहीं देगा तो सब कुछ देकर मैं अग्नि में प्रवेश (कथासरित्सागर, तापस वत्सराज, विक्रांतशूद्रक सहित कितनी ही प्राचीन पुस्तकों में अग्निप्रवेश कर आत्महत्या के प्रयास की चर्चा की गयी है।) कर लूँगी।” इस प्रकार प्रतिज्ञा करके उसने स्वयं को रोका। प्रिय का स्मरण करती हुई वह प्रतिदिन दान देने लगी। एक बार उन पुरुषों में से एक की दोनों भुजाएँ काटकर उस केवल दान करने वाली ने ब्राह्मणों को दे दी। दूसरे दिन उसने देखा कि वे दोनों भुजाएँ तो वैसी की वैसी हैं। रात में दोनों भुजाएँ उत्पन्न हो गयीं तो वह चकित रह गयी।। 93—98।।

तब क्रमशः अन्य पुरुषों की भुजाएँ भी उसने काट डालीं। उन सबकी उसी प्रकार भुजाएँ उत्पन्न हो गयीं। उन्हें अक्षय देखकर अध्ययनशील ब्राह्मणों को वेद की संख्या अर्थात् चार भुजाएँ काटकर उसने दे दीं। थोड़े ही दिनों में दिशा—दिशा में सुन—सुनकर उसकी प्रसिद्धि हो गयी। तो पाटलिपुत्र से संग्रामदत्त नामक ब्राह्मण वहाँ आया। चारों वेदों का ज्ञाता वह दरिद्र पर गुणी उसके पास दान लेने पहुँचा और द्वारपाल को निवेदन किया। उसने उसे वेदों की संख्या के बराबर भुजाएँ दे दीं। अर्चना के लिए व्रत से दुर्बल अंग विरह में पीले पड़ गये थे उसके। तब उसके दुखी परिवार से उसका विवरण और अत्यन्त घोर प्रतिज्ञा पूरी सुनकर वह प्रसन्न विप्र दुखी हुआ। उन भुजाओं को दो ऊँट पर रखकर वह पाटलिपुत्र में अपने घर चला गया। सोने की राजा रक्षा नहीं करे तो शुभ नहीं होगा— यह सोचकर उस ब्राह्मण

ने राजसभा में जाकर राजा विक्रमादित्य से कहा— हे महाराजा! मैं इसी नगर का निवासी ब्राह्मण हूँ। दरिद्र होने से धन के लिए मैं दक्षिणापथ में राजा नरसिंह के प्रतिष्ठान नगर में पहुँच गया। दान लेने की इच्छा से वहाँ के विख्यात यशस्वी मदनमाला गणिका के घर चला गया। उसके पास बहुत समय तक रहकर कोई दिव्य आदमी स्वर्ण के पाँच अक्षय पुरुष देकर चला गया।। 99—110।।

तब उसके वियोग से व्यथित जीवन को विषवेदना मानकर आहार न करती हुई जोर की यातना भोगती हुई देह को निष्फल कर रही है। उसका धीरज समाप्त हो गया। सेवक लोग उसे किसी तरह मनाते रहते हैं। आश्वासन मिलने पर उस मानिनी ने प्रतिज्ञा कर ली— यदि छह माह में वह नहीं मिलेगा तो दुर्भाग्य की मारी मैं अग्नि में प्रवेश कर लूँगी। इस प्रकार प्रतिज्ञा से बँधी वह मृत्यु का प्रयास करती महापुण्य की इच्छा से प्रतिदिन बहुत दान देती है। हे देव! मैंने उसे लड़खड़ाते पैरों से देखा। बिना भोजन के शरीर दुबला होने पर भी शरीर से वह अत्यंत सुन्दर है। दान के जल से गीले हाथों वाली अपनी सखियों से मिलकर भी व्याकुल रहती है। काम के गज की मदावस्था के समान उस शरीरधारिणी की दुर्दशा है। मुझे लगता है कि वह वन्दनायोग्य कान्त कामी निन्दनीय है जिसने उसे त्याग दिया। जिसके बिना वह सुन्दरी शरीर त्याग रही है। उसने चतुर्वेदी होने से मुझे स्वर्ण पुरुष की वेद की संख्या की चार भुजाएँ विधिवत् प्रदान कीं। तो यज्ञादि वाला मेरा घर है। अपने धर्म का मैं पालन करता रहूँ इसलिए चाहता हूँ कि आप मेरी सहायता करें।। 111—119।।

उस ब्राह्मण के मुख से यह प्रिया की बात सुनकर राजा विक्रमादित्य का मन तत्काल उसमें चला गया और प्रतीहार को आदेश दिया कि ब्राह्मण जैसा चाहे वैसा कर दो। और गहन अनुराग के कारण जीवन को तिनका बना देने वाली उस गणिका के बारे में सोचने लगा। प्रतिज्ञासिद्धि में उसका सहयोग और अपनी कामिनी का अचानक देह समाप्त करने की अवधि थोड़ी रहना आदि। मन्त्रियों पर राज्यभार डालकर जल्दी से आकाशमार्ग से प्रतिष्ठान जाकर वह राजा प्रिया के उस घर में गया।। 120—123।।

वहाँ चाँदनी जैसे स्वच्छ कपड़ों वाली, देवों या विद्वानों को वैभव अर्पित कर

देने वाली, पर्व की चन्द्रकला के समान दुर्बल कान्ता को देखा और अपने नयनों के अमृत का सार, अचानक उपस्थित उसे देखकर मदनमाला पलभर के लिए चकरा गयी। तब बार—बार आलिंगन करती हुई, फिर चले जाने के डर से मानो उसने उसके गले में भुजलता का पाश डाल दिया।। 124—126।।

अरे निर्दयी! बिना अपराध के ही चले गये? आँसू और घरघराती आवाज में उसने यह कहा। “आ एकांत में कहता हूँ” —यह कहकर भीतर एकांत में वह राजा उसके साथ गया जहाँ परिवार ने उसका अभिनंदन किया। वहाँ अपने को प्रकट कर उसने अपना विवरण बताया कि राजा नरसिंह को युक्ति से जीतने के लिए यहाँ आया है। जिस प्रकार प्रपंचबुद्धि को मारकर आकाशगति प्राप्त की, जिस प्रकार कुबेर से वर प्राप्त कर वियोग हुआ, चले गये। जिस प्रकार ब्राह्मण से सारी बात सुनकर फिर वहाँ आ गया। यह सब प्रतिज्ञा के लिए। यह कहकर उसे फिर से कहा।। 126—131।।

इसलिए हे प्रिये! यह नरसिंह सेना तो बहुत बलवान् है, अजेय है। इसलिए मुझे इसके साथ द्वन्द्वयुद्ध लड़ना चाहिए। भूचर या गगनचर होकर इसे मैं नहीं मारता। अधर्मयुद्ध से कौन क्षत्रिय विजय पाना चाहता है? इसलिए मेरी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए द्वार के बन्दी लोग इस राजा को बताकर मेरी सहायता करे। यह सुनकर “मैं धन्य हुई” यह कहकर इस राजा के साथ विचार—विमर्श कर गणिका ने अपने बन्दियों को बुलाकर कहा— “राजा नरसिंह जब मेरे घर आए तब द्वार पर रहते हुए आप लोग नजर रखें।” हे देव! तुझ पर नरसिंह राजा भक्त और अनुरक्त है— यह आप लोग कहें, जब वह प्रवेश करे तो यह बार—बार कहें। उस समय देखकर यदि वह यह पूछे कि यहाँ कौन है? तो उसे यही कहें कि यहाँ विक्रमादित्य है।” यह कहकर उन्हें रवाना करके प्रतीहारी से उसने कहा— “राजा नरसिंह को प्रवेश करते समय रोका नहीं जाए।” यह करके पुनः प्राणनाथ पायी वह मदनमाला सुख से रहने लगी, अपार धन देती हुई।। 132—140।।

उस सुवर्ण पुरुष से उत्पन्न अतिदान के विषय में सुनकर वह नरसिंह राजा उसके घर देखने के लिए आया। प्रवेश करते समय प्रतीहार ने टोका नहीं और बाहरी द्वार से ही सब बन्दी गण ऊँचे स्वर में कहने लगे— “राजा नरसिंह भक्तिपूर्वक प्रणाम करता है।” यह सुनते हुए वह राजा ईर्ष्या—

क्रोध सहित आशंकित हो गया। यह पूछकर कि यहाँ कौन है? और यह जानकर कि वहाँ राजा विक्रमादित्य है— पल भर वह यह सोचने लगा— पहले तो द्वार पर मेरे निवेदन को ज्ञात किया। इस राजा ने मुझे भीतर प्रवेश करवाकर सत्य प्रमाणित कर दिया। अरे यह राजा तो बड़ा ओजस्वी है। यह सेना द्वारा मारने योग्य नहीं है। मेरे घर यह अकेला आया है।। 141—146।।

तो फिर प्रवेश करता हूँ। राजा नरसिंह यह सोचकर बन्दीसमूह द्वारा निवेदन के साथ भीतर प्रविष्ट हुआ। उसे प्रविष्ट देखते ही मुस्कुराते हुए राजा को मुस्कुराते विक्रमादित्य ने उठकर कण्ठ से लगा लिया। तब दोनों एक—दूसरे की कुशल पूछते हुए राजा बैठ गये। गणिका पास में बैठी रही। बातचीत में उस नरसिंह ने विक्रमादित्य को पूछा यहाँ ये सुवर्ण पुरुष कहाँ से आये? तब विक्रमादित्य ने अधम श्रमण का वध, आकाशयात्रा की सिद्धि और कुबेर के वरदान से अक्षय पाँच सुवर्ण महापुरुष की प्राप्ति आदि अपनी सब अद्भुत बातें उसे बता दीं। तब नरसिंह ने उसे आकाशचारी महाशक्ति माना और माना कि उसके विचारों में पाप नहीं है तो उस राजा ने विक्रमादित्य को मित्रता के लिए अपना लिया। मित्रता निभायी, सदाचार के नियम का पालन किया। अपनी राजधानी (राजमहल) ले जाकर औपचारिकता निभाई। राजा ने उसे सम्मान देकर वापस भेजा तो मदनमाला के घर विक्रमादित्य आ गया।। 147—155।।

इसके बाद अपने ओज की प्रतिमा को पूरा कर लिया, दुर्गम प्रतिज्ञा के लिए तब विक्रमादित्य ने अपने नगर लौटने का विचार किया। विरह सह न पाने से मदनमाला भी उसके साथ जाने को तैयार हो गयी कि उस देश को छोड़ती हुई और अपना घर ब्राह्मण को देती हुई। तब उस मदनमाला के साथ राजा विक्रमादित्य (यह विक्रमादित्य उज्जैन के राजा से भिन्न उसी नाम का पाटलिपुत्र का राजा है। यह उल्लेखनीय है कि कथासरित्सागर के अनुसार उज्जैन के प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य के समय विक्रम नामक अन्य भी राजा या व्यक्ति थे। स्वयं उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के सेनापति का नाम भी विक्रमादित्य था। जो अपने नाम को सार्थक करता था।) पाटलिपुत्र चला गया, अपनी नगरी। वह जो राजाओं में चन्द्रमा है, उसके साथ, जिसका उसमें ही मन लग गया था वह गणिका अपने हाथी, घोड़े, पैदल

साथ ले गयी। तब नरसिंह राजा के साथ मित्रता निभाते हुए मदनमाला के साथ वह आ गया। वह मदनमाला जिसने प्रेम के लिए अपने देश का सुख त्याग दिया। इस प्रकार हे देव! विलासिनी नारियाँ गणिकाएँ भी ऊँचे चरित्र की, दृढ़ अनुराग वाली राजाओं की गृहवधू के समान होती हैं, फिर अन्य कुलवती नारियों की तो बात ही क्या?

इस प्रकार मरुभूति के मुख से इस उदार कथा को सुनकर वह नरवाहनदत्त राजा और विद्याधर के उत्तम कुल में उत्पन्न रत्नप्रभा नववधू के साथ बढ़ते आनंद के साथ रहने लगा।। 155—161।।

AA egkdf0 Jhl kəno HkVV fojfpR dFkl fjRI kxj ds
jRuÁHkyæd eapKfh rjæ iwkAA

i f j f ' k " V & 3

c g R d F k k e ' t j h

AA enue ' p p k u k e | l r e y E c d s f o Ø e f l g k [; k f ; d k ½ p r f k h / AA

अस्ति गौरीव नगरी चन्द्रचूडस्य वल्लभा ।
श्रीमत्युज्जयिनी नाम जननी जनसंपदाम् ।।63 ।।
तस्यां विक्रमसिंहोऽभूद्भूमिपालो महाबलः ।
निःशेषविजितारतिर्यस्य युद्धे मनोरथः ।।64 ।।
दर्पकण्डूलदोर्दण्डं तं युद्धगतमानसम् ।
उवाचामरगुप्ताख्यः कदाचिन्मन्त्रिपुंगवः ।।65 ।।
देव बाणाऽसुरः पूर्वं सहस्रभुजदुर्मदः ।
ययाचे त्रिपुरारतिं योद्धा में दीयतामिति ।।66 ।।
ततो नियुद्धसंबन्धयुद्धसंनद्धचेतसा ।
माधवेन निकृतास्य चक्रेण भुजमण्डली ।।67 ।।
अभिमानोऽवमानाय दृप्तानामिह भूभुजाम् ।
युद्धप्रतिनिधिर्देव मृगयास्ति नृपोचिता ।।68 ।।
मुनीनां प्रातिकूल्येन प्रमादाद्वरवाजिनाम् ।
राज्ञामतिप्रसङ्गाच्च मृगया दुःखदायिनी ।
तस्मान्मृगरणक्रीडां भज व्यसनवर्जितः ।।69 ।।
इति मन्त्रिगिरा राजा सानुगः प्रययौ वनम् ।
कुञ्जरक्रोडशरभट्टीपिकेसरिसंकुलम् ।।70 ।।
ततः कृतश्रमोऽभ्येत्य लीलाहतवनेचरः ।
विनिवृत्तो ददर्शाग्रे कथासक्तौ मिथो नरो ।।71 ।।

foØekfnR; dFkk, i@229

एकान्ते चिरसंलापो तौ दृष्ट्वा शङ्कितौ नृपः ।
चौराविति तदाह्वाने प्रतीहारमचोदयत् ।।72 ।।
प्रतीहारसमाहूतौ सर्वास्थानं महीपतेः ।
ततस्तौ ब्राह्मणौ प्रातः प्रविष्टौ भयकम्पितौ ।।73 ।।
दत्ताभये नरपतौ स्ववृत्तं कथ्यतामिति ।
तयोरेकोऽब्रवीद्राजन्श्रूयतां नौ विचेष्टितम् ।।74 ।।
पितृभ्यां विप्रयुक्तोऽहं बालो विप्रः पुरा नृप ।
नियुद्धशस्त्रकुशलो द्यूतकृद्दुर्मदोऽभवम् ।।75 ।।
याति काले नवोद्वाहामपश्यं पथि योषितम् ।
युग्याधिरूढां प्रत्यग्रमङ्गलाबद्धकङ्कणाम् ।।76 ।।
अत्रान्तरे महावेगः स्फोटितालानशृङ्खलः ।
तां विवाहमहावाद्यकुपितः कुञ्जरोऽभ्ययात् ।।77 ।।
त्यक्त्वा तां द्विरदत्रासात्प्रयातेष्वनुयायिषु ।
गजो जिघृक्षुस्तां प्राप मुखाब्जां नलिनीमिव ।।78 ।।
दृष्ट्वाहमतिकारुण्यान्नादेनाहूय वारणम् ।
वञ्चयित्वा श्रमाभ्यासाद्विह्वलां ताममोचयम् ।।79 ।।
तस्मान्महाभयान्मुक्ता सावदन्मां सुलोचना ।
वल्लभस्वं जनस्यास्य प्राणानामधुना विभुः ।।80 ।।
त्यक्तास्मि येन संत्रासाद्धिग्धितं कातरं नरम् ।
नाहं संदूषिता तेन न च स्पृक्षयामि तं जडम् ।
प्रच्छन्नानुगतस्त्वं मामचिरात्समवाप्स्यसि ।।81 ।।
इति मे संविदं कृत्वा संगता स्वजनेन सा ।
ययौ भर्तृगृहं तन्वी मय्येवार्पितमानसा ।।82 ।।
तामेवानुप्रयातोऽहं प्रेमपाशवशीकृतः ।
प्रच्छन्नवृत्तिर्बद्धाशः शून्यदेवगृहे स्थितः ।।83 ।।
तत्रापश्यमिमं विप्रमहं प्रच्छन्नकामुकम् ।
तस्या भर्तुः स्वसुगूढरूढरागैकभाजनम् ।।84 ।।
अनेन जातसौहार्द्रस्ततस्तां कामिनीमहम् ।
कृत्वा गूढमयं प्राप्तस्तापनिर्वापणौषधिम् ।।85 ।।
जामिं च तस्याः प्राप्यायं सुहृन्मे निर्वृतोऽभवत् ।
तदर्थं देव संलापः शून्येऽभूच्चिरमावयोः ।।86 ।।

230@foØekfnR; dFkk, i

श्रुत्वेति तद्वचो राजा तुष्टः सत्यनिवेदनात् ।
ताभ्यां वसु ददौ को हि सद्भावेन न तुष्यति ।। 87 ।।
इत्येवं सत्त्वसारेण प्राप्ता कान्ता द्विजन्मना ।
क्लीबेन सत्त्वहीनेन कातरेण तु हारिता ।। 88 ।।

AA bfr foØefl gk[; kf; dk AA 4AA

AA enue ˆppk uked I kroayEcd eafoØefl g
uked vk[; kf; dk %pkFkh%AA

चन्द्रचूड शिवजी की गौरी के समान प्रिय श्रीसम्पन्न उज्जयिनी नगरी है जो समस्त-सम्पदाओं की जननी है ।। 63 ।।

उसमें महाबली राजा विक्रमसिंह हुआ । उसने युद्ध में समस्त शत्रुओं को और मनोरथ को भी जीत लिया था । गर्व से युद्ध करने का मन होने से उसके हाथों में खुजली चलने लगी । तब किसी समय अमरगुप्त नामक श्रेष्ठ मंत्री बोला— हे देव! प्राचीन काल में सहस्र भुजाओं वाले परमवीर बाण नामक असुर ने शिवजी से याचना की कि मुझसे लड़ने के लिए योद्धा दीजिए । तब युद्ध में निरत मन से माधव कृष्ण ने उसकी समस्त भुजाएँ चक्र से काट डालीं । गर्वित राजाओं का अभिमान अपमान के लिए होता है । इसलिए हे देव! राजा के लिए युद्ध का प्रतिनिधि आखेट होता है मुनियों के विरोध से, श्रेष्ठ अश्वों के प्रमाद से अतिरेक होने पर राजाओं के लिए आखेट भी दुखद होता है । इसलिए पशुओं की रणक्रीडा ही करें । उसमें व्यसन नहीं होता । मन्त्री की यह बात मानकर राजा सहचरों के साथ वन में गया । हाथी, वराह, शरभ (स्याहगोश) बाघ, सिंह से भरा था वह वन ।। 64–70 ।।

तब परिश्रम कर खेल में आहत वन में विचरण से लौट आने पर सामने देखा कि दो आपस में बात कर रहे हैं । एकान्त में बहुत देर से बात करते उन्हें देखकर राजा को शंका हुई । चोर हैं ये दोनों— ऐसा मानकर प्रतीहारी को उन्हें बुलाने भेजा । प्रतीहारी द्वारा बुलाने पर राजा की सार्वजनिक सभा में भय से काँपते वे दोनों ब्राह्मण पहुँचे । राजा ने अभयदान देकर उनका विवरण पूछा तो उनमें से एक बोला—हमारी गतिविधि सुनिये । हे राजन्!

foØekfnR; dFkk, ;@231

232@foØekfnR; dFkk, ;

पहले कभी बचपन में ही मैं माता-पिता से बिछुड़ गया। तब युद्ध में शस्त्र कुशल, जुए में अजेय हो गया।। 71-75।।

समय बीतने पर मार्ग में नवविवाहिता नारी को मैंने देखा। वह वाहन पर बैठी थी और ताजा ताजा मंगल कंगन बाँध रखा था उसने। इसी बीच विवाह के बड़े बाजों की ध्वनि से क्रोधित खूँटे से साँकल तुड़ाकर बड़ी तेजी से भागता हुआ हाथी आ गया। हाथी के डर से उस स्त्री को छोड़कर सब साथी भाग गये। हाथी मुखकमल सूँघता हुआ दुल्हन के पास पहुँच गया मानो कमलिनी के पास गया हो। यह देखकर बड़ी करुण ध्वनि से चिल्लाकर निरंतर श्रम से थकी उस बाला को मैंने छुड़ाया। उस महाभय से मुक्त होकर उस सुलोचना ने मुझसे कहा- हे स्वामी इन प्राणों के अब आप ही स्वामी हैं। उस परेशानी में जिसने मुझे छोड़ दिया उस कायर मनुष्य को धिक्कार है। उसने मुझे दूषित नहीं किया है और न मैंने उस जड़मति को छुआ है। तुम छिपकर मेरे पीछे आओ तो शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लोगे। मुझसे यह वादा करके वह स्वजनों के साथ अपने पतिगृह चली गयी। पर उसने मन मुझे दे दिया था। उसके प्रेम के पाश से वशीभूत होकर आशा से बँधा छिपते हुए एक सूने देवालय में ठहर गया। वहाँ मैंने इस छिपे कामी विप्र को देखा। यह उस वधू के पति की बहन का एक मात्र प्रेमपात्र था। इसके साथ मित्रता हो गयी तो उस कामिनी को मैंने छिपाकर प्राप्त कर लिया जो मेरे ताप दूर करने की औषधि थी। यह मेरा मित्र उसके पति की बहन (ननद) को पाकर सन्तुष्ट हो गया। हे देव! उस सूने देवालय में हम दोनों में इसीलिए बातचीत हो रही थी। यह सत्य बात सुनकर राजा उससे सन्तुष्ट हो गया और उन्हें धन दिया। सद्भाव से कौन सन्तुष्ट नहीं होता? इस प्रकार अपने शौर्य से ब्राह्मण ने कान्ता प्राप्त की और कायर अशक्त ने अपनी कान्ता का अपहरण करवा दिया।।76-88।।

AA foØefl g vk[; kf; dk I Ei wkAA 4AA

foØekfnR; dFkk, j@233

i f j f ' k ' V & 4

c g R d F k k e ' t j h

AA p r m z k y E c d s j R u i k k ; k e & e n u e k y k [; k f ; d k A A

अनेकतुरगोदारकुञ्जरानीकसंकुलः।
विक्रमादित्यनामाभूत्रुपः पाटलिपुत्रके।।246।।
प्रतिष्ठानाधिनाथेन नरसिंहेन भूभुजा।
जितः प्रतिज्ञां विदधे स वीरस्तत्पराजये।।247।।
रुद्धप्रवेशं मे द्वारि सूच्यमानं पुरःसरैः।
द्रक्ष्यन्ति सेवकाः सर्वे नरसिंहं न संशयः।। 248।।
प्रतिज्ञायेति स ययौ तत्पुरं वेषयोषितः।
गूढं कार्पटिको भूत्वा राजपुत्रशतैर्वृतः।।249।।
गृहं मदनमालायाः प्राप्य राजामृतोपमः।
रममाणस्तया तस्थौ (तत्काञ्चनकृतव्ययः।।250।।
अयं कोऽपि महासत्त्वः पृथिवीपालनोचितः।
ध्रुवमित्यनिशं ध्यात्वा सा तस्थौ) तत्प्रियव्रता।।251।।
प्रददौ नित्यमर्थिभ्यः स सुवर्णशतायुतम्।
विद्यासु गुरुणा नूनं नकारं न हि शिक्षितः।।252।।
ततो मदनमालायास्तां भक्तिं गणयन्मुहुः।
प्राह बुद्धिवरं नाम मन्त्रिणं वसुधाधिपः।।253।।
अकृत्रिममहो प्रेम धनत्यागो निरर्गलः।
निर्विकारमहो सत्त्वमस्यास्तरलचक्षुषः।।254।।
शरीरविक्रयो यासां हेतुर्द्रविणसंचये।
(मया तदर्थाः क्षपिताः पश्य प्रेम्णो विजृम्भितम्।।255।।

234@foØekfnR; dFkk, j

प्रत्यहं दिव्यरत्नेन श्रमणेनास्मि सेवितः ।
 प्रपञ्चबुद्धिमापूर्वं मन्त्रसाचिव्यसिद्धये) ।।256 ।।
 तथेति प्रतिपन्नोऽहं मुक्तः स्वप्नेऽसुरारिणा ।
 यागे त्वामेष पशुतां श्रमणो नेतुमुद्यतः ।।257 ।।
 हन्तुं पापो वक्ष्यति त्वां प्रणतिः क्रियतामिति ।
 त्वं दर्शयेति वाच्योऽसौ त्वया तद्वधसिद्धये ।।258 ।।
 तस्मिन्हते व्योमगतिर्भवितासीति शासनम् ।
 स्वप्ने भगवतः प्राप्य तदकार्षं यथोदितम् ।।259 ।।
 ततः प्रभृति मे जातः कुबेरो वरदः सखा ।
 तद्धनैः पूरयाम्येनामद्य वारविलासिनीम् ।।260 ।।
 इत्युक्त्वा धनदं ध्यात्वा सुवर्णपुरुषान्ददौ ।
 पञ्च तस्मै सदा येषां छिन्नमङ्गं प्रजायते ।।261 ।।
 तान्दत्त्वा व्योमगो गूढं स निजं नगरं ययौ ।
 तद्वियोगाग्नितप्ता च सा तस्थौ निधनोद्यता ।। 262 ।।
 छित्त्वा तान्बहुशो दत्त्वा द्विजेभ्यः काञ्चनान्नरान् ।
 षण्मासानवधिं चक्रे प्राणत्यागे प्रियं विना ।। 263 ।।
 (अत्रान्तरे तत्कनकपूर्णाञ्जात्वा द्विजन्मनः) ।
 भक्तिं मदनमालाया भूपतिः पुनराययौ ।। 264 ।।
 चिरं संगमसंतोषप्रत्युज्जीवितया तया ।
 रममाणश्चिरं तस्थौ स राजा गुप्तमन्दिरे ।। 265 ।।
 नरसिंहोऽपि नृपतिस्तां पूर्वपरिसेविताम् ।
 वाराङ्गनां समभ्यायात्ततः स्मृत्वा स्मरातुरः ।। 266 ।।
 द्वारपालेन विधृतो नाम्ना तेनैव सूचितः ।
 (विक्रमादित्यदेवोऽत्र तिष्ठति ब्रुवतेत्यतिः) ।। 267 ।।
 ततः प्रतिज्ञासाफल्यं मेने राजान्तरं स्थितः ।
 मनोरथार्थमुत्तीर्य सौहार्दं तेन भूभुजा ।। 268 ।।
 विधाय विक्रमादित्यस्तां निनाय निजां पुरीम् ।
 (इति देव मृगाक्षीणां सहजप्रेमशालिनी ।
 कुलेऽपि पण्यनारीणां भक्तिरव्यभिचारिणी ।। 269 ।।

AA bfr enuekyk[; kf; dkAA 6AA

foØekfnR; dFkk, ;@235

AA jRui Hkk uked pKngosyEcd ea
enukyk vk[; kf; dkAA

अनेक घोड़े और प्रचुर गजसेना से सम्पन्न विक्रमादित्य नामक राजा पाटलिपुत्र में हुआ। प्रतिष्ठान के राजा नरसिंह ने उसे पराजित कर दिया। अतः उस वीर ने उसे पराजित करने की प्रतिज्ञा की। मेरे द्वार में नरसिंह के प्रवेश को सूचना देने पर भी रोक देंगे और देखते रहेंगे। इसमें संदेह नहीं। यह प्रतिज्ञा करके उसकी नगरी प्रतिष्ठानपुर में वह राजा छिपकर कार्पटिक (यात्री) बनकर सौ राजपूतों के साथ वेश्या के घर गया। वह मदनमाला वेश्या के महल जैसे घर पहुँचकर उसके साथ लीला करते हुए ठहरा रहा। उसका खर्चा भी वही झेल रही थी। यह कोई राजा जैसा बड़ा आदमी है सदा यही सोचते हुए सदा प्रियव्रता बनकर रहने लगी। वह याचकों को सदा सैकड़ों—हजारों स्वर्ण देता था। विद्याओं में वह गुरु था। उसने मना करना तो सीखा ही नहीं था। तब मदनमाला की उस भक्ति को मान देते हुए राजा ने मन्त्री बुद्धिवर से कहा— इसका प्रेम बनावटी नहीं है कि यह बेरोक धन का त्याग कर रही है। इस चंचलनयना का मन निर्विकार है। धन एकत्र करने के लिए जो शरीर बेचती है। वही धन मेरे लिए बर्बाद कर रही है। इसके प्रेम का विस्तार तो देखो। प्रतिदिन गोपन मंत्रित्व की सिद्धि के लिए प्रपञ्च बुद्धि को आरंभ से ही श्रमण द्वारा सेवा करवा रहा हूँ। ठीक है—यह मुझे राक्षसों के शत्रु ने स्वप्न में कहा। यह श्रमण यज्ञ में तेरी पशु (के समान) बलि देना चाहता है। मारने के लिए यह पापी तुझे कहेगा— प्रणाम करो। तू प्रणाम करके बता —यह उसे मारकर सिद्धि पाने के लिए तू कहना। उसके मारे जाने पर आकाशगति हो जाएगी तेरी। स्वप्न में भगवान्

236@foØekfnR; dFkk, ;

ने जो कहा वैसा किया। तब से कुबेर मेरा वरदाता मित्र हो गया। उसके धन से अब इस गणिका की धनपूर्ति कर रहा हूँ। यह कहकर कुबेर का ध्यान कर पाँच सुवर्ण पुरुष दिये। उनके अंग काटने पर फिर उत्पन्न हो जाते हैं।। 246–261।।

वे देकर वह छिपकर अपने (पाटलिपुत्र) नगर चला गया। उसके वियोग की आग में तपती हुई वह मरने को तैयार हो गयी। उन सुवर्ण पुरुषों को काटकर वह ब्राह्मण लोगों को बहुत धन देने लगी। उसने प्रिय के बिना प्राणत्याग की अवधि छह माह तय की। इसी बीच उन्हें स्वर्ण से परिपूर्ण हो जाने की बात ब्राह्मण से मदनमाला की भक्ति जानकर राजा फिर आया। चिरकाल बाद मिलन के संतोष से उस गणिका ने पुनर्जीवन प्राप्त कर लिया। उसके साथ रमते हुए राजा चिरकाल तक उसके रहस्यमय भवन में छिपा रहा। राजा नरसिंह भी उसका पहले सेवन कर चुका था। उसकी याद आने पर कामातुर वह राजा उस गणिका के पास गया। द्वारपाल ने नाम पूछकर सूचना दी कि यहाँ विक्रमादित्य देव ठहरा हुआ है। तब भीतर राजा ने अपनी प्रतिज्ञा को सफल माना कि दूसरा राजा प्रतीक्षा में खड़ा है। उस राजा से मनोरथ पूरा होने से विक्रमादित्य ने मित्रता कर ली और उस गणिका को अपनी नगरी ले गया। इस प्रकार हे देव! गणिकाओं के कुल में भी सहज प्रेमशालिनी मृगनयनी होती हैं जिनकी भक्ति निश्चल और निरपेक्ष होती है।। 247–269।।

AA enuekyk vk[; kf; dk I Ei wKZAA

i f j f ' k ' V & 5

dFkk eayEcckadk rgyukØe

½dFkkI fjRI kxj , oacgRdFkke ˆtjh dsI UnHkZe½

dFkkI fjRI kxj

cgRdFkke ˆtjh

01.	कथापीठम्	01.	कथापीठारख्य प्रथमलम्बकारम्भः
02.	कथामुखम्	02.	कथामुखम्
03.	लावाणकः	03.	लावानकः
04.	नरवाहनदत्तजननम्	04.	नरवाहनजन्म
05.	चतुर्दारिकाख्यानम्	05.	चतुर्दारिका
06.	मदनमञ्चुकाख्यानम्	06.	सूर्यप्रभा
07.	रत्नप्रभाख्यानम्	07.	मदनमञ्चुका
08.	सूर्यप्रभाख्यानम्	08.	वेला
09.	अलङ्कारवतीकथा	09.	शशाङ्कवती
10.	शक्तियशोवृत्तम्	10.	विषमशीलः
11.	वेलाख्यानम्	11.	मदिरावती
12.	शशाङ्कवतीवृत्तम्	12.	पद्मावती
13.	मदिरावतीवृत्तम्	13.	पञ्च
14.	पञ्चलम्बकाख्यानम्	14.	रत्नप्रभा
15.	महाभिषेकः	15.	अलङ्कारवती
16.	सुरतमञ्जरीकथा	16.	शक्तियशः
17.	पद्मावतीचरितम्	17.	महाभिषेकः
18.	विषमशीलनृपतिकथा	18.	सुरतमञ्जरी

इस प्रकार परिवर्तित लम्बक-क्रम निम्नानुसार है-

dfkl fjRI lxj	cgrdFkke ˆtjh
01	01
02	02
03	03
04	04
05	05
06	07
07	14
08	06
09	15
10	16
11	08
12	09
13	11
14	13
15	17
16	18
17	12
18	10

—00—